प्रकाशक :
खरतरगच्छीय श्री जिनरंगसूरिजी का उपाश्रय
व्यवस्थापक श्रीमाल सभा,
घी वालों का रास्ता, जयपुर-3 (राजस्थान)

सन् १९७५ महावीर नि० सं० २५०१ वि० सं०२०३२

मूल्य १५.००

मुद्रक :
वैशाली प्रिन्टिंग प्रेस
घी वालों का रास्ता जयपुर 3

कवीश्वर आचार्य जिनवल्लभसूरि
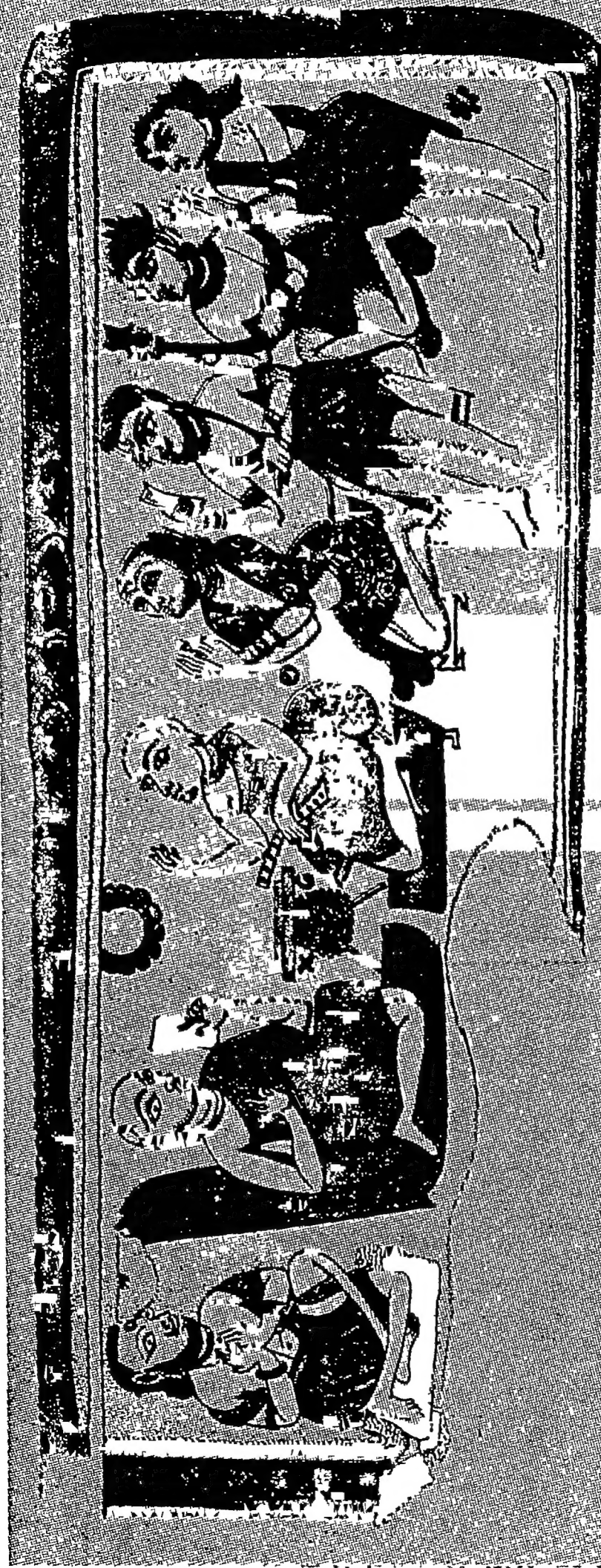
(जैसलमेर भाण्डागारीय प्राचीन ताडपत्रीय प्रति के काष्ठफलक पर चित्रित चित्र के आधार से)

लेखक के दो शब्द

युगप्रधान प्रगट प्रभावी दादा जिनदत्तसूरिजी महाराज ने स्वरचित गणधर सार्द्ध-शतक, चर्चरी, सुगुरुपारतन्त्र्य स्तोत्र, श्रुतस्तव आदि ग्रन्थो मे जिन युगप्रवर श्रीजिनवल्लभसूरि के क्रान्तिकारी विचार-सरणि का प्रतिपादन और उनके अगाध गुणगौरव का मुक्तकण्ठ से यशोगान करके अपनी वाणी और लेखिनी को कृतार्थ किया है, उन्ही स्वनामधन्य, रससिद्ध-कवीश्वर, प्रवर-आगमज्ञ, प्रवल क्रान्तिकारी, युगश्रेष्ठ, विधिपक्षप्रवर्त्तक, खरतरगच्छ-मुकुटमणि जैनाचार्य श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रस्तुत 'वल्लभ-भारती' नामक पुस्तक है।

जिनवल्लभसूरि के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन होने के कारण ही मैंने इस पुस्तक का नाम 'वल्लभ-भारती' रखा है। यह पुस्तक दो खण्डो मे विभक्त है। प्रथम खण्ड में आचार्यश्री का जीवन-चरित्र, आक्षेप परिहार, आचार्य द्वारा रचित साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन और जिनवल्लभीय साहित्य की परम्परा का आलेखन है। द्वितीय खण्ड में जिनवल्लभसूरि रचित, वर्तमान समय मे प्राप्त समग्र साहित्य का पाठभेद एवं टिप्पण के साथ मूल पाठ का सम्पादन है।

इस वल्लभ भारती का कार्य मैंने सन् १९५२ मे आरम्भ किया था। सन् १९६० में श्रद्धेय डॉ० फतहसिंहजी एम. ए, डी लिट् के निर्देशन मे दोनो खण्डो का कार्य पूर्ण होने पर हिन्दी विश्वविद्यालय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) प्रयाग की उच्चतम परीक्षा 'साहित्य महोपाध्याय' के लिये मैने इस ग्रन्थ को शोध-प्रबन्ध के रूप मे भेज दिया था। शोध-प्रबन्ध के रूप मे यह पुस्तक स्वीकृत हुई और सन् १९६१ मे सम्मेलन द्वारा मुझे 'साहित्य महोपाध्याय' उपाधि प्राप्त हुई।

सन् १९६१ से १९७५ के अन्तराल मे कवि निर्मित अष्टसप्तति, स्वप्नसप्तति, चतुर्विंशतिजिनस्तुति आदि नवीन कृतिया भी मुझे प्राप्त हुईं। इन नवीन कृतियो के आधार पर इस प्रथम खण्ड मे मैंने यत्र तत्र संशोधन एव परिष्कार भी किया है।

सन् १९६२ मे द्वितीय खण्ड के प्रकाशन का कार्य भी मैंने प्रारम्भ करवाया था। मूल-ग्रन्थो के १६० पृष्ठ भी मुद्रित हो चुके थे। फिर भी संयोगवश आगे मुद्रण न होने से वह आज तक प्रकाशित न हो सका। आज इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड को प्रकाशित होते देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

आगमोद्धार ग्रथ :

जिनवल्लभसूरि रचित 'आगमोद्धार' नामक ग्रन्थ को अनुपलब्ध मानते हुये भी प्रस्तुत पुस्तक के पृ० ८७ की टिप्पणी मे मैंने लिखा है कि 'श्री अगरचंदजी नाहटा की

सूचनानुसार स्वप्न-सप्ततिका और आगमोद्धार एक ही ग्रन्थ है।' किन्तु जिनपालोपाध्याय ने चर्चरी पद्य ३३ की टीका करते हुये लिखा है:

> "यत उक्तं श्रीजिनवल्लभसूरिभिरागमोद्धारे—
> ओसन्ना चिय तत्थेव इत्तीं चेइयवंदणा।
> जेसि निरवाइ तं भवण सड्ढाईहिं वि कारियं॥ "

जिनपालोध्याय उद्धृत आगमोद्धार की यह गाथा स्वप्न-सप्तति मे प्राप्त नही है। अत. स्वप्नसप्तति और आगमोद्धार दोनों पृथक्-पृथक् ग्रन्थ हैं और आगमोद्धार ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है।

आभार:

मूल ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतियां संकलन करने, समीक्षात्मक अध्ययन लिखने, विचार-विमर्श करने आदि मे आगम प्रभाकर मुनिपुंगव स्व० श्री पुण्यविजयजी महाराज, स्व० आशुकवि उपाध्याय श्री लब्धिमुनिजी म०, स्व० अनुयोगाचार्य श्री बुद्धिमुनिजी म०, स्व० श्री रमणीकविजयजी महाराज, श्रद्धेय डॉ० फतहसिंहजी, श्री अगरचदजी नाहटा, श्री भंवरलालजी नाहटा, डॉ० श्री वद्रीप्रसाद पंचोली आदि विद्वानो का मुझे समय समय पर सहयोग तथा परामर्श प्राप्त होता रहा। अत: इन सव का मैं उपकृत हूँ। साथ ही जिन लेखको की कृतियों का मैंने इस ग्रन्थ मे उपयोग किया हैं उन लेखको का भी मैं कृतज्ञ हूँ।

खरतरगच्छीया साध्वीश्रेष्ठा विदुषी श्री विनयश्रीजी महाराज का ११ जनवरी सन् १९७४ को जयपुर मे स्वर्गवास हुआ। उन्ही की स्मृति मे श्री खरतरगच्छीय श्री जिनरंग-सूरिजी गद्दी का उपाश्रय, व्यवस्थापक श्रीमाल सभा, जयपुर की ओर से इस वल्लभ-भारती के प्रथम खण्ड का प्रकाशन हो रहा है। इस प्रकाशन कार्य में श्रीमाल सभा जयपुर के सदस्यगण श्री लालचन्द्रजी वैराठी, श्री राजरूपजी टांक, श्री छुट्टनलालजी वैराठी, एवं भाई श्री राजेन्द्रकुमारजी श्रीमाल का अथक-परिश्रम एव अवर्णनीय सहयोग रहा है तथा मुनिराज श्री जयानन्दमुनिजी म० की सतत प्रेरणा रही है अत: इन सव का एव विशेपत. श्रीमालसभा जयपुर का मैं हृदय से आभारी हूँ।

अन्त मे, मेरे परमपूज्य गुरुदेव खरतरगच्छालङ्कार गीतार्थ-प्रवर आचार्यश्रेष्ठ स्व० श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज के वरद आशीर्वाद का ही प्रताप है कि मेरे जैसा अज्ञ व्यक्ति जिनवल्लभसूरि जैसे युगप्रवरागम आचार्य पर प्रस्तुत पुस्तक लिख सका। काश! आज वे विद्यमान होते और मेरी इस कृति 'वल्लभ-भारती' को देखते तो न जाने उन्हे कितना हर्ष होता!

चैत्र शुक्ला १ सं० २०३२
महावीर निर्वाण सवत् २५०१
जयपुर

म० विनयसागर

प्रकाशकीय

'वल्लभ-भारती' प्रथम खण्ड प्रकाशित करते हुए अति प्रसन्नता अनुभव हो रही है। परमपूज्या विदुषी साध्वी श्री विनयश्रीजी के अन्तिम दाह-सस्कार के समय ही यहा के श्री सघ ने आपकी स्मृति मे यह ग्रन्थ छपवाने का निर्णय किया था। उसी निर्णयानुसार श्री विनयश्रीजी महाराज की स्मृति मे आचार्य श्री जिनरगसूरिजी के उपाश्रय से यह ग्रथ प्रकाशित हो रहा है।

इस ग्रंथ के लेखक महोपाध्याय विनयसागरजी हैं जो कि जैन-साहित्य के जाने-माने विद्वान् हैं। यह गौरव की बात है कि विनयसागरजी की इस पुस्तक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग जो कि हमारे देश का श्रेष्ठतम हिन्दी विश्वविद्यालय है ने अपनी उच्चतम परीक्षा के लिये शोध-प्रबन्ध के रूप मे स्वीकार कर, इन्हे साहित्य महोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित किया है। महोपाध्याय श्री विनयसागरजी ने अपना जीवन जैन-साहित्य के अन्वेषण, लेखन, प्रकाशन मे लगा रखा है। आचार्य श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज से प्रेरणा लेकर उन्होने सतत अध्ययन की ओर उन्मुख होते हुए निरतर ज्ञानोपार्जन किया। इनके द्वारा लिखित एव सम्पादित वृत्तमौक्तिक, सनत्कुमारचक्रिचरित महाकाव्य, खडप्रशस्ति, नेमिदूतम्, अरजिनस्तव आदि १६ पुस्तके विभिन्न सस्थाओ से प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमे से नेमिदूतम् राजस्थान विश्वविद्यालय के M A सस्कृत पाठ्यक्रम मे और वृत्तमौक्तिक जोधपुर विश्वविद्यालय के M A सस्कृत पाठ्यक्रम मे रह चुकी हैं। अतः जिस प्रतिभा, मेहनत व विद्वत्ता से इन्होंने प्रस्तुत शोधपूर्ण इतिहास लिखा है, वे बधाई के पात्र हैं।

खरतरगच्छीय परपरा के सर्वप्रथम महानाचार्य जिनेश्वरसूरि जिन्होने गुजरात के नरेश दुर्लभराज के समक्ष अणहिलपुर पाटण मे पञ्चासरीय पार्श्वनाथ भगवान् के बडे मन्दिर मे १०६६–७८ के मध्य मे स्थानीय ८४ मठपतियो (चैत्यवासी) को शास्त्रार्थ मे हराकर खरतर विरुद प्राप्त किया। आपके गुणो से प्रसन्न होकर दुर्लभराज ने कहा, "इस कलिकाल मे कठिन और 'खरे' चरित्रनायक साधु आप ही हैं।" तभी से उनका समुदाय खरतरगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स० ११६८ मे रचित देवभद्रसूरि कृत पार्श्वनाथ चरित्र की प्रशस्ति मे (जैसलमेर भडार मे ताडपत्रीय ग्रन्थाक २६५) और स० ११७० की लिखित पट्टावली मे जिनेश्वरसूरि को खरतर विरुद मिलने का स्पष्ट उल्लेख है। उन्ही के पाट पर विराजने वाले आचार्य जिनचन्द्रसूरि हुए जिनको अष्टादश नाममाला का पाठ तथा अर्थ सब अच्छी तरह कठस्थ थे, उन्होने अठारह हजार श्लोक वाली 'सवेग रगशाला' की स० ११२५ मे रचना की। यह ग्रन्थ भव्यजीवो के लिये मोक्ष रूपी महल का सोपान है। उनके पाट पर पदासीन होने वाले स्थभन पार्श्वनाथ प्रभु की सातिशय प्रतिमा प्रगट करने वाले खरतरगच्छाचार्य जिनअभयदेवसूरि हुये, जिन्होने नवागो की टीका के अतिरिक्त पचाशक वृत्ति, उववाई वृत्ति, प्रज्ञापना तृतीय पद सग्रहणी, षट्स्थान भाष्य, आराधना कुलक, आगम अष्टोतरी आदि अनेक ग्रन्थो की व 'जयतिहुयण' आदि स्तोत्रो की रचना की।

उन्हीं के पाट पर विराजने वाले आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि हुये, जो कि सब विद्याओ के पारदर्शी, शास्त्र ज्ञान के भडार व अनेक सिद्धान्तो के ज्ञाता थे। जिनेन्द्र मत प्रचारक श्री हरिभद्रसूरि के अनेकान्तजयपताका आदि ग्रन्थो के अभिज्ञ थे। षट् दर्शन, कन्दली, किरणावली, न्याय, तर्क तथा पाणिनि आदि आठो व्याकरण के सूत्र इनको कठस्थ थे। चौरासी नाटक, सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र,

पाच महाकाव्य, अन्य काव्य तथा जयदेव प्रभृति कवियो द्वारा रचित छन्द-शास्त्र के वे विशेष मर्मज्ञ थे। पिण्डविशुद्धि प्रकरण, षडशीति कर्मग्रन्थ, सघपट्टक, सूक्ष्मार्थ-विचारसार, पोपधविधि प्रकरण, धर्म-शिक्षा, द्वादश कुलक, प्रश्नोत्तर शतक, प्रतिक्रमण समाचारी, अष्टसप्ततिका, शृङ्गार शतक आदि अनेक ग्रन्थो व स्तोत्रो की रचना आपने की, इनसे आपका प्रकाड विद्वान् होना भली भाँति सिद्ध है। इन्ही के पट्ट पर युगप्रधान दादा श्री जिनदत्तसूरिजी महाराज हुए हैं। जिनकी सब सम्प्रदाय वाले पूर्ण श्रद्धा व भक्ति से अर्चना व पूजा करते हैं। इन्होने एक लाख तीस हजार नूतन जैनी बनाए एव स्वहस्त से १५०० साधुओ को दीक्षित किया था।

मुनि श्री जिनविजयजी ने खरतरगच्छ के सम्बन्ध मे जो भावोद्गार प्रगट किये है उनका अश नीचे दिया जा रहा है -

"खरतरगच्छ मे अनेक बडे-बडे प्रभावशाली आचार्य, बडे बडे विद्यानिधि उपाध्याय, बडे-बडे प्रतिभाशाली पडित, मुनि और बडे-बडे यान्त्रिक, तान्त्रिक, ज्योतिर्विद, वैद्यक विशारद आदि कर्मठ यतिजन हुए जिन्होने अपने समाज की उन्नति, प्रगति और प्रतिष्ठा के बढाने मे बडा योग दिया है। सामाजिक और साम्प्रदायिक उत्कर्ष के सिवा खरतरगच्छ के अनुयायियो ने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश एव देश्य भाषा के साहित्य को भी समृद्ध करने मे असाधारण उद्यम किया और इसके फलस्वरूप आज हमे भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयो का निरूपण करने वाली छोटी-बडी हजारो ग्रथ कृतिया जैन भडारो में उपलब्ध हो रही है। खरतरगच्छीय विद्वानो की यह उपासना न केवल जैन धर्म की दृष्टि से ही महत्व वाली है अपितु समूचे भारतीय सस्कृति के गौरव की दृष्टि से भी उतनी ही महत्ता रखती है।

साहित्योपासना की दृष्टि से खरतरगच्छ के विद्वान् यति, मुनि बडे उदारचेता मालूम देते हैं। इस विषय मे उनकी उपासना का क्षेत्र केवल अपने धर्म या समुदाय की वाड से बधा नही है। वे जैन और जैनेतर वाड्मय का समान भाव से अध्ययन अध्यापन करते रहे है।"

जिस देश समाज अथवा धर्म को जीवित रखना है तो दो चीजो की पूरी देख-रेख, सुव्यवस्था व रक्षा करनी पडेगी। (१) हमारा खडहरो का वैभव अर्थात् प्रतिमाए, शिलालेख आदि (२) हमारा जीवित साहित्य जिसमे हमारे भोज, ताडपत्र, हस्तलिखित व छपे हुए ग्रथ आदि। परन्तु दु ख के साथ लिखना पडता है कि हम जिनकी अर्चना, पूजा, सेवा और भक्ति करते हैं उनकी अमूल्य कृतियो और उनके अप्रतिम चरित्रो को जानने की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। हम यह भी जानने की कोशिश नही करते कि हमारे आराध्य देवो व पूज्यवर आचार्यों ने ससार को जो अतुलनीय दान दिया वह क्या है? यह जाति के मरणोन्मुखता का ही द्योतक है। वास्तव मे इन अमूल्य निधियो की सुरक्षा सुव्यवस्था व सदुपयोग होना बहुत जरूरी है। हमारे समाज का गौरव और महत्व तभी ठीक से प्रकाश मे आ सकेगा जब हम उसके सग्रह व इतिहास की खोज करें। धर्म मे रुचि रखने वाले अन्य सभी महानुभावो से प्रार्थना करूँगा कि वे इस ग्रन्थ को पढकर, मनन करके हमे प्रोत्साहित करें ताकि भविष्य मे इस तरह के शोधपूर्ण साहित्य व इतिहास के प्रकाशन की की ओर हम अग्रसरित हो सकें।

शात एव मृदुल स्वभावी परमपूज्य श्री साम्यानन्दजी मुनि व जयानन्दजी मुनि म० सा० एवं साध्वी श्री कल्याणश्रीजी का मार्गदर्शन भी हमे बराबर मिलता रहा है। आशा है आप मुनिजन भविष्य मे भी ऐसे शोधपूर्ण जैन साहित्य के प्रकाशन की प्रेरणा देते रहेगे।

अन्त मे, मैं उन सभी महानुभावो का आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ को छपवाने मे सहयोग दिया है।

राजेन्द्रकुमार श्रीमाल

सद्धर्मोपदेशिका विदुषी जैनार्या श्री विनयश्रीजी महाराज

जन्म–पौष
कृष्णा १०
स १९४८
लोहावट

दीक्षा–पौष
शुक्ला १२
स १९६१
खीचन

स्वर्गवास माघ वदि ३ स २०३० जयपुर

सद्धर्मोपदेशिका विदुषी जैनार्या श्री विनयश्रीजी महाराज

जन्म–पौष कृष्णा १० स १९४८ लोहावट

दीक्षा–पौष शुक्ला १२ स १९६१ खीचन

स्वर्गवास माघ वदि ३ स २०३० जयपुर

विदुषी साध्वीरत्न श्री विनयश्रीजी महाराज

सद्धर्मोपदेशिका परमविदुषी साध्वीश्रेष्ठा श्री विनयश्रीजी महाराज का जयपुर की जैन समाज से, वर्षों से घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। इनके व्यक्तित्व एव सुमधुर उपदेशो से यहां की समाज ने वहुत कुछ प्राप्त किया है। रुग्णता और वार्धक्य के कारण ३५ वर्ष से भी अधिक इनकी जयपुर मे स्थिरता रही। इस दीर्घकाल मे यहा का समाज इनसे सर्वदा ही लाभान्वित होता रहा। अपनी विनयशीलता और लघुता के कारण आपने अपने जीवन-वृत्त पर कभी प्रकाश नही डाला। यत्र-तत्र विखरी हुई सामग्री के आधार पर आपके जीवन-चरित्र की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार प्राप्त होती है।

लोहावट निवासी श्री रतनचदजी लूणिया की आप पुत्री थी। आपका जन्म वि० सं० १६४८ पौष वदि १० को हुआ था। माता-पिता ने गुणानुरूप आपका नाम वीरावाई रखा था। ११ वर्ष की वाल्यावस्था मे ही आपके पिता श्री रतनचदजी ने आपका विवाह खीचन निवासी श्री माणकलालजी वोथरा के साथ कर दिया था। किन्तु दैव दुर्विपाक से विवाह के कुछ महीनो पश्चात् ही श्री माणकलालजी का स्वर्गवास हो गया और १२ वर्ष की अल्पायु मे ही वीरावाई का सौभाग्य-सिन्दूर पोछ दिया गया। वीरा वैधव्य-जीवन व्यतीत करने लगी।

सयोगवश उसी वर्ष खरतरगच्छीया स्वनामधन्या श्री पुण्यश्रीजी म० की शिष्याये खीचन पधारी। उनके उपदेशामृत से वीरावाई का हृदय वैराग्य-रग से रग गया। स० १६६१ पौष सुदि १२ को खीचन मे श्री स्वर्णश्रीजी म० के वरद कर-कमलो से दीक्षित होकर वीरावाई विनयश्री के नाम से प्रवर्त्तिनी श्री पुण्यश्रीजी म० की शिष्या वनी।

दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् विनयश्रीजी ने बडे मनोयोग से सिद्धान्तकौमुदी, भट्टिकाव्य, रघुवशादि महाकाव्य, रत्नकरावतारिकादि दार्शनिक ग्रन्थ और जैनागमो, प्रकरणो तथा साहित्य-ग्रन्थो का विशेष अध्ययन किया। विदुषी वनी, प्रवचनकार वनी। आपका विचरण प्राय: कच्छ, सौराष्ट्र, गुजरात, उत्तरप्रदेश और राजस्थान प्रदेश मे रहा है। विहार करते हुये अपने सुमधुर एवं प्रभावशाली उपदेशो से स्थान-स्थान पर कई विशिष्ट धर्मकार्य करवाये। हाथरस मे दादावाडी और सिकन्दरावाद मे मंदिर तथा स्कूल की स्थापना, टोंक मे मदिर का जीर्णोद्धार, हाथरस मे ज्ञान भडार, तथा जयपुर शिवजीराम भवन मे आयबिल खाते की स्थापना आदि विशेष कार्य आपही के प्रयत्नो से हुये थे।

आप केवल व्याख्यानदाता ही नही थी अपितु लेखिनी की भी धनी थी। उपासकदशा सूत्र का मूल और टीका का हिन्दी अनुवाद तथा युगादिदेशना का हिन्दी अनुवाद भी आपने

किया। संस्कृत मे पुण्यश्री अष्टक की रचना भी आपने की थी। सज्झाय संग्रह और पंच प्रतिक्रमण सूत्र का सपादन भी आपने किया था।

श्री समर्थश्रीजी, श्री विचित्रश्रीजी, श्री वीरश्रीजी, विजयश्रीजी, विशालश्रीजी आदि कई आपकी शिष्याये बनी किन्तु सब ही शिष्याओ का आपकी उपस्थिति मे ही स्वर्गवास हो गया था।

अपनी निजी पुस्तको का संग्रह भी आपने जयपुर के समाज को सौंप दिया था।

असातावेदनीय कर्मों के कारण आपके कई बार बडे-बडे आपरेशन भी हुये। रुग्णता और शारीरिक अस्वस्थतावश आपने जयपुर मे स्थिरवास स्वीकार कर लिया था रुग्णता की अवस्था मे आपकी सेवा-शुश्रूषा श्रीमती इन्द्रबाई श्रीश्रीमाल जो आपकी सेवा मे ४० वर्ष से रह रही थी, ने जिस लगन और आत्मीयता के साथ की, वह अभूतपूर्व थी।

वि० सं० २०३० माघ वदि ३ दिनांक ११ जनवरी १९७४ को ८२ वर्ष की अवस्था मे आपका जयपुर मे स्वर्गवास हो गया। जयपुर के जैन समाज ने अन्तिम क्रिया बड़े ठाठ-बाठ से की। इस समय का सारा व्यय श्रीमती इन्द्रबाई ने करके अपनी असाधारण गुरु-भक्ति का परिचय दिया था। आत्म-शान्ति निमित्त जयपुर के समाज ने अष्टाह्निका महोत्सव, शान्तिस्नात्र का भी आयोजन किया था।

अन्तिम सस्कार के समय ही यहां के श्री सघ ने आपकी स्मृति में प्रस्तुत 'वल्लभ-भारती' ग्रन्थ छपाने का निर्णय लिया था। स्वर्गीया श्री विनयश्रीजी म० की स्मृति में यह ग्रन्थ प्रकाशित कर जयपुर की "श्रीमाल सभा" अपने को सौभाग्यशाली समझती है और महाराजश्री के चरणो मे श्रद्धाजली अर्पित करती है।

जयपुर

लालचन्द वैराठी
१४-४-७५

किया। संस्कृत मे पुण्यश्री अष्टक की रचना भी आपने की थी। सज्झाय संग्रह और पंच प्रतिक्रमण सूत्र का संपादन भी आपने किया था।

श्री समर्थश्रीजी, श्री विचित्रश्रीजी, श्री वीरश्रीजी, विजयश्रीजी, विशालश्रीजी आदि कई आपकी शिष्याये बनी किन्तु सब ही शिष्याओं का आपकी उपस्थिति में ही स्वर्गवास हो गया था।

अपनी निजी पुस्तकों का संग्रह भी आपने जयपुर के समाज को सौंप दिया था।

असातावेदनीय कर्मों के कारण आपके कई बार बड़े-बड़े आपरेशन भी हुये। रुग्णता और शारीरिक अस्वस्थतावश आपने जयपुर मे स्थिरवास स्वीकार कर लिया था रुग्णता की अवस्था मे आपकी सेवा-शुश्रूषा श्रीमती इन्द्रबाई श्रीश्रीमाल जो आपकी सेवा मे ४० वर्ष से रह रही थी, ने जिस लगन और आत्मीयता के साथ की, वह अभूतपूर्व थी।

वि० सं० २०३० माघ वदि ३ दिनांक ११ जनवरी १९७४ को ८२ वर्ष की अवस्था मे आपका जयपुर मे स्वर्गवास हो गया। जयपुर के जैन समाज ने अन्तिम क्रिया बड़े ठाठ-बाठ से की। इस समय का सारा व्यय श्रीमती इन्द्रबाई ने करके अपनी असाधारण गुरु-भक्ति का परिचय दिया था। आत्म-शान्ति निमित्त जयपुर के समाज ने अष्टाह्निका महोत्सव, शान्तिस्नात्र का भी आयोजन किया था।

अन्तिम संस्कार के समय ही यहा के श्री संघ ने आपकी स्मृति में प्रस्तुत 'वल्लभ-भारती' ग्रन्थ छपाने का निर्णय लिया था। स्वर्गीया श्री विनयश्रीजी म० की स्मृति मे यह ग्रन्थ प्रकाशित कर जयपुर की "श्रीमाल सभा" अपने को सौभाग्यशाली समझती है और महाराजश्री के चरणो मे श्रद्धाजली अर्पित करती है।

जयपुर

लालचन्द वैराठी
१४-४-७५

9 10 11 12 13 14 15 16

19

20

21

22

17

18

25
26
27
28
23
24

31

32

33

34

29

30

36
35
37
39
38
येरता
नमते
कालिदा
कविना
दनदा
41
40

चित्रकाव्य परिचय

श्री जिनवल्लभसूरि प्रणीत ६ ग्रन्थो के ४२ चित्र-काव्यो की ६ प्लेटें प्रस्तुत पुस्तक मे दी गई हैं। किस ग्रन्थ का चित्र-काव्य किस प्लेट मे और कौन से क्रमाक पर है ? जानकारी हेतु वर्गीकरण कर रहा हूँ

ग्रन्थ का नाम	प्लेट सख्या	चित्र सख्या
(१) स्तम्मन पार्श्वनाथ स्तोत्र	१	१, ६, ७, ८
(चित्रकाव्यमय)	२	६, ११
	६	३५, ३७
(२) चित्रकूटीय वीर-चैत्य प्रशस्ति	३	१७
(३) धर्मशिक्षा प्रकरण	४	२३
	३	१८
(४) सघपट्टक प्रकरण	४	२४
(५) स्तम्मन पार्श्वनाथ स्तोत्र (चक्राष्टक)	५	२६, ३०
(६) प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत काव्य	१	२, ३, ४, ५
	२	१०, १२, १३, १४, १५, १६
	३	१६, २०, २१, २२
	४	२५, २६, २७, २८
	५	३१, ३२, ३३, ३४
	६	३६, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२

ग्रन्थानुसार चित्रकाव्यों का परिचय निम्नलिखित है—

१ स्तम्भन पार्श्व .ाथ स्तोत्र (चित्रकाव्यमय) इस स्तोत्र में शक्ति, शूल, शर, मुसल, हल, वज्र, खड्ग और धनुष ८ चित्रकाव्यो का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक चित्रकाव्य मे गुम्फित श्लोक चित्र सख्यानुसार निम्नाकित हैं .

चित्र स० १. वज्रबन्ध

नमन्द वचसाऽमास्त ध्वस्तासुग गतव्रज ।
जगत्तवागमासारोद्भूतमज्जज्जन जिन ॥७॥

चित्र स० ६ प्रवासहासिबन्ध

नमस्कारस्तवाक्षोमयनामालि सन्नूनिन ।
नमेन्द्रराजवानायत्यनल्पनयजल्पक ॥८॥

चित्र सं० ७. त्रिशूलबन्ध

नगौघ स्थिरसलाभकाङ्क्षी जिन जितश्रम ।
मदनो नोदमस्याद–दद्यादस्तवमस्तव ॥ ३ ॥

चित्र स० ८. शरबन्ध

नश्यन्ति तत्क्षणादेव स्मृत्वा तव ततस्तव ।
ववपापादपापास्तः सद्यो वचननिश्चितन् ॥ ४ ॥

चित्र सं० ९ धनुर्बन्ध

नमन्त जिन भावेन भवालीमलनाशक ।
कल्याणेषु सदा सर्वा समुत्ये मान्यशासन ॥६॥

चित्र स० ११. हलबन्ध

न स पार्श्व भवाराते. कृते क्षोभं स साध्वस ।
समेति य करोत्यन्तस्था सत्कुल सुशीलज ॥६॥

चित्र स० ३५. शक्तिबन्ध

नमल्लोकतटेभवि वचो वृजिन वामन ।
नमस्ते भवभीदमारंभाय नयनक्षम ॥२॥

चित्र स० ३७ मुसलबन्ध —

नयन पार्श्वं भवभी सर्वावाल्लघुशाश्वत ।
तन्द्रालूनभवावाम भीमभक्त्वाजिनाहन ॥४॥

× × × × ×

चित्र संख्या १७, २३, १८, २४, २९ ३० छहों षडारकबन्ध चक्रकाव्य हैं। इन चक्रकाव्यों में अक्षरों को स्थापन करने की पद्धति इस प्रकार है —

चक्र मे ६ आरक (आरे) हैं, मध्य में नाभि है और आरकों के ऊपर गोलाकार चक्र है। पहले आरक में श्लोक के प्रथम चरण के २ से ९ अक्षर और चौथे आरक मे इसी प्रथम चरण के ११ से १८ अर्थात् आठ-आठ अक्षर लिखे जाते हैं। इसी प्रकार दूसरे और पांचवें आरक मे द्वितीय चरण के एव तीसरे तथा छठे आरक मे तृतीय चरण के २ से ९ और ११ से १८ अर्थात् आठ आठ अक्षर क्रमश लिखे जाते हैं। मध्य नाभि भाग मे प्रथम द्वितीय तृतीय चरणों का १०वां अक्षर स्थापित किया जाता है जो कि प्रारम्भ के तीनों ही चरणों में १०वा अक्षर नियमानुसार एक ही होता है, अर्थात् इस अक्षर की त्रिरावृत्ति होती है। ऊपर के गोलाकार चक्र (हाल, में आरक से सलग्न छह स्थान हैं। इसने से प्रारम्भ की १–२–३ तीनो सिराओं मे तीनों चरणों के प्रथम अक्षर और शेप ४–५–६ सिराओं में तीनो चरणों के अन्तिम अक्षर क्रमश स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार तीनों चरणों के आद्यन्ताक्षर की द्विरावृत्ति होती है और केवल तृतीय चरण के अन्तिमाक्षर की पढने मे त्रिरावृत्ति होती है। चक्र मे शेप स्थानो के मध्य मे छहों रिक्त स्थानो पर चतुर्थ चरण के दो–दो अक्षर क्रमश २-३; ५-६, ८-९; ११-१२, १४-१५, १७-१८; अक्षर स्थापित किये जाते हैं। चतुर्थ चरण के १, ४, ७, १०, १३, १६ और १९वा अक्षर जो सात अक्षर शेप हैं वे नियमानुसार प्रारम्भ के तीनो चरणों के आद्यन्ताक्षर होते हैं। अर्थात् प्रथम द्वितीय तृतीय चरण का प्रथमाक्षर जो होता है वही नियमित रूप से चतुर्थ चरण मे ४, ७, १०वा अक्षर

होता है और इस प्रकार उक्त तीनो चरणों का अन्तिमाक्षर जो होता है वही निश्चित रूप से चतुर्थ चरण का १३, १६, १९वा अक्षर होता है तथा तृतीय चरण का ही अन्तिम १९वा अक्षर चतुर्थ चरण का पहला अक्षर होता है।

यह षडारकबन्ध चक्रकाव्य प्रायः १९ वर्णात्मक शार्दूलविक्रीडित छन्द मे ही ग्रथित किया जाता है।

इस चक्रकाव्य मे जिन अक्षरो के आगे १ से १२ तक के अको का न्यास किया गया है, उसकी परिपाटी निम्नांकित है —

प्रारम्भ मे श्लोक के प्रथम द्वितीय तृतीय चरण का ७वा अक्षर ग्रहण किया जाता है, पश्चात् क्रमशः १३वा अक्षर ग्रहण किया जाता है। पुन उक्त तीनो चरणो के क्रमश. ३रा और १७वा अक्षर ग्रहण किया जाता है। उक्त रीति से अक्षरो को ग्रहण करने पर कर्त्ता का नाम स्पष्ट होता है। उदाहरणार्थ चित्रकूटीय वीरचैत्य प्रशस्ति का ७६वा पद्य देखें। इसमें श्लोक का ७वा अक्षर 'जि न व' १३वा अक्षर 'ल्ल भ ग' ३रा अक्षर 'णे र्व च' और १७ वा अक्षर 'न मि द' है। इन अक्षरो को सयुक्त करके पढ़ने पर 'जिनवल्लभगणेर्वचनमिद' कर्त्ता का नाम पढा जाता है।

२. चित्रकूटीय वीरचैत्य प्रशस्ति, पद्य ७६

चित्र स० १७. षडारक चक्रबन्ध—

<pre>
        ७   १   ४   १०
विश्राणेन मतिं जिनेषु बलवल्लग्नेन जैनक्रमे,
     ८   २   ५   ११
सत्सर्वज्ञमतेन पूतवचसा भद्रावलीमिच्छुना ।
        ९   ३   ६   १२
हित्वा चर्च्यपदावहेऽत्र वचने गर्हा प्रमाद दर,
रन्तव्य विधिना सदा स्वहितदे मेधाविना सादर ।।७६।।
                              'जिनवल्लभगणेर्वचनमिद'
</pre>

३ धर्मशिक्षा प्रकरण, पद्य १ और ४०

चित्र सं० २३. षडारकचक्रबन्ध

<pre>
        ७   १   ४   १०
नत्वा   भक्तिनतांगकोहमभय नष्टाभिमानक्रुध,
        ८   २   ५   ११
विज्ञ वर्द्धितशोणिमक्रमनख वर्ण्य सतामिष्टद ।
      ९   ३   ६   १२
विद्याचक्रविभु जिनेन्द्रमसकृल्लब्धास्य पाद भवे,
मेध्य ज्ञानवतां विमर्शविशद धर्म्य पद प्रस्तुवे ।।१।।
                              'गणिजिनवल्लभवचनमिद'
</pre>

चित्र सं० १८, षडारक चक्रबन्ध

७ १ ४ १०

शिक्षा भव्यनृणा गणाय भयकाऽनर्थप्रदैनस्तरं,

८ २ ५ ११

दग्धुं वह्निरमाणि येयमनया वर्तते योऽमत्सर.।

९ ३ ६ १२

नम्य चक्रभृता जिनत्वमपि सल्लव्वार्च्यपाद परं,

रतासौ शिवसुन्दरीस्तनतटे रुन्द्रे नर सादर ॥४०॥

'गणिजिनवल्लभवचनमद.'

४. सङ्घपट्टक पद्य ३८

चित्र स० २४ षडारक चक्रबन्ध

१ ७ १० ४

विभ्राजिष्णुमगर्वमस्मरमनाशाद श्रुतोल्लङ्घने,

२ ८ ११ ५

सज्ज्ञानद्युमणि जिनं वरवपु श्रीचन्द्रिकामेश्वर।

३ ९ १२ ६

वन्दे वर्ज्यमनेकधा सुरनरै शक्रेण चैनच्छिदं,

र विदुषा सदा सुवचसानेकांतरंगप्रदे ॥३८॥

'जिनवल्लभेन गणिनेद चक्रे'

चित्र स० १७, २३ और १८ मे अंकस्थापन परिपाटी एक समान है किन्तु इसमे भिन्नता प्रतीत होती है। पूर्वोक्त तीनो चित्रो मे ७, १३, ३ और १७वां अक्षर ग्रहण किया गया है, जबकि इसमे विपरीत गति से ३, १७, ७, और १३वां अक्षर ग्रहण किया गया है।

५ स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र (चक्राष्टक)—इस स्तोत्र के ८ आठों ही पद्य षडारक चक्रबन्ध काव्य में गुंफित हैं। यहा केवल प्रथम और अन्तिम आठवें पद्य के ही चित्र दिये गये हैं।

चित्र स० २९ षडारकचक्रबन्ध

चक्रे यस्य नति सदा किल सुरै दृष्टा प्रभावे क्रमं-

रत्नांभीतमनुद्यवंत लघु य शक्रालिरानर्च्य य।

यद्वान्लम्यमकर्मशर्मलयद ववन्नृराजो स्तुतं,

त भक्या वत वीरमक्षयरमामैत्री नयत नत ॥ १ ॥

इसमें अङ्क स्थपिन परिपाटी द्वारा कर्ता का नाम नहीं दिया गया है।

चित्र सं० ३०, षडारकचक्रबन्ध—

७ १ ४

भद्राणि प्रवियोजितान्यनुभवाल्लभ्नोस्म्यसारक्रमे,

८ २ ५

शब्दो नापि शुभो न वा तनुमुख भक्त स्वराज्यान्वितं।

३ ६

दृष्टि दो वदेव मामनुततो गच्छस्त्वमेतत्पदे,

देहे स्तम्भनकेश पार्श्व दमश मे स्वे हिता तं वदे ॥ ८ ॥ 'जिनवल्लभगणिना'

६. प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत काव्य यह प्रश्नोत्तर काव्य प्रहेलिकामय है। इस प्रश्नोत्तर काव्य के २८ प्रश्नो के उत्तर कवि ने चित्र–काव्यो मे दिये है। इन २८ उत्तरो का परिचय चित्रानुक्रम से इस प्रकार है
चित्र स० २ मन्थानान्तर जाति का चित्र है। श्लोक ७४ का उत्तर

'शाटकी, कीटशा, कटक, कटक, शाक, कोकट'

चित्र स० ३ मन्थानजाति, श्लोक १३६ का उत्तर

'साम धारि मा त्वया, यात्वमाऽरिधाम सा, नेह गरिमोचता, ता चमोरिगहने'

चित्र सं० ४. मन्थानान्तर जाति, श्लोक १५४ का उत्तर

'से तप, पतसे, सेतवे, वेतसे'

चित्र स० ५ मन्थान जाति, श्लोक १५२ का उत्तर

'हालिक, कलिहा, नालिके, केलिना, नाककेलिहा'

चित्र स० १०. मन्थानजाति, श्लोक ६१ का उत्तर

'सारतादिना, नादितारसा, यामतागवि, विगतामया'

चित्र स० १२ शृंखलाजाति, श्लोक ६ का उत्तर

'वीराज्ञा विनुदति पापम्'

चित्र स० १३. शृंखलाजाति, श्लोक ६३ का उत्तर—

'सा रामा रमयते मनो नः'

चित्र स० १४. शृंखलाजाति, श्लोक ७१ का उत्तर

'भामारतसानतेमनसि'

चित्र सं० १५ मन्थानजाति, श्लोक १३८ का उत्तर

'तागत्वरीमरक, करमरीत्वगता, सारतरीपरमा, मारपरीतरसा'

चित्र सं० १६ मन्थानजाति, श्लोक १० का उत्तर

'यानताम स, समतानया, विभुता सदा, दासता भुवि'

चित्र स० १६ अष्टदलकमल व्यस्त जाति के चित्र मे श्लोक ४७ का उत्तर

'हासुस्तनीसायताक्षीरे'

चित्र स० २०. विपरीत अष्टदलकमल चित्र मे श्लोक २० का उत्तर

'विगतजलदपटलम्'

चित्र सं० २१ अष्टदलकमल चित्र मे श्लोक १४ का उत्तर

'अस्नातास्त्रीमङ्गलेप्सुना'

चित्र स० २२. अष्टदलकमल चित्र मे श्लोक ३६ का उत्तर

'हला सस्तर सारयेत'

चित्र स० २५ विपरीत षोडश दल कमल चित्र में श्लोक ५६ का उत्तर

'कजाक्षी वाचाऽस्मानहह सहसाऽनुकुसुमदरे'

चित्र सं० २६ विपरीत षोडशदल कमल चित्र मे श्लोक ७८ का उत्तर—

'तरलनयना मामत्रेम स्मितास्यमितीक्षते'

चित्र सं० २७. द्वादशपत्र पद्म चित्र मे श्लोक ४२ का उत्तर

'हले वर्धत्वायस्तेम्भोदेहारस्तीत.'

चित्र सं० २८. विपरीत अष्टदल कमल चित्र मे श्लोक ११८ का उत्तर—

'अवलोकनकुतूहले'

चित्र सं० ३१. पद्मान्तर जाति चित्र मे पद्य १४५ का उत्तर

'तामस, समता, सारस, सरसा, साहस, सहसा,

मारस. सरमा, समरहर, तासासामास'

चित्र सं० ३२ पद्म जाति चित्र मे पद्य २६ का उत्तर

'विप्र, विघा, विना, विप्रा, विप्रघानाग्रा'

चित्र सं० ३३ पद्मान्तर-जाति चित्र मे श्लोक १४७ का उत्तर

'कलमे, मेलम, करता, तारक, कवसे, सेवक,

कराव, वराक, कलरवरामे, तासेवक'

चित्र सं० ३४. मन्थानान्तर जाति चित्र मे श्लोक ३२ का उत्तर

'मनसा, विनता'

चित्र सं० ३६ मन्थान जाति चित्र मे पद्य १४५ का उत्तर

'तामस, समता, सारस, सरसा, साहस, सहसा,

मारस, सरमा, समरहर, तासासामास'

पद्य १४५ का उत्तर कवि ने चित्र सं० ३१ और ३७ मे भिन्न-भिन्न जाति के चित्रों मे दिया है।

चित्र सं० ३८. मन्थानान्तर जाति चित्र मे श्लोक १२ का उत्तर

'ना युवा, वायुना, जायुवा, पायुजा'

चित्र सं० ३९. मन्थानान्तर जाति चित्र मे पद्य ६९ का उत्तर

'नालिन, नलिना, मालिनी, नीलिमा, नामानि, इन, आलि'

चित्र सं० ४०. मन्थानान्तर जाति चित्र मे श्लोक १४३ का उत्तर

'कालिदासकविना, नाविकसदालिका, तामरसविदम,

मदविसरमता, सरकविदामविदलिता नाम का'

चित्र सं० ४१. मन्थान जाति चित्र मे पद्य १३३ का उत्तर—

'ये रता जिनमते, तेमनजितारये, लेखराजिमासन, नसमाजिराखले'

चित्र सं० ४२. मन्थान जाति चित्र मे श्लोक १३२ का उत्तर

'मायानमदनदा, दानदमनयामा, हारदामकाम्यया, याम्यकामदारहा'

विषय सूची

धारानरेश नरवर्मा को आशीर्वाद देते हुए युगप्रवर श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज

वल्लभ शास्त्री

अध्याय : १

पूर्वाभास और गुरु-परम्परा

प्रस्तुत ग्रन्थ मे खरतरगच्छ के एक प्रमुख आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि के ४४ ग्रन्थों का संग्रह एव अध्ययन किया गया है। इन ग्रन्थों की विशेषताओ के विषय मे कुछ भी कहने से पूर्व आचार्य के जीवन तथा उनके महत्वपूर्ण कार्यों को जान लेना तथा ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य की जो देन समाज को प्राप्त हुई उस पर विचार कर लेना आवश्यक है। किसी भी व्यक्ति के जीवन का मूल्य आकने के लिए उसके आस-पास की परिस्थितियों को तथा तत्कालीन सामाजिक शक्तियों को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि जहा यह ठीक है कि व्यक्ति अपनी कुछ सहज प्रतिभा तथा शक्ति को लेकर जन्म ग्रहण करता है वहा यह भी सच है कि व्यक्ति की प्रतिभा और शक्ति तत्कालीन परिस्थितियो से मर्यादित और प्रभावित होकर अभिव्यक्त होती है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति है जो समाज के अन्ध-भक्त न होकर उलटे उसको अपने पद-चिन्हो पर चलाया करते है और सच पूछिये तो आचार्य जिनवल्लभ ऐसे ही महापुरुषों मे से एक थे। परन्तु यह सब होते हुए भी आचार्य उस युग की आवश्यकता के अनुरूप उत्पन्न हुए थे और उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सफल प्रयत्न के कारण वे जैन-धर्म के इतिहास मे अपना एक निश्चित स्थान बना गये। इसलिए उनके जीवन पर कोई भी विचार तब तक नही किया जा सकता जब तक कि तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्था स्वरूप को भलीभाति न समझ लिया जाय।

तत्कालीन राजनैतिक अवस्था

यों तो सातवीं शती के चतुर्थ चरण से ही भारत के पश्चिमी सीमान्त पर यवनों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे और सिन्ध प्रदेश पर अरबों का आधिपत्य भी हो गया, पर दशमी शती के अन्त तक इन आक्रमणों की संख्या में वृद्धि हो गई। सिन्ध से पूर्व की ओर बढ़ने में थार की मरुभूमि ने उनकी महत्वाकांक्षा और शक्ति को निरुद्ध कर दिया था, इसलिए अब इन नवीन आक्रमणों का लक्ष्य पंजाब प्रान्त बना। पंजाब की भूमि उर्वर थी और वहां के लोग थे भी समृद्ध। यह कहना असंगत न होगा कि उस समय तक यवन आक्रान्ताओं का उद्देश्य विधर्मियों के धार्मिक स्थानों को तोड़ना व उनको लूट कर लूट के माल से अपने निवास स्थान को समृद्ध करना था। भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा के प्रहरी पंचनद (पंजाब) क्षेत्र में उनको अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए पर्याप्त अवसर था।

भारत पर अरबों का प्रारम्भिक आक्रमण सिन्ध विजय को एक परिणाम शून्य विजय कहा गया है।[1] दशम शती के ये आक्रमण भी परिणाम शून्य कहे जायं तो अत्युक्ति न होगी। हां, अब ये आक्रमण समृद्ध भाग पर हो रहे थे और इस कारण आक्रान्ताओं को यथेष्ट धन लूट में मिल जाता था। प्रारम्भिक आक्रमणों के समय अरबों ने भारतीय ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण किया था, जिनके माध्यम से यूरोप में इनका प्रचार हुआ। किन्तु दशम शती तक आते २ इन आक्रमणों का ऐसा भी कोई उद्देश्य न रहा। इस दृष्टि से इन आक्रमणों को एक सशक्त डाकेजनी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

दशमशती में खलीफाओं की केन्द्रीय शक्ति के निर्बल हो जाने पर गजनी में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना हो गई। गजनी भारत के अति निकट था इसलिए शीघ्र ही यह भारत पर आक्रमण का केन्द्र बन गया। ९७७ ई० मे गजनी का शासन सुबुक्तगीन के हाथ मे आया। उसने शीघ्र ही भारत पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। भारत पर होने वाले यवनों के आक्रमणों में सुबुक्तगीन व उसके उत्तराधिकारी महमूद के आक्रमण अधिक महत्व रखते है। सुबुक्तगीन का संघर्ष कई बार सीमा प्रान्त के शाहीवंशी शासक जयपाल से हुआ। यद्यपि जयपाल सुबुक्तगीन को हरा न सका तो भी उसने विश्वासी सैनिक की भांति भारत के उत्तरी पश्चिमी सिंहद्वार की अर्गला को शक्ति रहते रक्षा की। सुबुक्तगीन विजय पाकर भी आगे न बढ़ सका।[2]

सुबुक्तगीन के उत्तराधिकारी महमूद ने १००० ई० से १०२६ ई० तक भारत पर १७ आक्रमण किये और अतुल धनराशि लूट कर अपने साथ गजनी ले गया। महमूद से हारकर जयपाल ने ग्लानि से चितारोहण किया। जयपाल का पुत्र आनन्दपाल भी उसी के समान

१ भारत का इतिहास . डॉ० ईश्वरीप्रसाद।
२. भारत का इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद।

स्वाभिमानी था। उसने एक सशक्त सगठन करके महमूद को रोकना चाहा। धनी निर्धन सभी ने आनन्दपाल की सहायता के लिए द्रव्य दिया। महमूद आनन्दपाल से आतंकित था किन्तु दुर्भाग्यवश आनन्दपाल का हाथी भाग जाने से महमूद को विजय हाथ लगी। उसने ज्वालामुखी के मन्दिर को लूटा। उसके अन्य आक्रमणो मे १०२६ ई० का सोमनाथ का आक्रमण प्रसिद्ध है। प्रत्येक बार महमूद को लूट मे अतुल सम्पत्ति मिली। वह स्वय धर्म-युद्ध के नाम पर प्रतिवर्ष भारत पर आक्रमण करता था, किन्तु उसके आक्रमणो के मूल मे धनेप्सा ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। इस समय तक वह धन के साथ २ राज्य का लोभ भी विस्मरण न कर सका था। पजाब मे उसने अपनी सत्ता स्थापित कर ली किन्तु उसकी मृत्यु के बाद पंजाब पुन. स्वतत्र हो गया। ११७५ ई० मे मुहम्मद गोरी ने गजनी शासन का अन्त कर दिया। इस बीच छुटपुट हमलो के अतिरिक्त कोई बडा आक्रमण भारत पर न हुआ। मुहम्मद गोरी ने विशुद्ध साम्राज्य-विस्तार की इच्छा से भारत पर आक्रमण किए।[1] उसे गुजरात के शासक भीमदेव ने पराजित कर दिया था। अनेक साहसी शूरवीर, युद्धप्रेमी राजपूतो और उनमे श्रेष्ठ पृथ्वीराज चौहान को हराये बिना मुहम्मद गोरी का उद्देश्य पूरा होना सभव न था। राजपूत जीते जी सूच्यग्रभाग के बराबर जमीन भी किसी को देने को तैयार न थे। वे सारे उत्तरी व दक्षिणी भारत मे फैले हुए थे। साहस और शौर्य मे वे आक्रान्ताओ से कम न थे। हा, वे कभी सगठित होकर शत्रु से न लड पाये और शताब्दियो तक सघर्षरत रह कर स्वाधीनता की दीपशिखा को उन्नत व प्रद्योतित रखते हुए भी काल के प्रवाह मे उनकी भावना व प्रयत्नो को साफल्य न मिल सका।

सारे भारत मे स्थापित राजपूत-राज्यो मे कुछ अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त होने के कारण प्रसिद्ध हैं। जिस समय देश के सीमान्त सिंहद्वारो की अर्गला को विधर्मी आक्रान्ता बार बार खटखटा रहे थे और कभी-कभी भीषण प्रहार से ये द्वार और इनके प्रहरी आघात सहने मे असमर्थ हो जाते थे, उस समय नितान्त शान्तिपूर्वक कुछ राज्यो के शासक विद्या और कलाओ की उपासना मे रत थे। ऐसे शासको मे गुजरात के सोलकी-वशज सिद्धराज जयसिंह, मालवे के परमारवशी वाक्पतिराज (मुञ्जदेव) व भोज तथा राजपूताने के चौहानवशी विग्रहराज (वीसलदेव) के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

गुजरात के अणहिलपट्टन स्थान पर सोलकी राज्य की स्थापना मूलराज ने की थी।[2] मूलराज के पुत्र चामुण्डराज ने सिन्धुराज (भोज के पिता) को युद्ध मे मारा था। इसलिए सोलकियो और परमारो मे आपसी शत्रुता हो गई। फलस्वरूप मालवा और गुजरात मे बराबर युद्ध होते रहे। चामुण्डराज के बाद उसके दो पुत्रो वल्लभराज और दुर्लभराज ने गुजरात पर शासन किया। दुर्लभराज का विवाह नाडोल के चौहान राजा महेन्द्र की बहिन दुर्लभदेवी से हुआ था। १०२१ ई० मे उसकी मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई नागराज

१ भारत का इतिहास डॉ० ईश्वरीप्रसाद व राजपूताने का इतिहास प्र० भा०, गौ० ह० ओझा कृत।
२ जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास मो द देशाई, व ओझाजी कृत राजपूताने का इतिहास

का पुत्र भीमदेव पाटन का शासक हुआ। भीमदेव के मन्त्री विमलशाह ने १०३१ ई० में आबू के निकट देलवाड़े के प्रसिद्ध मन्दिर को बनाया था, जिसके विषय मे प्रसिद्ध है कि कला की दृष्टि से उसकी समता करने वाली कृति भारत मे अन्य नहीं है।[1] महमूद गजनवी ने सन् १०२५ ई० मे सोमनाथ पर आक्रमण किया था।[2] उसका प्रतिरोध करने मे अपने आपको असमर्थ पाकर भीमदेव ने कथकोट के किले मे शरण ली। वापस लौटते समय भीमदेव की सैनिक टुकड़ियों ने महमूद को रेगिस्तान व कच्छ के दलदल में भटका कर बहुत परेशान किया था, जिसका बदला महमूद जीते जी न ले सका।[3] भीमदेव के समकालीन शासक सिन्ध मे हम्मुक, मालवे में भोजराज और अजमेर मे चौहान राजा वीर्यराम थे। भीमदेव ने हम्मुक को हराया था। इसी बीच मालवा के सेनापति कुलचन्द्र ने पाटण को आकर लूट लिया। भीमदेव ने रुष्ट होकर मालवा पर आक्रमण कर दिया। चेदि का शासक कर्णदेव भी इस समय मालवे की ओर बढ़ रहा था। दोनो ने मिलकर धारानगरी को जीत लिया। इसी समय भोज की मृत्यु आकस्मिक बीमारी से हो गई।[4]

भीमदेव की मृत्यु के बाद सन् १०९३ ई० तक उसके पुत्र कर्ण ने गुजरात पर शासन किया। उसकी प्रशस्ति मे बिल्हण पडित ने कर्ण सुन्दरी नामक नाटिका की रचना की है।[5] कर्णदेव की पत्नी कर्णाटदेशीया राजकुमारी मयणल्लदेवी से सिद्धराज जयसिंह का जन्म हुआ। जिनवल्लभसूरि ने कर्णदेव के समय गणि के रूप मे जीवन यापन किया था।[6] ये कूर्च-पुरीय जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे।

१०९३ ई० में सिद्धराज जयसिंह का राज्यारोहण हुआ। उसके राजत्व काल में जिनवल्लभ की आचार्य एवं ग्रन्थकर्त्ता के रूप मे प्रतिष्ठा हुई। सिद्धराज सोलंकियो मे सबसे प्रतापी शासक था। उसने १२ वर्ष तक मालवे के राजा नरवर्मा से युद्ध किया और उसके पुत्र यशोवर्मा को कैद करके मालवा के राज्य को गुजरात में मिला लिया। चित्तौड़ और वागड़ पर भी जयसिंह का अधिकार हो गया। उसने महोबा के चन्देल राजा मदनवर्मा पर भी चढाई की थी। गिरनार के खेंगार को भी जयसिंह ने पराजित किया था। अजमेर के चौहान अर्णोराज को जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी ब्याही गई थी,[7] जिससे पृथ्वीराज चौहान के पिता सोमेश्वर का जन्म हुआ। जयसिंह के दरबार मे कई विद्वान् रहते थे, जिनमें आचार्य हेमचन्द्र, श्रीपाल, वर्द्धमान, सागरचन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय है। जयसिंह की मृत्यु के

१. ओझाजी का राजपूताने का इतिहास।
२. भारत का इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद
३. इतिहास प्रवेश - जयचन्द्र विद्यालकार
४. भारत के प्राचीन राजवश - प० विश्वेश्वरनाथ रेउ
५. जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास - मो० द० देसाई
६. वही।
७. नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १- पृ० ३९३-३९४

वाद उसका सम्बन्धी कुमारपाल राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ। कुमारपाल के वाद सिद्धराज की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने वाला कोई शासक पाटन में नहीं हुआ। सोलकी वश के शासन को उन्नत बनाने का श्रेय शासको से अधिक उनके योग्यतम मत्रियो सपत्कर, विमलशाह, उदयन मेहता, दामोदर मेहता, मुञ्जाल मेहता, वाग्भट्ट, शान्तू मेहता आदि को है। ऐतिहासिकों का कथन है कि ये तत्कालीन भारत के प्रसिद्धतम राजनीतिज्ञ थे और इनकी समानता प्राचीन भारत के राज्य-सस्थापको चाणक्य और यौगन्धरायण आदि से की जा सकती है। यदि इनको आन्तरिक झगडो से अवसर मिलता तो समवत ये वाह्य आक्रमणो से देश को त्राण दिलाने का प्रयत्न भी कर पाते।

इस समय आबू, किराडू, जालोर, मालवा व बागड मे परमार वश के शासक राज्य करते थे। बागड के परमारो की राजधानी अर्थूणा या उच्छूणक नगर थी। ये मालवे के परमारो के निकटतम सम्बन्धी थे। सन् ११०० ई० के लगभग चामुण्डराज यहा का शासक था, उसने सिन्धुराज (सभवत सिन्ध के राजा) और कन्ह के सेनापति को हराया था। चामुण्डराज के पुत्र विजयराज के बाद इस वश का कोई इतिहास नही मिलता। चामुण्डराज और विजयराज का सान्धिविग्रहिक वामन भी अपने समय का प्रसिद्ध राजनीति-विशारद था।[1]

किराडू का परमार उदयराज सिद्धराज का सामन्त था और सिद्धराज की कई विजयवाहिनियो में उपस्थित था। उदयराज के पुत्र सोमेश्वर ने 'मरुभूमि' के राजा जज्जक पर विजय प्राप्त करके उससे तृणकोट और नवसर के किले छीन लिये थे।[2] आबू के परमारो में धरणीवराह व धून्धूक बडे वीर हुए। धून्धूक भीमदेव सोलकी का समकालीन था। आबू के दण्डनायक विमलशाह ने धून्धूक का भीमदेव से मेल करा दिया। उसके उत्तराधिकारी पूर्णपाल और कृष्णराज हुए। कृष्णराज (द्वितीय) भीनमाल, किराडू और वसन्तगढ का स्वामी हुआ। उसे भीमदेव ने कैद कर लिया था। बाद मे यह भीमदेव का मित्र बन गया। ध्रुवभट, रामपाल आदि उसके उत्तराधिकारी हुए।

परमारो की मुख्यशाखा मालवा पर शासन करती थी। चित्तौड भी उस समय मालवा के अधिकार मे था। इस राज्यवश के सबसे प्रतापी शासक मुञ्जदेव (वाक्पति-राज) सिन्धुराज और भोजदेव थे। मुञ्जदेव ने कर्णाट के राजा तैलप को कई बार परास्त किया था, किन्तु अन्त मे उसी के द्वारा कैद होकर मारा भी गया।[3] मुञ्जदेव विद्वानो का आश्रयदाता था। उसकी राज्यसभा मे तिलकमजरी का रचयिता धनपाल, पद्मगुप्त (परिमल), धनञ्जय, धनिक, हलायुध, अमितगति आदि अनेक विद्वान् रहते थे। वह स्वय विद्वान् था। उसके कुछ श्लोक ही अब तक मिल पाये हैं। मुञ्ज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज

१ भारत के प्राचीन राजवश प० विश्वेश्वरनाथ रेउ

२ किराडू का शिलालेख . ओझाजी का राजपूताने का इतिहास पृ० १८३

३. सोलकियो का प्राचीन इतिहास प्र० भा० पृ० ७५-७७।

का विरुद नवसाहसांक था। उसने वागड, लाट, दक्षिण कोसल आदि को जीता। इसकी मृत्यु गुजरात के सोलंकी चामुण्डराज के द्वारा युद्ध मे हुई।[1]

भोज उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के समान विद्वान्, रसिक और परोपकारी था। उसने चेदि के राजा गांगेयदेव, भीमदेव व कर्णाटक के राजा जयसिंह (तैलप के पौत्र) को पराजित किया था। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कुलचन्द्र उसका मंत्री था। राजा भोज के कई ग्रन्थ प्रसिद्ध है। वह स्वयं विद्वान् होने के साथ ही विद्वानो का गुणग्राहक था। वह कवियो को लक्ष-लक्ष रुपये दिया करता था। धनपाल व वेद-भाष्यकार उव्वट उसके सभा-पंडित थे। कालिदास नामधारी कोई कवि भी उस समय विद्यमान था जिसका अभी तक कोई ग्रन्थ नही मिला है। भीमदेव और चेदि-नरेश कर्ण ने धारानगरी पर आक्रमण किया उसी समय भोज की मृत्यु हुई। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह, उदयादित्य, लक्ष्मदेव आदि हुए। उदयादित्य ने सांभर के विग्रहराज (तृतीय) की सहायता से अपनी शक्ति बहुत बढा ली और सोलंकी कर्ण को भी पराजित किया।[2] उसने भोज द्वारा बनायी गई "सरस्वती-कण्ठाभरण" पाठशाला को नवीन ढंग से सज्जित किया। उदयादित्य का पुत्र, मध्यभारत की अनेक कहानियो का नायक जगदेव किसी कारणवश सिद्धराज जयसिंह की राज्यसभा मे चला गया था। उदयादित्य का छोटा पुत्र नरवर्मा भी बडा प्रतापी राजा था। उसने चित्तौड पर भी अपना अधिकार कर लिया था[3] और जयसिंह की अनुपस्थिति मे पाटण को घेर लिया था। नरवर्मा पर जयसिंह ने आक्रमण किया और उसके पुत्र यशोवर्मा को कैद करके मालवे पर अधिकार कर लिया।[4] कुमारपाल की मृत्यु के बाद मालवे के परमार पुन. स्वतंत्र हो गए।

चित्तौड के गुहिलवंशी राजा उस समय आघाटपुर मे राज्य करते थे। उदयपुर के समीप इसके खंडहर मिलते है। ग्यारहवी शती मे अल्लट यहा पर शासन करते थे। अल्लट के पिता भर्तृभट्ट ने भरतपुर (माहेश्वर) बसाया। अल्लट की रानी हूण राजा की पुत्री हरियदेवी ने हर्षपुर बसाया।

भोज और चेदि के कर्ण की मृत्यु के बाद कन्नौज मे गहडवाल चन्द्रदेव व उसके वंशजो का राज्य हुआ। सांभर मे इस समय चौहान वंश का राज्य था। अर्णोराज चौहान जयसिंह सोलंकी का समकालीन था। उसका पुत्र विग्रहराज भी बडा विद्वान् था। उसने हरकेलि और ललितविग्रहराज नाटक पत्थरो पर खुदवाये थे। सोमेश्वर का पुत्र पृथ्वीराज तृतीय चौहान वंश का सबसे प्रतापी और उत्तरी भारत का अन्तिम प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट् था।[5]

१ ना प्र पत्रिका भाग १ पृ १२१।
२ पृथ्वीराजविजय काव्य सर्ग ५।
३ जिनवल्लभ कृत अष्टसप्ततिका।
४ प्रबन्ध-चिन्तामणि पृ. १४२ ४३ व कुमारपालचरित जयसिंहसूरि कृत १
५ भारत का इतिहास - डा० ईश्वरीप्रसाद

पूर्व मे इस समय पाल वंशी नयपाल और उसका पुत्र विग्रहपाल राज्य कर रहे थे। दक्षिण मे चोल राजा वीरता और साहस मे बढे चढे थे। इस वश का राजेन्द्र चोल प्रथम (१०१८ से १०३५ ई०) बहुत बडा विजेता था। उसने समुद्र पार के कई द्वीपो को जीत लिया था और बिना किसी प्रतिरोध के उत्तरी भारत मे गंगा तक की सैन्य यात्रा की थी।[1]

उक्त ऐतिहासिक तथ्यो से प्रकट है कि यवनों के प्रारम्भिक आक्रमणो के समय भारत मे भीमदेव, सिद्धराज जयसिंह, मुञ्ज, सिन्धुराज, भोज, कर्ण (चेदि), तैलप, विग्रहराज (वीसलदेव चतुर्थ) पृथ्वीराज चौहान, राजेन्द्र चोल आदि अनेक योग्य शासक हुए थे। उनके मत्री तत्कालीन भारत के योग्यतम राजनीतिज्ञ थे। यदि वे विदेशी आक्रान्ताओ के सम्मुख एक होकर प्रतिरोध करने को तैयार हो जाते तो कदाचित् भारत को दासता की दुर्भाग्य-शाली सहस्राब्दि का दुर्दर्शन न करना पडता। उनके बीच कोई गभीर मतभेद भी न थे जो आसानी से दूर नही किये जा सकते हो। उनमे से कई ने कलाओ को संरक्षण देकर उनकी उन्नति में जो अपूर्व कार्य कर दिखाया उससे उन शासको व उनके सामन्तो का बुद्धि-कौशल भी प्रगट होता है। फिर भी छोटी-छोटी बातो के लिए उन्होने युद्ध किया और अपनी शक्ति को इतना श्रान्त-क्लान्त, छिन्न-विच्छिन्न कर दिया कि उसका फल आगामी पीढियो को एक हजार वर्ष तक भोगना पडा। कला व साहित्य के क्षेत्र मे जहाँ हम उनका नाम अत्यन्त आदर के साथ लेते हैं वहा उनके चक्षुहीन कृत्यो के कारण हमे खेद पूर्वक सिर झुका लेना पडता है।

यह आश्चर्य की बात है 'गुजरात का नाथ' भीमदेव महमूद गजनवी पर पीछे से आक्रमण करे और छोटे २ राजपूताने के शासक उससे जम कर लोहा लें। अजमेर के चौहान वीर्यराम ने महमूद को युद्ध मे घायल करके वापस लौटा दिया था।[2]

इन समकालीन शासको के समय अनेक साहित्यकारो ने अपनी रचनाएँ लिखी। जिनवल्लभसूरि सिद्धराज जयसिंह के समय आचार्य के रूप मे प्रसिद्ध हो गये थे।[3] उनका गुजरात, मेदपाट, अवन्ती, नरवर, नागोर आदि स्थानो से सीधा सम्पर्क था। चित्रकूट (चित्तौड), धारानगरी, नागौर आदि स्थानों पर उपदेश देकर भक्तो को कृतकार्य किया था।[4]

आचार्य जिनवल्लभसूरि के ग्रन्थो मे कही भी प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः यवन आक्रमणो के विषय में उल्लेख नही मिलता। इससे प्रकट है कि इन धर्मप्रिय आचार्यों का मन बाह्य ससार से नितान्त निर्लिप्त था। उन्हे धर्म-सत्य की उपलब्धि हुई थी जिसके सामने यवनो के अत्याचारो का भय नही था।

भोजराज, सिद्धराज, विग्रहराज, नरवर्म आदि उदार शासकों का आश्रय अन्य धर्माचार्यों के साथ जैनाचार्यों को भी मिला था। कई आचार्यो को इन शासको के मान्य-

१ भारत के प्राचीन राजवंश विश्वेश्वरनाथ रेउ पृ ६
२ पृथ्वीराज विजय काव्य।
३ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास · मो० दु० देसाई।
४ वही।

पडित होने का अवसर भी मिला था। उनकी धर्म-साधना व धर्मप्रचार-कार्य अनवरत रूप से चलता था। योग्य शासको के उदार शासन मे जैन धार्मिक साहित्य की प्रभूत उन्नति हुई। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य इस सधियुग की मध्ययुग और प्राचीन युग के मध्य का यह सधियुग ही था सर्वमान्य विभूति के रूप मे प्रसिद्ध है। खरतरगच्छ के आचार्यो मे प्रमुख जिनवल्लभसूरि भी इस काल के प्रसिद्ध साहित्यकार थे।

सामाजिक अवस्था

आचार्य जिनवल्लभ का समय ईसा की ग्यारहवी शती का अन्तिम व बारहवी शती का प्रथम चरण है। जैसा कि राजनैतिक दशा का वर्णन करते समय बताया जा चुका है कि बाह्याक्रमणो का भय सर्वदा बने रहने पर भी दक्षिणी राजस्थान, गुजरात, मालवा, कर्णाट आदि प्रदेशों के लोग पूर्ण शान्ति का अनुभव करते थे। आचार्य शकर ने आठवी शती मे धार्मिक दिग्विजय करके भारत से बौद्धधर्म का उच्छेद कर दिया था। प्राचीन वैदिक धर्म की ओर अनिच्छा पूर्वक आकृष्ट होने वाले सामान्य स्थिति के लोगो को इस समय जैन-धर्माचार्यो की वाणी मे अवलम्ब मिला और वे किसी न किसी रूप मे उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

दक्षिण गुजरात मे बौद्धो की वज्रयान शाखा के लोगो ने नवीन तत्र प्रणाली को विकसित किया था। अभिचार-क्रियाओ द्वारा वे लोगो को आतकित व प्रभावित करते थे। इनके प्रभाव के कारण जन-साधारण मे यहा तक कि जैन धर्मावलम्बियो मे भी शिवपूजा का प्रचार बढता जा रहा था। इस काल के बने हुए हजारो शिव मदिर इस क्षेत्र मे मिले हैं। विदेशी क्षत्रप और महाक्षत्रपो ने शिवपूजा का प्रचार सबसे पहले किया था।[1]

दशमशती के पूर्व ही ब्राह्मण वर्ण का सम्मान कम होना प्रारम्भ हो गया था।[2] केवल ब्राह्मण होने के कारण इस समय सम्मान मिलना कठिन था। हा, विद्वान् ब्राह्मणो का आदर अब भी होता था। कई शासकों ने ब्राह्मणों को गांव दान मे दिये थे।[3] ये दान-पत्र उन शासको की उदारता को तो प्रकट करते ही हैं साथ ही ऐतिहासिक घटनाओं को जानने के भी एकमात्र उपलब्ध प्रमाण हैं।

मुञ्ज, भोज, सिद्धराज, कुमारपाल आदि विद्वानो के आश्रय दाता थे। यह प्रसिद्ध है कि धारानगरी मे जुलाहे तक कविता करते थे। एक जुलाहे का यह श्लोक प्रसिद्ध है:

काव्य करोमि न हि चारुतर करोमि
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि

१ भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास : लूनिया
२. वही :
३ भारत के प्राचीन राजवश मे भोज, मुञ्ज, सिद्धराज के वर्णन

काव्य की ओर लोक-सामान्य की इतनी रुचि होने से प्रकट है कि लोगो की आर्थिक दशा अच्छी थी। विमलशाह ने आबू मे देलवाडे का जैन मन्दिर बनाया था, जिसमे उस समय करोडो रुपये खर्च हुए होगे। पाटण का वैभव सारे भारत मे प्रसिद्ध था। पाटण के अतिरिक्त धारानगरी, आघाट नगर, चित्रकूट (चितोड), उज्जयिनी, चन्द्रावती, सोमनाथपुरी उस समय के प्रसिद्ध नगर थे। ये केवल राज्यो के केन्द्र होने से ही समृद्ध नही थे, वरन् तत्कालीन भारत के व्यापारिक केन्द्र भी थे। पाटण के वैभव को देख कर मालवा के शासक कई वार उसे लूटने गये थे। इस लोभ के कारण ही मालवा और पाटण मे आपस मे शत्रुता वनी रही। यह माना जा सकता है कि अच्छी आर्थिक स्थिति वाले लोग ही नगरो मे बसते होगे। भीमदेव, कर्ण आदि के शासन-काल मे गुजरात के ग्रामीण भीलो व कोलियो ने उपद्रव किए थे। भील लोग जगलो मे यात्रियो को लूट लेते थे। इसका कारण कदाचित् उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न होना ही होगा। सारा धन नगरो व मदिरो मे एकत्रित हो गया था। यवन आक्रान्ताओ ने मन्दिरो को तोड कर अतुल सम्पत्ति प्राप्त की थी।

ग्यारहवी शती मे भारतीय समाज मे अनेक जातिया उत्पन्न हो गई थी।[१] 'ब्राह्मण, क्षत्रिय (कई शाखाओ मे विभक्त), महाजन, कायस्थ आदि ऊची जातियो के अतिरिक्त दर्जी, सुनार, लुहार, बढई, कुम्हार, माली, नाई, धोवी, जाट, गूजर, मैर, कोली, बलाई, रैगर, महतर आदि जातिया बन गई थी। इसके पहले जाति-पाति व खान-पान के वन्धन इतने कठोर न थे। राजशेखर की पत्नी चौहान वश की थी। एक ही व्यक्ति दो अलग जातियो मे भी विवाह कर सकता था। परन्तु ग्यारहवी शती मे ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता जब किसी ब्राह्मण ने इतर जाति मे विवाह किया हो। खान-पान के आधार पर ब्राह्मणो के पच गौड और पचद्रविड भेद इसी समय हो गए थे।[२] जातियो मे देश-भेद भी माना जाने लगा था। राजपूतो मे जाति-भेद के नियम अब भी ढीले थे। वे दूसरी जाति मे विवाह भी कर सकते थे। मीने, भील, भोगिये, गिरासिये आदि जगली जातिया थी। नगर के लोगो का प्रधान व्यवसाय व्यापार तथा गाव के लोगो का खेती व पशुपालन था।

गुजरात, मालवा और राजपूताना मे शिक्षा का प्रचार राज्य की ओर से होता था। पाणिनीय व्याकरण की दुरूहता को दूर करने के लिये कातन्त्र व्याकरण की रचना हुई थी। प्रादेशिक भाषाओं मे उसका प्रचार बढता जा रहा था। शिक्षा प्रणाली प्राचीन थी। वलभी का विश्वविद्यालय इस समय तक नष्ट हो गया था। कुलीन लोगो की भाषा सस्कृत थी। सस्कृत के माध्यम से ही दर्शन, अर्थशास्त्र, वैद्यक आदि की शिक्षा दी जाती थी। प्रादेशिक भाषाओ की शिक्षा भी दी जाती थी। उज्जयिनि मध्यभारत मे शिक्षा का केन्द्र था। भोज ने धारानगरी मे 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक तथा विग्रहराज चतुर्थ ने अजमेर में शिक्षण सस्था की नीव डाली थी। विद्या निशुल्क पढाई जाती थी और

१ भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का इतिहास : लूनिया

२. भारत का इतिहास . ईश्वरीप्रसाद,

निर्धन छात्रो को भोजन, वस्त्र भी मुफ्त मिलता था। कुलीन स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थी।

समाज मे स्त्रियो की प्रतिष्ठा यथावत् कायम थी। पाटण में मयणल्लदेवी और कर्णाट मे मृणालवती शासन-कार्यों में भी भाग लेती थी। राजघराने की स्त्रियों को संगीत व नृत्यकला का अभ्यास भी कराया जाता था। वे सवारी व तलवार चलाना सीखती थीं। पर्दा प्रथा न थी। स्वयवर की प्रथा भी प्रचलित थी। पर अधिकतर विवाह माता-पिता की सम्मति से हो जाते थे। राजकुलो में विवाह का राजनीतिक महत्व भी देखा जाता था। विधवा विवाह का प्रचलन नही था।

जैनाचार्यों की समाज के सभी वर्गों म अप्रतिहत गति थी। वे सब जगह जाकर सब लोगों को समान रूप से प्रतिबोध दिया करते थे। राज-दरबार से लेकर कमियों की झोपडी तक में उनका समान रूप से सम्मान होता था। कई राजाओं ने जैन-धर्म स्वीकार किया था। जाति-भेद की बढती हुई दीवारो को रोकने में इस समय जैनाचार्य सबसे बड़े प्रतिरोधक थे। ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ के अतिरिक्त निम्न जातियां भी जैन-धर्म का अवलम्बन ले रही थी। कई हूण, शक आदि विदेशी जातिया भी जैन-धर्म ग्रहण कर चुकी थी। पंजाब का शाही वश भी विदेशी था, परन्तु तत्कालीन भारत की सीमान्त की रक्षा के लिए उसी ने यवनो से टक्कर ली। जैन-धर्म का प्रभाव गुजरात, मालवा, राजस्थान आदि क्षेत्रों में अधिक था। गुजरात मे विशेषकर मेहताओ का बडा जोर था।

सामान्य लोग अपने योग्य शासकों के बल पर निर्भय होते हुए भी विदेशी आक्रमणो से बेखबर न थे। वे अपने देश पर अभिमान करते थे। अल्बरुनी का यह कथन इस बात को प्रमाणित करता है "हिन्दू ऐसा विश्वास करते हैं कि उनके देश के समान दूसरा देश नही, उनके विज्ञान के समान दूसरा विज्ञान नही।" अपनी इस राष्ट्रीय-भावना के आधार पर वे देश की रक्षा करने को तत्पर थे। आनन्दपाल ने जब महमूद गजनवी का प्रतिरोध करने के लिये राष्ट्रीय सगठन करना चाहा, उस समय धनी-निर्धन सभी ने कुछ न कुछ द्रव्य इस काम के लिये दिया था। यहां तक कि स्त्रियो ने भी अपने आभूषण बेच कर, चर्खा कात कर इस कार्य के लिये द्रव्य जुटाया था।[1] यह ध्यान देने की बात है कि आनन्दपाल स्वय विदेशी वश का था। इससे स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि भारतीय-समाज उस समय राष्ट्रीयता की भावना से अपरिचित न था।

राजपूत लोग देशभक्ति मे सबसे आगे थे। देश के लिये रणक्षेत्र मे मर जाना वे सौभाग्य की बात समझते थे। स्त्रियां उन्हे हर्षित होकर युद्ध के लिये भेजती थी। पति के मरने पर वे सती हो जाती थी। युद्ध से भाग जाना अत्यन्त निन्दनीय पाप माना जाता था। राजपूत लोग अपना रक्त समाज में सबसे शुद्ध समझते थे। प्रत्येक राजपूत वश की इसी दृष्टि से किसी देवता या प्रसिद्ध वीर पुरुष से उत्पत्ति खोज ली गई। प्रत्येक उत्कृष्ट काम को करने के लिये राजपूत सदा तैयार रहते थे। स्वामिभक्ति, शरणागत-वत्सलता, स्त्री-सम्मान और वचन पालन करने में राजपूत अद्वितीय थे। कभी-कभी तो वे इन कार्यों

१. भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का इतिहास लूनिया।

के लिये अपने प्राणों की बाजी भी लगा देते थे। राजपूत स्त्रियो मे भी पति-भक्ति, सत्यनिष्ठा और साहस के गुण चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुए थे। वे शत्रु से युद्ध करने के लिये युद्ध-क्षेत्र में भी जाती थी। सतीत्व की रक्षा के लिये वे अपने शरीर को भी अग्नि को अर्पित कर देती थी। इस काल की प्रकाण्ड विदुषी राजशेखर की पत्नी अवन्तीसुन्दरी चौहान वश की कुमारी थी। राजपूत स्त्रियों मे शिक्षा का प्रचार अन्य वर्गो से अधिक था। उनको चित्रकला, सगीत, नृत्य के साथ शस्त्रचालन व घुडसवारी की शिक्षा भी मिलती थी। कुछ स्त्रियो ने इस काल मे शासन-व्यवस्था और युद्ध-कार्य में भी अपना कौशल प्रकट किया है। दक्षिण मे सोलकी विक्रमादित्य की बहिन अक्कादेवी ने चार प्रदेशो पर बडी कुशलतापूर्वक शासन किया था। उसने बेलगाव के गोकागे किले को भी घेरा था। गुजरात मे मयणल्लदेवी भी शासन-कार्यों में भाग लेती थी। राजपूतो की देखादेखी अन्य लोगो में भी बालविवाह की प्रथा का प्रसार हो रहा था। अपने प्रभाव और सत्ता के कारण राजपूत-वर्ग समाज का प्रमुख वर्ग बन गया था। उनमें मदिरा सेवन, मिथ्याभिमान आदि दुर्गुण भी उत्पन्न हो गए थे। प्राचीन परिषदों की प्रथा को मिटा कर वे निरकुश शासक बन चुके थे। राजपूतो में कन्याहनन जैसे जघन्य कार्य भी होते थे। फिर भी प्रेम और शौर्य में राजपूतो की समता करने वाला कोई नहीं था।

राजपूतो के बढते हुए प्रभाव से घबरा कर ब्राह्मणो ने सामाजिक-बन्धन कठोर कर दिये। शिल्पिसघ अलग-अलग जातियो के रूप में परिणत हो गए। जातियो का विभाजन सामाजिक दृष्टि से राष्ट्रीय पतन का कारण बन गया। जातीय हितो के सामने राष्ट्रीयता गौण होती चली गई। जातियो की सीमाए दुर्लंघ्य हो जाने से भारतीय समाज का वह महान् गुण नष्ट हो गया जिससे वह विदेशी जातियो को अपने मे पचाने मे समर्थ हुआ था। समाज की इस पाचन-शक्ति के अभाव ने भारत देश को सबसे अधिक हानि पहुँचाई है। इतना होते हुए भी कर्म-स्वातत्र्य अब तक बना हुआ था। हा, शिल्पो पर एक मात्र शूद्रो का अधिकार होता जा रहा था।

खान-पान मे लोग अब भी अहिंसक-सिद्धान्तो से प्रभावित थे। मास का प्रयोग कम होता था। राजपूत लोग शिकार करते और मास खाते थे। मदिरा सेवन भी राजपूतो मे अधिक प्रचलित था। उनमे अफीम खाने का दुर्व्यसन भी बढ रहा था। कुलीन लोग ताम्बूल भक्षण करते थे। धूम्रपान का प्रचलन नही हुआ था। इस काल के समाज के निम्न-वर्गों के विषय मे बहुत ही कम जानकारी मिलती है। इतना कहा जा सकता है कि वे अपने मे सन्तुष्ट थे। खेती, पशुपालन और आखेट से वे अपनी आजीविका चला लेते थे। इससे अधिक जीवन में वे कुछ इच्छा नही रखते थे। कभी-कभी वे सेना मे भी भरती हो जाते थे। गुजरात मे समुद्रतट पर कुछ मुसलमान लोग भी आ बसे थे। राज्य की ओर से उन्हे सरक्षण और धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी परन्तु वे हिन्दू-समाज पर किसी प्रकार के प्रभाव की स्थापना नही कर पाये थे।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि ईसा की ग्यारहवी शती तक आते-आते भारतीय समाज की पाचन-शक्ति व आत्मीकरण की प्रवृति नष्ट हो गई। समाज अनेक जातियो

उपजातियों में विभक्त था। लोग इहलौकिक जीवन से सन्तुष्ट थे। अन्धविश्वास बढ़ते जा रहे थे। स्त्रियों का सम्मान था फिर भी उनको स्वातंत्र्य न देने व पुरुषों से हीन समझने की प्रवृत्ति बढती जा रही थी। समाज में अनुदारता, रूढिवादिता अन्धविश्वास, शिथिलता आदि बढ़ते जा रहे थे। समाज की गतिशीलता नष्ट हो गई थी। मध्य व पश्चिमी भारत में जैन-धर्म का प्रभाव अधिक था। राजपूतों ने धार्मिक स्वतंत्रता की नीति को अपनाया था। उनके संरक्षण में विद्या, साहित्य व कलाओं की उन्नति प्रभूतमात्रा में हुई थी।

धार्मिक अवस्था

कहा जा चुका है कि ११ वीं शती के समाज की प्रमुख प्रवृत्ति विभिन्नीकरण की थी। जाति-भेद इसी प्रवृत्ति की देन है। धार्मिक क्षेत्र में भी इस प्रवृत्ति का व्यापक प्रभाव पड़ा था। पौराणिक-धर्म के उदय व शंकराचार्य के प्रभाव से बौद्ध-धर्म का भारत से उच्छेद हो गया था। हिन्दू-धर्म ने भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मान कर उसका पृथक् अस्तित्व भी समाप्त कर दिया। अनेक सम्प्रदायों की सृष्टि हो रही थी। अधिकांश लोगों द्वारा नवीन सम्प्रदायों में अपना स्थान निश्चित कर लिये जाने पर शेष लोग उपयुक्त मार्ग-दर्शन के अभाव में अनेक अन्धविश्वासों से ग्रस्त हो गए। इन्हीं लोगों में वज्रयान बौद्ध सम्प्रदाय के तंत्र, मंत्र, पचमकार सेवन आदि का प्रचार हुआ। इतना अवश्य है कि इस नवीन विचारधारा का सामान्य जीवन से निकट का सम्पर्क रहा, इसलिए आगे चल कर इसी परम्परा में गुरु गोरखनाथ और पीछे से कबीर जैसे सुधारक जन्म ले सके। अब तक भिक्षु केवल बौद्ध-सिद्धान्तों के अनुयायी ही हुआ करते थे। अब, भिक्षुकों का अलग वर्ग ही बन गया, जिनका एक भाग किसी भी सिद्धान्त का अनुयायी न होकर केवल समाज का कोढ बन कर पनपने लगा। राजपूतों के उदय से बौद्ध धर्म का रहा सहा रूप भी समाप्त हो गया। केवल पूर्वी बंगाल के पाल शासक अब भी बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान कर रहे थे।[१]

भारत में कुछ समय पहले से पाशुपत सम्प्रदाय अलग रूप से विकसित हो रहा था। तान्त्रिकों को इस सम्प्रदाय में अवलम्बन मिला। वे अपवित्र जीवन बिताते, भस्मी रमाते और अद्भुत स्वर का उच्चारण करते थे। इनमें भी कापालिक और कालमुख अधिक उग्र थे। वे कपाल में भोजन करते व मदिरा-मांस का सेवन करते थे। पाशुपत सम्प्रदाय का अपेक्षाकृत सौम्यरूप काश्मीर में विकसित हुआ था। दक्षिण भारत में वीर शैव या लिंगायत मत का उदय भी इसी समय हुआ था; जिसको चोल तथा पाण्ड्य नरेशों ने आश्रय दिया था। ये लोग वेद को नहीं मानते, जाति-प्रथा का खण्डन करते, विधवा विवाह का समर्थन करते, शिवलिंग का पूजन करते, मुर्दों को गाडते, ब्राह्मणों के सर्वोपरि सम्मान, तीर्थ, श्राद्ध आदि का विरोध करते और गुरु की आज्ञा को सर्वोपरि मानते थे। मध्यकाल में सन्तों के सुधार सम्प्रदायों का सही अर्थों में पूर्वज इस मत को माना जा सकता है।[२]

१. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास · लूनिया
भारत की संस्कृति का इतिहास - डा० मथुरालाल शर्मा

शिव की पत्नी की शक्ति रूप मे उपासना करने वाला एक सम्प्रदाय अलग उठ खडा हुआ था। ये लोग कालिका, दुर्गा आदि रूपो में शक्ति की उपासना करते थे राजपूतो मे इस उपासना का प्रचलन अधिक हुआ। ये लोग पशु व नरवलि भी देते थे। गुजरात के अन्य भागो मे पशु-वलि का प्रचलन अधिक हुआ था। कापालिक लोग भी दक्षिणी राजस्थान, गुजरात और मालवा मे अधिक थे। साधारण लोग उनसे आतंकित थे और साथ ही उनके चमत्कारो मे आस्था भी प्रकट करते थे। चमत्कार दिखाने वालो को सिद्ध पुरुष माना जाता था। ऐसे लोगो की अलग जाति बन गई थी जिन्हे "नाथ" कहा जाता है। ये लोग शिव और शक्ति की मिली-जुली उपासना करते थे और हिं, द्रु, फट् आदि शाबर मन्त्रो मे विश्वास करते थे।

हिन्दू धर्म ही इस समय सार्वभौतिक प्रभुता प्राप्त करता जा रहा था। उक्त मतो के अतिरिक्त सवसे अधिक लोकप्रिय सम्प्रदाय वैष्णवो का था। ये लोग विष्णु के अनेक अवतारो मे विश्वास करते थे। उनकी भक्ति पर जोर देते थे। विष्णु की पूजा का प्रचलन बढ जाने पर भी अन्य देवताओ की उपासना सर्वसाधारण लोग बराबर करते जा रहे थे। राम, कृष्ण, बुद्ध, ऋषभदेव आदि को विष्णु के अवतारो के रूप में स्वीकार करके बहुत पहले एक सर्वसम्मत समन्वित धर्म को विकसित करने के प्रयत्न किए गए थे। ऐसा ज्ञात होता है कि जैन लोग इसे स्वीकार करने मे हिचकिचाते थे। उनकी सम्मति मे यह अर्हत् की शिक्षाओ के विपरीत था। आचार-विचार के मामले में वे महावीर के सिद्धान्तो मे तनिक भी शिथिलता नही आने देना चाहते थे। तत्कालीन जैन-समाज मे प्रचलित चैत्यवास प्रथा को निन्दनीय माने जाने का भी यही कारण ज्ञात होता है।[२]

नव वैष्णव-मतवाद के प्रचार मे दक्षिण भारत का अधिक योग रहा है। ग्यारहवी शती के समाप्त होते-होते यमुनाचार्य जी का और श्रीसम्प्रदाय के सस्थापक रामानुज का आविर्भाव दक्षिण मे ही हुआ था। कुछ लोग शाकर-मत के अद्वैतवाद से इस्लाम के एकेश्वर-वाद की समता देख कर पीछे से मुसलमान भी होने लगे थे परन्तु ऐसा अधिकतर उत्तर पश्चिम भारत मे ही हुआ।

मालवा, राजस्थान और गुजरात मे जैन मत का प्रचार अधिक हुआ था। जैन-मतावलम्बी शासन के उच्च पदो पर काम कर रहे थे। उनके कारण जैनाचार्यों का प्रभाव और भी बढ गया था। भोज, विग्रहराज, सिद्धराज आदि उदार शासको ने जैन धर्म को प्रश्रय देने के साथ ही उन सिद्धातो मे विशेष रुचि दिखाई थी। गुजरात के सोलकियो का समय जैन-साहित्य का स्वर्णकाल उचित ही माना गया है। स्वय जिनवल्लभसूरि ने अनेक स्थानो पर जाकर लोगो को प्रबुद्ध किया था। चैत्यवास प्रथा तत्कालीन जैन-समाज की प्रमुख विशेषता है जिसके विषय मे विस्तार से प्रकाश डालना युक्तिसगत होगा।

१. भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का इतिहास लूनिया

भारत की सस्कृति का इतिहास डा० मथुरालाल शर्मा २. वही।

चैत्यवास

तत्कालीन जैन समाज की सबसे बडी बात जिसने आचार्य जिनवल्लभ के जीवन की गतिविधि को सबसे अधिक प्रभावित किया,वह थी जैन यतियों की चैत्यवास प्रथा। उस मसय श्वेताम्बर समुदाय के यति लोग जिन-मन्दिरो मे रहा करते थे जिनको प्राय. चैत्यगृह कहते थे। साधारणतया जो लोग जैन-धर्म के इतिहास से परिचित नहीं है उनकी समझ में यह नही आ सकता कि जिन-मन्दिर मे वास करने वाले यतियों को किसी समय भी घृणा की दृष्टि से क्यों देखा गया ? परन्तु यदि वे लोग यतियों के शास्त्र-सम्मत व्रत और आचार को अच्छी प्रकार से समझ लें तो उनका भ्रम दूर हो जाएगा। "जैन-शास्त्रो के विधान के अनुसार जैन यतियो का मुख्य कर्तव्य केवल आत्म-कल्याण करना है और उसके आराधन निमित्त शम, दम, तप आदि दशविध यतिधर्म का सतत पालन करना है। जीवन-यापन के निमित्त जहा कही मिल गया वैसा लूखा-सूखा और सो भी शास्त्रोक्त विधि के अनुकूल भिक्षान्न का उपभोग कर, अहर्निश ज्ञान-ध्यान मे निमग्न रहना और जो कोई मुमुक्षुजन अपने पास चला आवे उसे एक मात्र मोक्षमार्ग का उपदेश करना है। इसके सिवा यति को न गृहस्यजनो का किसी प्रकार का ससर्ग ही कर्त्तव्य है और न किसी प्रकार का किसी को उपदेश ही वक्तव्य है। किसी स्थान मे वहुत समय तक नियतवासी न वनकर सदैव परिभ्रमण करते रहना और वसति मे न रहकर गांव के वाहर जीर्ण-शीर्ण देवकुलो के प्रांगणों मे एकान्त निवासी होकर किसी न किसी तरह का सदैव तप करते रहना ही जैन यति का शास्त्र विहित एक मात्र जीवन-क्रम है"।[1] जैन-सूत्रो के अनुसार साधुओ के लिये जिस आचार का विधान है उसके अनुसार जैन साधु को सक्षेप मे निम्नलिखित वातो का पालन करना आवश्यक था:

१ परिग्रह का अभाव अर्थात् धन, द्रव्य, दास, दासी, चतुष्पद आदि किसी भी वस्तु का सग्रह न करना।

२ एक स्थान पर स्थायी रूप से न रहना।

३ मधुकरी वृत्ति से ४२ दोष रहित भोजन ग्रहण करना।

४ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।

५. स्त्री, पशु रहित स्थान मे ठहरना।

६ अगराज, ताम्बूल, तेल, इत्र आदि का प्रयोग न करना।

७ क्रय, विक्रय आदि किसी भी किस्म का व्यापार न करना और न उससे प्राप्त धन को ही स्वीकार करना।

८ परिमित आहार।

९. क्षमा, लघुता आदि दशविध यति-धर्म का पालन करना।

१. कथाकोष प्रस्तावना पृ० ३-४.

चैत्यवासी लोग इन नियमो की सर्वथा अवहेलना करते थे। इन लोगो के आचार की कडी आलोचना संभवत सर्वप्रथम हमे आचार्य हरिभद्रसूरि कृत संवोधप्रकरण मे मिलती है। उक्त आचार्य चैत्यवासियो का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि "ये कुसाधु चैत्यो और मठो मे रहते हैं। पूजा करने का आरम्भ करते है। देव द्रव्य का उपभोग करते हैं। जिन मन्दिर और शालायें वनवाते हैं। रग, विरगे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहिनते हैं। बिना नाथ के वैलो के सदृश स्त्रियो के आगे गाते है। आर्यिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते है और तरह तरह के उपकरण रखते हैं। सचित्त जल, फल, फूल आदि द्रव्य का उपभोग करते है। दिन मे दो-तीन बार भोजन करते और ताम्बूल, लवगादि भी खाते है। ये लोग मुहूर्त निकालते हैं। निमित्त बतलाते हैं तथा भभूत देते हैं। ज्योनारो मे मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं। आहार के लिये खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य धर्म नही बतलाते। स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी आलोचन-प्रायश्चित्त आदि करवाते है। स्नान करते, तेल लगाते, शृंगार करते और इत्र फुलेल का उपयोग करते है। अपने हीनाचारी मृत गुरुओ की दाहभूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियो के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रिया उनके गुणो के गीत गाती हैं। सारी रात सोते, क्रय विक्रय करते और प्रवचन के वहाने व्यर्थ वकवाद मे समय नष्ट करते हैं। चेला वनाने के लिये छोटे-छोटे वच्चो को खरीदते, भोले लोगो को ठगते और जिन प्रतिमाओ का क्रय विक्रय करते हैं। उच्चाटन करते और वैद्यक, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, गंडा, तावीज आदि मे कुशल होते हैं। ये सुविहित साधुओ के पास जाते हुए श्रावको को रोकते हैं। शाप देने का भय दिखाते हैं। परस्पर विरोध रखते हैं और चेलो के लिये आपस मे लड पडते है[1]।

चैत्यवास का यह चित्र आठवी शताव्दी का है। इसके पश्चात् तो चैत्यवासियो का आचार उत्तरोत्तर शिथिल ही होता गया और कालान्तर मे चैत्यालय, भ्रष्टाचार के अड्डे वन गये तया वे शासन के लिये अभिशाप रूप हो गये। आचार्य जिनवल्लभ के पूर्व चैत्यवासी यतियो की जो अवस्था थी उसके विषय मे मुनि जिनविजयजी लिखते है[2]

"इनके समय से श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय मे उन यतिजनो के समूह का प्रावल्य था जो अधिकतर चैत्यो अर्थात् जिन मन्दिरो मे निवास करते थे। ये यतिजन जैन देव मन्दिर, जो उस समय चैत्य के नाम से विशेष प्रसिद्ध थे, उन्ही मे अहर्निश रहते, भोजनादि करते, धर्मोपदेश देते, पठन-पाठनादि मे प्रवृत्त होते और सोते बैठते। अर्थात् चैत्य ही उनका मठ या वासस्थान था और इसलिये वे चैत्यवासी के नाम से प्रसिद्ध हो रहे थे। इसके साथ उनके आचार विचार भी वहुत से ऐसे शिथिल अथवा भिन्न प्रकार के थे जो जैन-शास्त्रो मे वर्णित निर्ग्रन्थ जैन-मुनि के आचारो से असगत दिखाई देते थे। वे एक तरह से मठपति थे।

शास्त्रकार शान्त्याचार्य, महाकवि सूराचार्य, मन्त्रवादी वीराचार्य आदि जैसे प्रभावशाली, प्रतिष्ठा सम्पन्न और विद्वदग्रणी चैत्यवासी यति-जन उस जैन-समाज के धर्माध्यक्षत्व का गौरव प्राप्त कर रहे थे। जैन-समाज के अतिरिक्त आम जनता मे और राज-दरबार मे

१ यु० जिनदत्तसूरि प्र० पृ० ८-९
२ कथाकोष प्र० पृ० ३

भी इन चैत्यवासी यतिजनो का बहुत बड़ा प्रभाव था। जैन-धर्मशास्त्रो के अतिरिक्त ज्योतिष, वैद्यक और मन्त्र, तन्त्रादि शास्त्रों और उनके व्यावहारिक प्रयोगो के विषय मे भी ये जैन यतिगण बहुत विज्ञ और प्रमाणभूत माने जाते थे। धर्माचार्य के खास कार्यों और व्यवसायो के सिवाय ये व्यावहारिक विषयो मे भी बहुत कुछ योगदान किया करते थे। जैन गृहस्थो के बच्चो की व्यावहारिक शिक्षा का काम प्राय इन्ही यतिजनो के अधीन था और इनकी पाठशालाओं मे जैनेतर गणमान्य सेठ साहुकारो एवं उच्चकोटि के राज-दरबारी पुरुषो के बच्चे भी बड़ी उत्सुकता पूर्वक शिक्षालाभ प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार राजवर्ग और जन समाज मे इन चैत्यवासी यतिजनो की बहुत कुछ प्रतिष्ठा जमी हुई थी और सब बातो मे इनकी धाक बैठी हुई थी। पर इनका यह सब व्यवहार जैन-शास्त्र की दृष्टि से यतिमार्ग के सर्वथा विपरीत और हीनाचार का पोषक था।"

गुरु-परम्परा

आचार्य वर्धमानसूरि

चैत्यवास की इस दुर्दशा को देखकर कई चैत्यवासी यतिजनो के मन मे भी क्षोभ उत्पन्न होता था, परन्तु उसका प्रतीकार करने का साहस विरले ही कर सकते थे। ऐसे साहसी और सच्चे यतियों मे श्री वर्धमानाचार्य का नाम लिया जा सकता है, जिन्होने ८४ चैत्यस्थानो के अधिकार और वैभव को छोड कर सच्चे साधु-जीवन को बिताने का संकल्प किया। प्रभावकचरित मे आचार्य वर्धमान के विषय मे यह उल्लेख मिलता है -

इतः सपादलक्षेऽस्ति, नाम्ना कूर्च्चपुरं पुरम्।
मघोकुर्चकमाधातु, यदल शास्त्रकानने ॥३१॥

अल्लभूपालपौत्रोऽस्ति, प्राक् पौत्रीव धराधर।
श्रीमान् भुवनपालाख्यो, विख्यातः सान्वयाभिध. ॥३२॥

तत्रासीत् प्रशमश्रीभिर्वर्द्धमानगुणोदधि.।
श्रीवर्धमान इत्याख्यः, सूरिः संसारपारगः ॥३३॥

चतुभिरधिकाशीतिश्चैत्यानां येन तत्यजे।
सिद्धान्ताभ्यासतः सत्यतत्त्वं विज्ञाय संसृते ॥३४॥

अन्यदा विहरन् धारापुर्यां धाराधरोपमः।
आगाद् वाग्ब्रह्मधाराभिर्जनमुज्जीवयन्नयन् ॥३५॥

इस प्रकार पता चलता है कि वर्धमानसूरि स्वयं चैत्यवासी थे, परन्तु उन्हे शास्त्रो के अध्ययन और अभ्यास से आडम्बर पूर्ण चैत्यवासी जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई और चैत्यवासियो के शिथिलाचार तथा भ्रष्टाचार से क्षोभ उत्पन्न हुआ। इसी के फलस्वरूप उन्होने चैत्यवास को सर्वथा छोडकर, त्याग और तपस्या के जीवन का संकल्प लेकर जीवन

पर्यन्त उच्च त्याग का प्रयत्न किया। गणधर-सार्द्धशतक बृहद्वृत्ति एवं युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार श्री वर्धमानाचार्य अंभोहर प्रदेश के किसी चैत्य से सम्बन्ध रखते थे। कहा जाता है कि वहा जिनचन्द्राचार्य नाम के एक चैत्यवासी साधु थे जो ८४ ठिकानो के नायक थे। इन्ही के शिष्य वर्धमान थे। "होनहार बिरवान के होत चिकने पात" इस कहावत के अनुसार वर्धमान के भावी जीवन के बीज उनके प्रारम्भिक जीवन मे ही प्रकट हो गये। घटना इस प्रकार है: वर्धमान अपने गुरु जिनचन्द्राचार्य से सिद्धान्त-वाचना ले रहे थे। उसमे जिन-मन्दिर के विषय की ८४ आशातनाओ के प्रसग का वर्णन आया। इनका वर्णन पढकर वर्धमान के मन मे स्वाभावत ही इन आशातनाओ को दूर करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। इन्ही के निवारण मे ही कल्याण समझ कर उन्होने अपने गुरु से अपने मन की बात कही। गुरु ने सोचा कि उनके शिष्य के विचार तो चैत्यवास की जड को ही हिला देने वाले हैं और यदि उसकी यही विचारधारा चलती रही तो अपने इस योग्य शिष्य को ही खो बैठेंगे। अत उन्होने वर्धमान को मोहने के लिये उन्हे आचार्य बनाकर अपना सारा वैभवपूर्ण अधिकार उनको दे डाला। परन्तु सच्चा विराग प्रलोभनो की शृंखलाओ में नही बाधा जा सकता। जिनचन्द्राचार्य के सारे प्रयत्न वर्धमान की विराग भावना को कुचलने मे असमर्थ रहे और अन्त मे उनको विवश हो कर वर्धमान को विदा देनी पडी। गुरु की अनुमति लेकर कुछ यतियो के साथ वर्धमान वहा से निकले और दिल्ली पहुँचे। वहा पर उन्हे उद्योतनाचार्य मिले जो सदा ही शास्त्र-सम्मत संयमी-जीवन का पालन करते हुए विचरण किया करते थे। वर्धमान उनके शिष्य बने और उद्योतनाचार्य ने उन्हे योग्य समझ कर आचार्य पद से विभूषित किया।[१]

वर्धमानाचार्य[२] ने यद्यपि स्वय चैत्यवास त्याग करके त्याग-मय जीवन ग्रहण किया था, परन्तु फिर भी उनके द्वारा चैत्यवास के प्रति किसी व्यापक आन्दोलन का जन्म न हो सका। इस आन्दोलन का सूत्रपात उनके योग्य शिष्य श्री जिनेश्वरसूरि के हाथो से हुआ। जिनके जीवन के विषय मे हमे प्रभावकचरित आदि से पर्याप्त सामग्री मिलती है।

१ कहा जाता है कि सूरिमन्त्र प्राप्त करने पर वर्धमानसूरि को यह सकल्प हुआ कि इस सूरिमन्त्र का अधिष्ठाता कौन है? यह जानकारी प्राप्त करने के लिये उनने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र उपस्थित हुआ और उसने कहा कि मैं इसका अधिष्ठाता हूँ। साथ ही इन्द्र ने इस मन्त्र के प्रत्येक पद का क्या फल है, इसका भी ज्ञान आचार्य को करवाया। आचार्य को इस मन्त्र का फिर बहुत सस्फुरण होने लगा। अत वे सस्फुराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

(यु० गु०)

२ आपके प्रणीत ४ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं

१ उपदेशपद टीका (र० स० १०५५)

२ उपदेशमाला बृहद्वृत्ति

३ उपमितिभवप्रपचकथा समुच्चय

४. वीरपारणक स्तोत्र गा ४६

५ वर्धमानजिनस्तुति गा० ४ (आदिपद-पापा बाधानि) इस स्तुति के विषय मे गणि श्री बुद्धिमुनिजी ने सूचित किया है।

आचार्य जिनेश्वर और पाटन शास्त्रार्थ विजय

'प्रभावकचरित' के अनुसार ये मूलत मध्यदेश अर्थात् वर्त्तमान उत्तरप्रदेश का मध्यभाग के निवासी थे । ये कृष्ण नामक ब्राह्मण के पुत्र थे । इनका नाम पहले श्रीधर था और इनके एक भाई था जिसका नाम श्रीपति था । दोनो भाई वडे प्रतिभाशाली और मेधावी थे । उन्होने वेद, वेदाग, इतिहास, पुराण, पड्दर्शन शास्त्र और स्मृतियो का अध्ययन विशेप मनोयोग से किया था । विद्या-पारगत होकर उनमे देशाटन की प्रवृत्ति जगी और वे घूमते-घूमते तत्कालीन महासास्कृतिक केन्द्र धारानगरी मे पहुँचे । वहा पर न केवल राजा ही विद्वानो और विद्या का आदर करता था अपितु वहुत से सेठ भी राजा का इस वात मे अनुकरण करते थे । ऐसा ही उदारमना और दानशील एक सेठ लक्ष्मीपति नाम का था । वह जैन-धर्मावलम्वी था और वाहर से जो विद्वान् अतिथि आते थे उनका स्वागत-सत्कार करने के लिये सदा तैयार रहता था । इसी सेठ के यहा ये दोनो भाई पहुचे । ये आकार-प्रकार से वडे तेजस्वी और प्रतिभा-सम्पन्न प्रतीत होते थे । लक्ष्मीपति इनसे वहुत प्रभावित हुआ और श्रद्धा पूर्वक इनको निरन्तर भोजन कराने लगा । वे प्रतिदिन उसके यहा भोजन करने जाते और उसके मकान और दुकान पर होने वाले सारे व्यापार को भी देखते थे । सेठ वहुत वडा व्यवसायी था और उसके वहा रुपये का लेन-देन वहुत अधिक होता था । उन दिनो मकान या दुकानो की दीवारो पर तात्कालिक स्मृतिरूप हिसाव लिखने की प्रथा थी । इस सेठ के यहा भी यह हिसाव-किताव दीवाल पर लिखा रहता था । श्रीधर और श्रीपति की स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी कि प्रतिदिन देखते-देखते उन दीवारो पर लिखा हुआ सारा हिसाव-किताव उन्हे याद हो गया ।

एक वार सेठ के मकान मे आग लग गई । उसकी वहुत सी वस्तुएं जलकर भस्म हो गई, परन्तु सेठ को इन वस्तुओ के जल जाने से इतना दु ख नही हुआ जितना दीवार पर लिखे हुए हिसाव-किताव के नष्ट हो जाने से । वह सोचता था कि जो सम्पति नष्ट हो गई है वह तो फिर हो सकती है परन्तु हिसाव-किताव नष्ट हो जाने से उसे अपने व्यापारियो के साथ जिस झंझट और झगडे का व्यवहार करना पडेगा, उससे उसकी धर्म-भावना को भयंकर आधात पहुच सकता है । सेठ की इस कठिनाई को देख कर इन दोनो भाईयो ने कहा कि दीवार पर जो कुछ लिखा था वह तो हम लोगो को अक्षरश याद है । यह सुनकर सेठ अत्यन्त प्रसन्न हुआ और इन दोनो भाईयो ने सारा हिसाव-किताव अथ से लेकर इति तक व्योरे के साथ ज्यो का त्यो लिखवा दिया । इस घटना से दोनो भाइयो का उस सेठ के घर मे वहुत अधिक आदर-सत्कार होने लगा और वे उसी के घर पर रहने लगे ।

इसी सेठ ने इन दोनो भाइयो का साक्षात्कार वर्धमानाचार्य से करवाया । ये दोनो भाई वडे ही शान्त और संयमी थे और उनका चरित्र वहुत ही उदात्त था । इसलिये सेठ ने सोचा कि आचार्य के दर्शन करके ये लोग वहुत प्रसन्न होगे । श्रीधर और श्रीपति जव वर्धमानाचार्य के पास पहुँचे तो वे उनके तेज और तप से अत्यन्त प्रभावित हुए । आचार्य ने भी सुन्दर लक्षणो से युक्त उनके आकार-प्रकार को देखकर संतोप प्राप्त किया । दोनो भाई निरन्तर आचार्य के पास आने जाने लगे और शास्त्रचर्चा करके सन्तोष ग्रहण करने लगे ।

धीरे-धीरे उनके मन मे दीक्षा के लिये इच्छा जगी और उनकी प्रार्थना पर तथा सेठ की अनुमति पर वर्धमानाचार्य ने उन दोनो को दीक्षा प्रदान की । दीक्षा लेते ही उन्होने जैन-शास्त्रो का अध्ययन बड़ी लगन तथा तत्परता के साथ प्रारम्भ किया और वे थोडे ही समय मे उनमे पारगत हो गए । वर्धमानाचार्य ने यह देखकर, उनकी योग्यता से प्रभावित होकर उनको आचार्यपद प्रदान किया । उस समय से वे क्रमशः जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के नाम से प्रख्यात हुए ।

वर्धमानाचार्य को इन दोनो भाईयो की प्रतिमा एवं योग्यता पर विश्वास था और उन्होने समझ लिया था कि चैत्यवासियो के मिथ्याचार का प्रतिकार इन्ही के द्वारा हो सकता है । इसीलिये उन्होने इन दोनो को यह भार ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया और आदेश दिया कि तुम लोग अणहिल पत्तन को जाओ और वहा सुविहित साधुओ के लिये जो विघ्न-बाधाएं हो उनको अपनी शक्ति और बुध्दि से दूर करो

जिनेश्वरस्ततः सूरिरपरो बुद्धिसागरः ।
नामस्यां विश्रुतो पूज्यैर्विहारेऽनुमतो तदा ॥४३॥

ददे शिक्षेति तैः श्रीमत्पत्तने चैत्यसूरिभिः ।
विघ्नं सुविहितानां स्यात्तत्रावस्थानवारणात् ॥४४॥

युवाभ्यामपनेतव्य शक्त्या बुद्ध्या च तत्किल ।
यदिदानीन्तने काले नास्ति प्राज्ञो भवत्समः ॥४५॥

इन दोनो ने भी गुरु की आज्ञा को सिर पर धारण कर गुर्जर प्रदेश की ओर विहार करना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे वे अणहिलपत्तन (पाटण) मे पहुच गये ।

पत्तन मे इनको बडी कठिनाई का सामना करना पडा । चैत्यवासियो का प्रमुख गढ होने के कारण, इन लोगो को वहा कही रहने का भी स्थान न मिला । वे घर-घर घूमते फिरे । अन्त मे वे वहा के राजा दुर्लभराज के पुरोहित सोमेश्वर के मकान पर पहुँचे । वहा उन्होने अपनी प्रतिभा एवं विद्वत्ता के सकेत स्वरूप वेद मंत्रो का उच्चारण किया और उन्होने वेद के ब्राह्म, पैत्य तथा दैवत रहस्यो का बडी योग्यता पूर्वक उद्घाटन किया । उस वेद-ध्वनि को सुनकर पुरोहित सोमेश्वर स्तम्भित सा हो गया । उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि उसकी समग्र इन्द्रियो की चेतनता उसकी श्रुतियो[1] मे ही आगई है । उसने अपने भाई द्वारा इन दोनो भाईयो को बुलवाया । उनके आने पर सोमेश्वर अपना आसन छोडकर खडा हो गया और उनको आसन प्रदान किया । परन्तु वे अपने शुध्द कम्बलो पर बैठ गये । पुरोहित को आशीर्वाद देते समय दोनो आचार्यो ने जो शब्द कहे, उनमे न केवल उनका अगाध पाण्डित्य प्रकट हो रहा था, अपितु धार्मिक सहिष्णुता और उदारता भी प्रकट हो रही थी । उन्होने कहा

अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षु. स शृणोत्यकर्ण ।
स वेत्ति विश्व न हि तस्य वेत्ता, शिवो ह्यरूपी स जिनोऽवताद् व ॥

१ तद्ध्वानध्याननिर्मग्नचेता स्तम्भितवत् सदा ।
समग्रेन्द्रियचैतन्य, श्रुत्योरेव स नीतवान् । ५२ । (प्र० च०)

यह सुनकर पुरोहित बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उनके प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाते हुए पूछा कि "आप कहां पर ठहरे हुए हैं ?" इसके उत्तर मे उन्होंने अपनी सारी कठिनाई पुरोहित के सामने रक्खी। उन्होंने बतलाया कि यहां चैत्यवासियों का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण हमको कोई ठहरने का स्थान नहीं देता। राजपुरोहित ने विद्वानों और महात्माओं का आदर करना अपना कर्त्तव्य समझकर अपनी "चन्द्रशाला" मे इनको रहने के निमित्त स्थान दे दिया। आचार्य-द्वय भी अपने साधुओं सहित वहा रहने लगे और ४२ दोषों से मुक्त निस्पृहभाव से भिक्षा ग्रहण करने लगे।

गणधर सार्द्धशतक वृत्ति तथा युग० गुर्वावली मे इस प्रसंग को कुछ विस्तार के साथ दिया गया है। उन ग्रन्थों के अनुसार वर्धमानसूरि अपने १८ शिष्यों सहित पाटन गये थे और वहा कोई स्थान न मिलने पर कहीं किसी खुली पडशाल मे डेरा डाला। तब जिनेश्वर पंडित ने कहा कि "गुरु महाराज" इस तरह बैठे रहने से क्या होगा ? गुरुजी ने कहा—"तो फिर क्या किया जाय ?" जिनेश्वर बोले—"यदि आपकी आज्ञा हो तो वह सामने जो बडा सा मकान दिखाई देता है, वहां मैं जाऊ और देखूं कि कहीं हमे कोई आश्रय मिल सकता है या नही ? गुरुजी ने कहा "अच्छी बात है, जाओ।" फिर गुरुजी के चरणो को नमस्कार करके जिनेश्वर उस मकान पर पहुँचे।

वह बडा मकान नृपति दुर्लभराज के राजपुरोहित का था। उस समय पुरोहित स्नानाभ्यंगन करवा रहा था। जिनेश्वर ने एक सुन्दर भाव वाला संस्कृत श्लोक बनाकर उसको आशीर्वाद दिया। उसे सुनकर पुरोहित खुश हुआ, बोला, कोई विचक्षण व्रती मालूम होता है।

पुरोहित के मकान के अन्दर के भाग मे बहुत से छात्र वेद-पाठ कर रहे थे। इनके पाठ में उन्हे कहीं-कहीं अशुद्ध उच्चारण सुनाई दिया। तब जिनेश्वर ने कहा "यह पाठोच्चार ठीक नही है, ऐसा करना चाहिये।"

यह सुनकर पुरोहित ने कहा अहो ! शूद्रों को वेदपाठ करने का अधिकार नहीं है। इसके उत्तर मे जिनेश्वर ने कहा हम शूद्र नहीं हैं। सूत्र और अर्थ दोनो ही दृष्टि से हम चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं।

पुरोहित सुनकर सन्तुष्ट हुआ। बोला किस देश से आ रहे हो ?

जिनेश्वर दिल्ली की तरफ से।

पुरोहित—कहा पर ठहरे हुए हो ?

जिनेश्वर "शुल्कशाला (दाणचौकी) के दालान मे हम सब अपने गुरु के सब १८ यति हैं। यहा का सब यतिगण हमारा विरोधी होने से हमे कही कोई उतरने की जगह नहीं दे रहा है।

पुरोहित ने कहा—मेरे उस चतु शाला वाले घर मे एक पडदा लगाकर, एक पड-शाल मे आप लोग ठहर सकते हैं। उधर के एक दरवाजे से बाहर आ जा सकते हैं। आइये और सुख से रहिये।

प्रभावकचरितकार के अनुसार इन साधुओं के आने से पुरोहित के घर पर नगर के पण्डितों और विद्वानों का जमघट होने लगा। प्रतिदिन मध्याह्न को याज्ञिक, स्मार्त, दीक्षित, अग्निहोत्री आदि ब्राह्मण आते और शास्त्र-चर्चा करते। कहते हैं कि वहां ऐसा विद्याविनोद होने लगा, जैसा ब्रह्मा की सभा में ही संभव हो सकता था[1]। इसकी प्रसिद्धि नगर में फैली और चैत्यवासी लोग भी वहां आये। इन वसतिवासी साधुओं की इतनी प्रतिष्ठा देखकर उनको बहुत क्रोध आया और उन्होंने आचार्य वर्धमान तथा उनके शिष्यों से कहा कि 'आप नगर से बाहर चले जाईये, क्योंकि यहां पर चैत्य-बाह्य श्वेताम्बर लोग नहीं ठहर सकते।' इस कथन पर राज-पुरोहित ने आपत्ति की और कहा कि-'इस बात का निर्णय तो राज-सभा में होगा।' ऐसा कहे जाने पर वे सब अपने समुदाय सहित राजा के पास गये। जिनपालोपाध्याय और सुमति गणि के प्रबन्धों के अनुसार यह घटना कुछ दूसरे ढंग से हुई है। कहा जाता है कि जब वसतिवासी साधुओं के नगर में आने की बात चारों ओर फैल गई तो चैत्यवासियों ने उसका प्रतिकार करने का निश्चय किया। उन दिनों चैत्यालयों में पाठशालाएं लगा करती थीं। जिनमें विभिन्न वर्गों के बहुत से विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। चैत्यवासियों ने इन्हीं बच्चों को अपने हाथ की कठपुतली बनाया। उनको बतासे इत्यादि का प्रलोभन देकर इस बात के लिये राजी कर लिया कि वे नगर में यह समाचार फैलायें कि "कुछ बाहरी गुप्तचर यतियों के वेष में नगर में आए हुए हैं, जिनको कि राजपुरोहित ने अपने घर पर शरण दे रखी है।" फैलते-फैलते यह सारी खबर राजा के कान में पहुँची और उसने तुरन्त पुरोहित को बुलाकर पूछा। पुरोहित ने इस बात को बिलकुल ही झूठ बतलाया और उसने कहा कि, मेरे मकान पर जो महात्मा लोग ठहरे हैं वे साक्षात् धर्म की मूर्ति हैं और उन ठहरे हुये साधुओं पर जो भी दोष लगाया गया है वह बिल्कुल झूठा है। उसने यह भी घोषणा की कि यदि कोई इन साधुओं को गुप्तचर सिद्ध कर दे तो मैं एक लाख पारुत्थ (एक तरह की स्वर्ण मुद्रा) इनाम में दूंगा। प्रभावकचरित के अनुसार पुरोहित ने राजसभा में केवल यही कहा कि मैंने केवल गुण-ग्राहकता की दृष्टि से ही इन साधुओं को आश्रय दिया है और इन चैत्यवासियों ने इनका बहुत अपमान किया है।[2] इसमें यदि मेरा कोई अपराध हो तो मैं दण्डग्रहण करने के लिये तैयार हूँ। कहते हैं कि राजा समदर्शी था। वह मुस्करा कर बोला

> मत्पुरे गुणिनः कस्माद्देशान्तरत आगताः।
> वसन्त केन वार्यंत को दोषस्तत्र दृश्यते ॥

इस पर चैत्यवासियों ने राजा को याद दिलाया कि उस नगर के संस्थापक चापोत्कट वंशीय वनराज का पालन-पोषण श्री शीलगुणसूरिजी ने किया था और इसी के फलस्वरूप वनराज ने "वनराज-विहार" नामक पार्श्वनाथ मन्दिर की स्थापना करके यह व्यवस्था दे दी

१ मध्याह्ने याज्ञिकस्मार्तदीक्षितानग्निहोत्रिणः।
आहूय दर्शितौ तत्र निर्व्यूढौ तत्परीक्षया ॥६२॥
यावद् विद्या विनोदोऽस्य विरिञ्चेरेव पर्षदि [प्र० च०]

२. मया च गुणग्राह्यत्वात् स्थापितावाश्रये निजे।
भट्टपुत्रा अमीभिर्मे प्रहिताश्चैत्यवासिभिः ॥६८॥

थी कि 'यहाँ केवल चैत्यवासी यतिजन ही ठहर सकते हैं।' राजा ने अपने पूर्वजों की व्यवस्था का पालन करना अपना धर्म बतलाते हुए कहा कि "गुणियों का सन्मान भी तो अवश्य होना चाहिये" इसलिये राजा ने चैत्यवासियों से आये हुए मुनियों को वहां रहने देने के लिये आग्रह किया। कहते हैं कि इसी समय ज्ञानदेव नामक शैवाचार्य जो कि राजा का गुरु था वहां आ पहुँचा। राजा ने सत्कार पूर्वक गुरु का स्वागत करके उनसे निवेदन किया 'हे प्रभो ! ये जैन ऋषि लोग यहां आये हुए हैं, इनको आप उपाश्रय प्रदान करें।' ऐसा सुनकर वह तपस्वी शैव हंसते हुए बोला "महाराज ! आप गुणियों का सत्कार कर रहे हैं, यह बहुत अच्छी बात है। मैं इसको अपने उपदेशों में होने वाले फलों की निधि समझता हूं। वस्तुतः शिव और जिन एक ही हैं। केवल मूर्खतावश उनको और मान लिया गया है। दर्शनों में भेद मानना मिथ्यामति का चिह्न है।"[1] ऐसा कहकर उन्होंने "त्रिपुरुष प्रासाद" नामक मुख्य शिव-मन्दिर के पास ही कणहट्टी में उपाश्रय बनवाने के लिये अनुमति प्रदान की और एक ब्राह्मण को यह कार्य करने के लिये नियुक्त किया और थोड़े दिनों में ही उपाश्रय तैयार हो गया। संभवतः इसी समय से वसतियों अर्थात् उपाश्रयों की परम्परा शुरु हो गई। प्रभावकचरितकार ने लिखा है

ततः प्रभृति सञ्जज्ञे वसतीनां परम्परा।
महद्भिः स्थापितं वृद्धिमश्नुते नात्र संशयः ।८६॥

गणधर सार्द्धशतक बृहद्वृत्ति तथा युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार चैत्यवासी लोग केवल उक्त दो ही प्रयत्न करके चुप नहीं बैठ गये अपितु उन्होंने एक वाद-विवाद में नवागन्तुक मुनियों को नीचा दिखलाने का भी प्रयत्न किया। वाद-विवाद राजा दुर्लभराज[2] के सन्मुख होना तय हुआ। स्थान पंचासर पार्श्वनाथ का बड़ा मन्दिर चुना गया। कहते हैं कि निश्चित दिवस पर सूराचार्य के नेतृत्व में ८४ चैत्यवासी आचार्य खूब सज-धज कर वहां पर उपस्थित हुए। ठीक समय पर राजा भी वहां आ गया और आचार्य वर्धमान तथा उनके शिष्य आदि भी वहां पर पधारे। राजा ने दोनों पक्षों के लोगों को ताम्बूल आदि से सत्कार करना चाहा। चैत्यवासियों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। परन्तु जब वर्धमान के पक्ष की बारी आई तो उन्होंने उत्तर दिया कि साधुओं को ताम्बूल भक्षण का निषेध है और इसका खाना गोमांस भक्षण के बराबर है:—

"ब्रह्मचारी यतीनां च विधवानां च योषिताम्।
ताम्बूलभक्षणं विप्र गोमांसान्न विशिष्यते ।"

इसके पश्चात् शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। एक ओर से पण्डित जिनेश्वर और दूसरी ओर से सूराचार्य थे। शास्त्रार्थ सूराचार्य ने प्रारम्भ किया। उनका कहना था कि 'जिनगृह-

१ गुणिनामर्चनां यूयं, कुरुध्वे विधुर्तनसाम्। सोऽस्माकमुपदेशानां फलपाकश्रियां निधिः ॥८५॥
शिव एव जिनो बाह्यत्यागात् परपदस्थितः। दर्शनेषु विभेदो हि, चिह्नं मिथ्यामतेरिदं ॥८६॥ [प्र० च]

२ श्रीमान् दुर्लभराजाख्यस्तत्र चासीद् विशांपतिः।
गीष्पतेरप्युपाध्यायो नीतिविक्रमशिक्षणे ।४८। [प्रभावक चरित]
राज्यप्रधानपुरुषैराकारित श्रीदुर्लभराजमहाराजोऽपि महता भटचटपरिवारेणागत्योपविष्टस्तत्र (जिनेश्वरसूरिचरित्र कथाकोष परिशिष्ट पृ० १२)

वास ही मुनियो के लिये समुचित है और वही पर निरपवाद ब्रह्मव्रत का पालन संभव हो सकता है।" उनका कहना था कि "वसतिवास अपवाद से रहित नही है, इसलिये त्याज्य है।" सूराचार्य ने अनेक युक्तियो के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन किया, परन्तु पडित जिनेश्वर ने उन सभी युक्तियों का खण्डन बडी योग्यता के साथ करते हुए वसतिमार्ग का प्रतिपादन किया। उन्होने अत्यन्त स्पष्ट और कटु आलोचना करते हुए चैत्यवास के तत्कालीन कलुषित और अपवाद पूर्ण वातावरण को मुनि-जीवन के लिये सर्वथा अनुपयुक्त तथा असंगत बतलाया। पंडित जिनेश्वर की वाक्पटुता, अकाट्य तर्क शैली तथा प्रकाण्ड-पाण्डित्य से न केवल उनके प्रतिपक्षी ही पराभूत और पराजित हुए अपितु वहा पर बैठे हुए निष्पक्ष विद्वान् तथा गणमान्य लोग भी अत्यन्त प्रभावित हुए। कहा जाता है कि इसी के फलस्वरूप राजा दुर्लभराज ने सं० १०६६-१०७८ के मध्यकाल मे करडी हट्टी (प्रभावकचरितानुसार, क्रीहिहट्टी) मे वसतिमार्गियों के निवास के लिये एक स्थान प्रदान किया और इस प्रकार गुजरात मे वसति-मार्ग का सर्वप्रथम आविर्भाव हुआ।

खरतरविरुद-प्राप्ति

गणधरसार्द्ध शतक वृहद्वृत्ति एवं युगप्रधानाचार्य गुर्वावली मे आचार्य जिनेश्वर से सम्बन्धित और भी कई घटनाये दी हुई हैं, परन्तु आचार्य जिनवल्लभ तथा उनके गच्छ एवं संदेश को समझने के लिए हमे उनकी विशेष आवश्यकता नही है। ऊपर के वर्णन से इतना स्पष्ट है कि आचार्य जिनेश्वर ने जो उग्र आन्दोलन चलाया वह चैत्यवासियो के निर्मूलन का आन्दोलन था। इसका प्रमाण हमे उनके चैत्यवास विरोधी उस विचारधारा मे भी मिलता है जिसकी अभिव्यक्ति इन विभिन्न ग्रन्थो मे भी स्थान स्थान पर हुई है।

इन्ही के प्रारंभ किये हुए कार्य को उनके अनुयायी अभयदेवाचार्य, देवभद्राचार्य, वर्धमानाचार्य, जिनवल्लभाचार्य, जिनदत्तसूरि, जिनपतिसूरि आदि ने अपने-अपने ढग से सम्पन्न करने की परम्परा को जारी रखा। और यह कहना भी असंगत न होगा कि इन्ही के प्रयत्नो के फल स्वरूप १३ वी शती के अन्तिम चरण तक चैत्यवास प्रथा नष्ट सी हो गई। इसी प्रसंग को लेकर मुनि जिनविजयजी लिखते हैं[1] :

"शास्त्रोक्त यतिधर्म के आचार और चैत्यवासी यतिजनो के उक्त व्यवहार मे परस्पर बडा असामंजस्य देखकर और श्रमण भगवान् महावीर उपदिष्ट श्रमण धर्म की इस प्रकार प्रचलित विप्लवदशा से उद्विग्न होकर जिनेश्वरसूरि ने उसके प्रतिकार के निमित्त अपना एक सुविहित-मार्ग-प्रचारक नया गण स्थापित किया और उन चैत्यवासी यतियो के विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन शुरु किया। × × चौलुक्य नृपति दुर्लभराज की सभा मे चैत्यवासी

१ कथाकोष प्र० पृ० ४।

पक्ष के समर्थक अग्रणी सूराचार्य जैसे महाविद्वान् और प्रवल सत्ताशील आचार्य के साथ शास्त्रार्थ कर उसमे विजय प्राप्त किया। × × अनेक प्रभावशाली और प्रतिभाशाली व्यक्तियो ने उनके पास यति दीक्षा लेकर उनके सुविहित शिष्य कहलाने का गौरव प्राप्त किया। उनकी शिष्य-सन्तति वहुत वढी और वह अनेक शाखा-प्रशाखाओ मे फैली। उसमे वडे-वड़े विद्वान्, क्रियानिष्ठ और गुणगरिष्ठ आचार्य-उपाध्यायादि समर्थ साधु-पुरुष हुए। नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि, संवेगरंगशालादि ग्रन्थो के प्रणेता जिनचन्द्रसूरि, सुरसुन्दरीचरित्र के कर्ता धनेश्वर अपरनाम जिनभद्रसूरि, आदिनाथ चरित्रादि के रचयिता वर्धमानसूरि, पार्श्वनाथ चरित्र एवं महावीर चरित्र के कर्ता गुणचन्द्र गणि अपरनाम देवभद्रसूरि, संघपट्टकादिक अनेक ग्रन्थो के प्रणेता जिनवल्लभसूरि इत्यादि अनेकानेक वडे-वडे धुरन्धर विद्वान् और शास्त्रकार जो उस समय उत्पन्न हुए और जिनकी साहित्यिक उपासना से जैन वाङ्मय-भंडार वहुत कुछ सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित वना - इन्ही जिनेश्वरसूरि के शिष्यो प्रशिष्यो मे से थे।"

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जिनेश्वर से उद्भूत आचार-विचार की इस परम्परा को जहाँ इस परम्परा के अनुयायी लोग 'सुविहित' नाम प्रदान कर रहे थे, वहा उसके लिये एक दूसरे नामकरण का भी विधान हो रहा था। यह तो स्पष्ट ही है कि तत्कालीन चैत्यवासियो के विपरीत यह एक उग्र, प्रखर और कट्टर सुधारवादी परम्परा थी, जो न केवल चैत्यवासियो से पृथक् थी अपितु उन वसतिवासियो के मार्ग से भी पृथक् थी जो तत्कालीन चैत्यवासी शिथिलता को चुपचाप सहन करते हुए चले जा रहे थे। इसलिये स्वाभाविक था कि यह परम्परा अपनी उग्रता और कट्टरता की विशेषता को लेकर जनता मे प्रसिद्ध हो जाती; सम्भवत इसी आधार पर जनता ने इनको 'खरतर' कहना प्रारम्भ किया। इतिहास मे ऐसे ही उदाहरण अन्यत्र मिलते हैं, ईसाई समाज मे 'प्यूरीटन' नाम की उत्पत्ति इसी प्रकार के उग्र सुधारवाद के वातावरण को लेकर हुई और अपने ही देश मे 'उदासी सम्प्रदाय' के नामकरण का आधार भी ऐसा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार के नामो का जन्म स्वभावत उसी समय होता है, जव इन नामो की आधारभूत विशेपता सव से अधिक आकर्षक, नवीन तथा विरोध प्राप्त होती है। जिनेश्वराचार्य की विचारधारा के लिये इस प्रकार को युग स्पष्टत उस समय से प्रारम्भ होता है जव वह चैत्यवासियो के दुर्भेद्य गढ "अणहिलपुरपत्तन" मे अपने प्रभाव को दिखलाते हैं। खरतरगच्छीय परम्परा के अनुसार "खरतर" विरुद जिनेश्वराचार्य को तत्कालीन राजा दुर्लभराज द्वारा दिया गया था। इस वात को लेकर वहुत निराधार विवाद चला है, परन्तु मेरी समझ मे इसमे विवाद के लिए कोई स्थान नही है। राजा ने यह विरुद दिया हो अथवा न दिया हो, आचार्य जिनेश्वर की विचार-धारा की वह मूलभूत विशेपता जिसके कारण इस विरुद की कल्पना की जा सकती है, जनता के हृदय पर अवश्य ही अपना प्रभाव जमा चुकी होगी और उसी के फलस्वरूप जनता ने उनका जो नामकरण किया, वह समाज के मस्तिष्क पर अमिट अक्षरो मे लिख गया। व्यक्ति चाहे वह चक्रवर्ती राजा ही क्यो न हो समाज-सागर का एक क्षुद्र वुद्-वुद है, जो अपना क्षणिक अस्तित्व दिखा कर चला जाता है। परन्तु समाज एक प्रवहमान सरिता है जो अक्षुण्ण रूप से अपनी युग-युग की सिद्धियो और स्मृतियो को समेटे चलता रहता है।

इसलिए समाज के मानस-पटल पर आचार्य जिनेश्वर के सुधारवाद की खरतरता ने जो प्रभाव डाला उसकी स्थायी अभिव्यक्ति होना निश्चित था। चाहे कोई राजा उसको मानता या न मानता, चाहे कोई आचार्य या सम्प्रदाय उसको स्वीकार करता या नही करता। किसी विरुद के महत्त्व को वढाने के लिए राजमान्य होने की आवश्यकता नही। वसतिमार्ग को मान्यता किसने दी थी? चैत्यवासी नाम को रखने वाला कौन था? वर्त्तमान युग मे हवाई जहाज को चीलगाडी कहने वाला और मोटर सायकिल को फटफटिया कहने वाला कौन था? इसका उत्तर यही है कि समाज या जनता। अत इस प्रकार के नामकरणो के मूलकर्त्ता के विषय मे विवाद करना भाषाविज्ञान के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करना है।

जब यह कहा गया कि दुर्लभराज की राजसभा मे "खरतर-विरुद" की सृष्टि हुई, तो चाहे राजा ने अपने मुख से उस शब्द का उच्चारण किया हो या न किया हो, यह एक ऐसा सत्य कथन था जिससे कोई इनकार नही कर सकता, क्योकि जिस विशेषता ने जिनेश्वर की विचार-धारा को "खरतरविरुद" दिया उसका सर्वप्रथम सफल और सार्थक विस्फोट यही हुआ था।[1]

कुछ लोगो ने शंका उठाई है कि दुर्लभराज की अध्यक्षता मे आचार्य जिनेश्वर और सूराचार्य का उक्त शास्त्रार्थ हुआ ही नही। इस प्रसंग मे प्रभावकचरितकार का मौन रहना भी प्रमाण रूप मे रखा जा सकता है, परन्तु प्रथम तो प्रभावकचरितकार[2] से पूर्ववर्ती सुमतिगणि[3] और जिनपालोपाध्याय[4] के प्रवन्धो मे तथा उनके भी पूर्ववर्ती आचार्य जिनवल्लभ के पट्टधर युगप्रधान जिनदत्तसूरि प्रणीत गणधरसार्धशतक[5], गुरुपारतन्त्र्य स्तोत्र[6] आदि काव्यो

१ हमारे इन विचारो की पुष्टि सुरत्राण अकवर प्रतिवोधक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि रचित पौषधविधि प्रकरण वृत्ति की प्रशस्ति से भी होती है
"यै पूज्यैरणहिल्लपत्तनपुरे द्यौसिद्धिशून्यक्षमा (१०८०) वर्षे दुर्लभराजपर्षदि पराजित्य प्रमाणोक्तिभि।
सूरीन् चैत्यनिवासिन खरतरख्यातिजनैश्चार्पिते, श्रीमत् सूरिजिनेश्वरा सममवस्तत्पट्टशोभाकरा ॥३॥
(तत्कालीन लिखित प्रति से, वीकानेर भुवनभक्तिज्ञानभण्डार, प्रति स० १००, पत्र ६७)

२ श्रीमान् दुर्लभराजाख्यस्तत्र चासीद् विशापति।
गीष्पतेरप्युपाध्यायो नीतिविक्रमशिक्षणे ॥४८॥ प्रभावकचरित

३ राज्यप्रधानपुरुषैराकारित श्रीदुर्लभराजमहाराजोऽपि महता भटचटपरिवारेणागत्योपविष्टस्तत्र।
(जिनेश्वरचरित्र कथाकोष परिशिष्ट पृ० १२)

४ श्रीदुर्लभराजश्च पञ्चाशरीयदेवगृहे युष्माकमागमनमालोक्यते। (युगप्रधानाचार्य गुर्वावली पृ० ३)

५ अणहिल्लवाडए नाडयव्व दंसियसुपत्तसंदोहे। पहुरपए वहुकविदूसगे य सन्नायगाणुगए ॥६५॥
सड्ढियदुल्लहराए सरसइअंकोवसोहिए सुहए। मज्झे रायसह पविसिऊण लोयागमाणुमय ॥६६॥
(गणधरसार्द्धशतक)

६. पुरओ दुल्लहमहिवल्लहस्स अणहिल्लवाडए पयड। मुक्का वियारिऊण सीहेण व दव्वलिंगिगया ॥१०॥
(जिनदत्तसूरि रचित गुरुपारतन्त्र्यस्तोत्र)

मे इस घटना का स्पष्ट उल्लेख मिलता है और दूसरे प्रभावकचरितकार के लिए इस विषय मे मौन धारण करने के लिए एक उपयुक्त कारण भी था ।

प्रभावकचरित अनेक प्रभावक चरित्रो के साथ-साथ सूराचार्य के चरित्र का भी वर्णन करता है जो उक्त शास्त्रार्थ मे जिनेश्वराचार्य के साथ पराजित हुये बताये जाते हैं, इसलिये यदि सूराचार्य के गौरव को घटाने वाली किसी घटना का इसमे उल्लेख किया जाता तो वह ठीक न होता । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि प्रभावकचरितकार बहुत ही उदारमना होते हुए भी स्वयं एक चैत्यवासी आचार्य थे, अत सामाजिक शिष्टाचार की दृष्टि से भी उनके द्वारा चैत्यवासी प्रधानाचार्य की पराजय का उल्लेख किया जाना ठीक न होता । साथ ही मुनि जिनविजयजी के शब्दो मे "प्रभावक चरित के वर्णन से यह तो निश्चित ही ज्ञात होता है कि सूराचार्य उस समय चैत्यवासियो के एक बहुत प्रसिद्ध और प्रभावशील अग्रणी थे । ये पंचाशरा पार्श्वनाथ के चैत्य के मुख्य अधिष्ठाता थे । स्वभाव से बडे उदग्र और वाद-विवाद प्रिय थे । अत उनका इस वाद-विवाद मे अग्ररूप से भाग लेना असंभवनीय नही परन्तु प्रासगिक ही मालूम देता है । शास्त्राधार की दृष्टि से यह तो निश्चित ही है कि जिनेश्वराचार्य का पक्ष सर्वथा सत्यमय था । अत उनके विपक्ष का उसमे निरुत्तर होना स्वाभाविक ही था । इसमे कोई संदेह नही कि राजसभा मे चैत्यवासी पक्ष निरुत्तरित होकर जिनेश्वर का पक्ष राज सन्मानित हुआ और इस प्रकार विपक्ष के नेता का मानभंग होना अपरिहार्य बना । इसलिये संभव है कि प्रभावकचरितकार को सूराचार्य के इस मानभंग का उनके चरित मे कोई उल्लेख करना अच्छा नही मालूम दिया हो और उन्होने इस प्रसंग को उक्त रूप मे न आलेखित कर अपना मौन भाव ही प्रकट किया हो"[1] अत यह ध्रुव सत्य है कि आचार्य जिनेश्वर का सूराचार्य के साथ दुर्लभराज की राजसभा मे शास्त्रार्थ हुआ और उसमे सूराचार्य पराजित हुए ।

कुछ लोग अर्वाचीन पट्टावलियो[2] के अनुसार इस वाद-विवाद के समय के विषय मे भी निरर्थक वाद-विवाद को खड़ा करते हैं । यह चर्चा किस संवत मे हुई थी ? उस के सम्बन्ध मे युगप्रधान जिनदत्तसूरि, जिनपालोपाध्याय, सुमतिगणि, प्रभावकचरितकार आदि मौन हैं । इसका कारण भी यही है कि सब ही प्रबन्धकारो ने जनश्रुति, गीतार्थश्रुति के आधार से प्रबन्ध लिखे है और वे भी सब १०० और २५० वर्ष के मध्य काल मे । वस्तुत समग्र लेखको ने संवत् के सम्बन्ध मे मौनधारण कर ऐतिह्यता की रक्षा की है अन्यथा संवत् के उल्लेख मे असावधानी होना सहज संभाव्य था । अत यह सहज सिद्ध है कि महाराजा दुर्लभराज का राज्यकाल १०६६ से १०७८ तक का माना जाता है, उसी के मध्य मे यह घटना हुई है ।

१. कथाकोष प्रस्ता० पृ० ४१
२. अर्वाचीन किन्ही पट्टावलियो मे स० १०८० का उल्लेख मिलता है तो किसी मे १०२४ का, जो श्रवण परम्परा का आधार रखता है । इस परम्परा मे भी ६००, ८०० वर्ष के अन्तर मे २४ वर्ष का लेखन फरक रह जाय यह स्वाभाविक है । इसे चर्चा का रूप देना निरर्थक ही है ।

आ० जिनेश्वर की साहित्य-सर्जना और शिष्य-परिवार

आचार्य जिनेश्वर न केवल वाक्चातुरी और शास्त्रचर्चा के ही आचार्य थे अपितु लेखिनी के भी प्रौढ आचार्य थे। आपने 'प्रमालक्ष्म' वृत्ति सह और आपके भ्राता श्रीवुद्धिसागरसूरि ने वुद्धिसागर-व्याकरण तथा छन्द शास्त्र[1] रचकर जैन वाङ्मय मे जैन-दर्शन और व्याकरण साहित्य की जो अभूतपूर्व श्रीवृद्धि की है वह साहित्य संसार के लिये संस्मरणीय है। आपके प्रणीत निम्न ग्रन्थ और प्राप्त होते है

१ अष्टक प्रकरण वृत्ति	र० सं० १०८० जालोर। श्लो० ३३७४,	प्र०
२ चैत्यवन्दनक	सं० १०९६ जालोर,	(पत्र ३५, थाहरु भं०)
३ कथाकोष प्रकरण स्वोपज्ञवृत्ति सह	सं० ११०८ श्लो० ५०००,	प्र०
४. पञ्चलिङ्गी प्रकरण[2]		प्र०
५ निर्वाण लीलावती कथा	सं० १०९२	अप्राप्त
६ षट्स्थान प्रकरण (श्रावक वक्तव्यता)	श्लो० १०३	प्र०
७, सर्वतीर्थ-महर्षि कुलक		गा० २६,
८, वीरचरित्र		अप्राप्त
९ छन्दोनुशासन		(जैसलमेर ज्ञान भडार, प्रतिलिपि मेरे संग्रह मे)

आचार्य जिनेश्वरसूरि का शिष्य समुदाय भी अति विशाल था। आपने अपने स्व-हस्त से जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, धनेश्वरसूरि[3] अपरनाम जिनभद्रसूरि और हरिभद्रसूरि को आचार्य पद तथा धर्मदेव गणि,[4] सुमति गणि, सहदेव गणि[5] सुमति गणि[6] और विमल गणि को उपाध्याय पद प्रदान किया था। चार आचार्य[7] और तीन उपाध्याय जहा शिष्य हो वहा मुनिमण्डल का अत्यधिक सख्या मे होना स्वाभाविक ही है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास कब और कहा हुआ निश्चित नही है। किन्तु आपकी सं० ११०८ मे रचित कथाकोष प्रकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति प्राप्त है। अत इसके बाद ही आप इस नश्वर देह को छोड चुके हो, तथा आचार्य अभयदेव ने स्थानाङ्गसूत्र की वृत्ति सा० ११२० मे पूर्ण की है उसमे विद्यमान, राज्ये, इत्यादि शब्दो का प्रयोग न होने से सा० ११२० के पूर्व ही जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास हो चुका था—मान सकते हैं।

१ उल्लेख देवभद्रीय महावीर चरित्र प्रशस्ति।

२ आचार्य जिनपतिसूरि प्रणीत टीका सह जिनदत्तसूरि ज्ञान भडार सूरत से प्रकाशित

३ आपकी रचित 'सुरसुन्दरी कहा' प्राकृत भाषा मे उपलब्ध है। इसकी रचना स० १०९५ चन्द्रावती मे हुई है।

४ आपके हरिसिंहाचार्य, सर्वदेव गणि, सोमचन्द्र (जिनदत्तसूरि) आदि प्रमुख शिष्य थे।

५ आपके अशोकचन्द्राचार्य शिष्य थे। अशोकचन्द्र को जिनचन्द्रसूरि ने आचार्य पद दिया था।

६ आपके देवभद्राचार्य (पूर्व नाम गुणचन्द्र गणि) शिष्य थे जिनने आ० जिनवल्लभ और आचार्य जिनदत्त को आचार्य पद प्रदान किया था।

७ प्रसन्नचन्द्राचार्य भी आपही के शिष्य थे।

आ० जिनेश्वर के पश्चात् उनके पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि (अभयदेवसूरि के वृहद् गुरुभ्राता) हुए। आपके सम्बन्ध मे कोई इतिवृत्त प्राप्त नही हैं। इसमे तो कोई सन्देह नही कि आप वहुश्रुतज्ञ गीतार्थ थे आपने अपने लघु गुरु-वन्धु, गीतार्थ, विख्यात कीर्त्तियुक्त श्रीअभयदेव-सूरि की अभ्यर्थना से 'सवेगरङ्गशाला' नामक प्राकृत कथाग्रन्थ की १००५० श्लोक वृहत्परि-माण मे स० ११२५ मे रचना पूर्ण की।

अभयदेवसूरि

जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर गच्छनायक के रूप मे हमे आचार्य अभयदेवसूरि के दर्शन होते हैं। आपके प्रारम्भिक जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे हमे केवल प्रभावक-चरित मे ही किञ्चित् उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसके अनुसार आचार्य जिनेश्वरसूरि सं० १०८० के पश्चात् जावालि-पुर (जालोर) से विहार करते हुए मालव प्रदेश (मध्यभारत) की तत्कालीन प्रसिद्ध राज-धानी धारानगरी मे पधारे। चातुर्मास भी संभवत वही किया। आपका प्रवचन अहर्निश होता था।

इसी नगरी मे श्रेष्ठी महीधर नामका एक विचक्षण व्यापारी रहता था। धनदेवी नामकी पत्नी थी और अभयकुमार नामक सौभाग्यशाली पुत्र था। आचार्य जिनेश्वर का प्रभावशाली व्याख्यान (प्रवचन) सुनने के लिये वहा की प्राय समग्र जनता उपस्थित हुआ करती थी। महीधरपुत्र अभयकुमार भी सर्वदा प्रवचन सुना करता था। आचार्यश्री के वैराग्य-पोषक, आत्मतत्त्व-निर्देशक, सिध्दान्तो का विवेचनीय प्रतिपादक, शान्तरससंवर्धक उपदेश से अभयकुमार प्रभावित हुआ। अभयकुमार ने संसार की नाशशीलता, क्षणिकता समझकर, स्वविचारो को दृढकर, माता-पिता की अनुमति प्राप्त करके श्रीजिनेश्वरसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। आचार्य ने अभयकुमार का नाम अभयदेवमुनि रखा।

श्रीजिनेश्वरसूरि के पास ही स्वशास्त्र और परशास्त्र का विधिवत् अध्ययन अभय-देव मुनि ने किया। आत्मशुद्धि के लिये अभयकुमार ने दीक्षा ग्रहण की थी। इसलिये वे उग्र तपश्चर्या भी करने लगे। आपकी योग्यता और प्रतिभा देखकर आचार्य जिनेश्वर ने आपको आचार्य पद प्रदान किया था।

उस समय के प्रमुख-प्रमुख आचार्य सैद्धान्तिक-आगमो का अध्ययन छोडकर समयोचित धनुर्वेद, आयुर्वेद, ज्योतिष, सामुद्रिक, काम-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र आदि विषयो में पारङ्गत होते जा रहे थे। मन्त्र-तन्त्र और यन्त्रविद्या के चमत्कारो से भिन्न भिन्न स्थलो पर राजाओ पर प्रभाव जमाते जा रहे थे। चैत्यवास की प्रथा प्रौढता को प्राप्त कर चुकी थी, जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है। ऐसी अवस्था मे आगमो के अभ्यास की सुरक्षित परम्परा नष्ट हो जाने से शुद्ध क्रियाचार का पालन भी असभव-सा होता जा रहा था। आचाराग और सूत्रकृताग पर आचार्य शीलांक कृत विवेचन के अतिरिक्त पूरे अंग साहित्य पर कोई विवेचन प्राप्त ही नही था। जैन-आगमो मे मुख्य स्थान ११ अंग का ही है। इनमे नव अंग तो अछूत ही से थे। मूलपाठ भी लेखको की अशुद्ध-परम्परा के कारण अशुद्धतर होते

जा रहे थे। वाचनाभेदो की बहुलता मूल-आगमो को कूट आगम सदृश कर रहे थे। जो कुछ वाचन-मनन की प्रणाली थी वह कूट पाठो की बहुलता से नष्ट होती जा रही थी।

ऐसी परिस्थिति देखकर श्रीअभयदेवसूरि ने अपनी समयज्ञता का परिचय दिया। अपनी बहुश्रुतज्ञता का उपयोग समाज के लिये हो और आगम-ग्रन्थ कूट ग्रन्थ न होकर सर्वदा के लिये वाचन-सुलभ रहे इस आशय से अपनी लेखिनी तृतीय स्थानाङ्गसूत्र पर उठाई और सकुशल सफलता पूर्वक इसकी टीका स० ११२० मे पूर्ण की। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य प्रवास इत्यादि मे नही हो सकते। और न इनके करने मे काल-विकाल या ग्राह्या ग्राह्य के फेर मे ही पडा जा सकता है। अतएव एक मात्र अपने पवित्र संकल्प की पूर्ति का ध्यान रखते हुए श्रीअभयदेवसूरि ने अपना कार्य क्षेत्र अणहिलपुर पतन चुना और वही श्रीजिनेश्वरसूरि द्वारा पवित्रित करडि हट्टी मे निवास किया। प्राय सं० ११२० से ११२८ तक का समय आपका वही पूर्ण हुआ। मध्य मे ११२४ मे आप अवश्य धवलका रहे थे और वहा धनपति बहुल और नन्दिक सेठ के घर मे रहकर पञ्चाशक पर टीका की रचना पूर्ण की थी।

इतने लम्बे समय तक एक स्थान पर ही रहने का एक कारण और भी था। श्री अभयदेवसूरि ने ज्यो ही टीका-लेखन का कार्य प्रारम्भ किया त्यो ही उनके मस्तिष्क मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं यदि इन टीकाओ का संशोधन अपने ही सुविहित विद्वानो से कराकर प्रामाण्य की मोहर लगवा दूंगा तो पर्याप्त न होगा, क्योकि आज सुविहितो का समुदाय अत्यल्प है, चैत्यवासी समुदाय अत्यन्त विशाल है और पूज्य श्री जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवास उन्मूलन का कार्य प्रारम्भ किया है उससे समग्र चैत्यवासी आचार्य क्षुब्ध हो रहे हैं, अत वे यदि इसे अमान्य कर देंगे तथा इसमे दूपण शोधते रहेगे तो टीकाएं एकपक्षीय हो जायेगी; जो सचमुच मे मेरे भगीरथ प्रयत्न पर पानी फेर देंगी। अत ऐसी अवस्था मे अपने किसी चैत्यवासी प्रौढ एवं दिग्गज आचार्य का आश्रय लें और उससे प्रामाणिकता की मोहर लगवावें तो सर्वश्रेष्ठ होगा। ऐसा विचार कर, हृदय की अत्यधिक विशालता से चैत्यवासी आचार्यों की तरफ दृष्टिपात किया तो उन्हे उस समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान्, उदार दृष्टिवाले, शान्तमना द्रोणाचार्य दिखाई पडे, जो समग्र चैत्यवासी आचार्यो के प्रधान मुकुट स्वरूप थे। इसलिये आचार्य अभयदेव ने उनसे सम्पर्क साधा और सशोधन कार्य के लिये उन्हे तैयार किया। आचार्य द्रोण ने भी अपने समग्र आचार्यों की चर्चा की परवाह न करते हुए, अपने विपक्षी के एक शिष्य के कार्य को हाथ मे लिया। इससे उस समय के प्रमुख-प्रमुख चैत्यवासी आचार्य द्रोणाचार्य पर कुपित भी हुए, किन्तु महामना द्रोण ने उन्हे यह कहकर शान्त किया

> आचार्याः प्रतिसद्म सन्ति महिमा येषामपि प्राकृतै-
> र्मातुं नाऽध्यवसीयते सुचरितैस्तेषां पवित्रं जगत्।
> एकेनाऽपि गुणेन किन्तु जगति प्रज्ञाधनाः साम्प्रतं,
> यो धत्तेऽभयदेवसूरिसमतां सोऽस्माकमावेद्यताम्॥

आचार्य द्रोण ने अपनी गीतार्थता तथा उदार दृष्टि का परिचय श्री अभयदेवसूरि प्रणीत समग्र टीकाओ का अवलोकन कर, संशोधन कर, प्रामाण्य की मोहर लगाकर दिया। आचार्य अभयदेव ने भी अपनी कृतज्ञता का प्रदर्शन प्राय प्रत्येक ग्रन्थ की टीका के अन्त मे

"नम प्रस्तुतानुयोगशोधिकायै श्रीद्रोणाचार्यप्रमुखपर्षदे"[1] आदि पूज्य-शब्दों द्वारा प्रकट किया। इस प्रकार दोनों का सौजन्य, मिलनसारिता, समयज्ञता, सचमुच ही अन्य-समाज के सन्मुख "सर्च लाइट" के समान प्रकाशकारिका सिद्ध हुई।

आचार्य अभयदेव ने निम्नलिखित ग्रन्थों पर टीकाएँ बनाई हैं

	ग्रन्थनाम	रचनासमय	स्थल	श्लोक परिमाण
१.	स्थानाङ्ग सूत्र वृत्ति	११२०	पाटण	१४२५०
२.	समवायाङ्ग सूत्र वृत्ति	११२०	"	३५७५
३.	भगवती सूत्र वृत्ति	११२८	"	१८६१६
४.	ज्ञाता सूत्र वृत्ति	११२०	"	३८००
५	उपासकदशा सूत्र वृत्ति			८१२
६	अन्तकृद्दशा सूत्र वृत्ति			८९९
७	अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र वृत्ति			१९२
८.	प्रश्नव्याकरण सूत्र वृत्ति			४६००
९	विपाक सूत्र वृत्ति			९००
१०.	औपपातिक सूत्र वृत्ति			३१२५
११	प्रज्ञापना तृतीय पद संग्रहणी			१३३
१२	पञ्चाशक सूत्र वृत्ति	११२४	धोलका	७४८०
१३	सप्ततिका भाष्य			१९२
१४	बृहद् वन्दनकभाष्य			३३
१५	नवपद प्रकरण भाष्य			१५१

इनके अतिरिक्त कतिपय स्तोत्र आदि साहित्य भी उपलब्ध है:

१. पञ्चनिर्ग्रन्थी
२ आगम अष्टोत्तरी
३ निगोद षट्त्रिंशिका
४ पुद्गल षट्त्रिंशिका
५. आराधना प्रकरण गा० ८५
६ आलोयणाविधि प्रकरण गा० २५
७ स्वधर्मीवात्सल्य कुलक
८ जयतिहुयण स्तोत्र गा० ३०
९ वस्तु पार्श्वस्तव (देवदुत्थियं) गा० १६
१० स्तम्भन पार्श्वस्तव गा० ८
११ पार्श्वविज्ञप्तिका (सुरनरकिन्नर० प० २२, जैसलमेर भंडार)
१२ विज्ञप्तिका (जैसलमेर भं०) प० २६
१३ षट्स्थान भाष्य गा० १७३
१४. वीरस्तोत्र गा० २२
१५ षोडशक टीका [पत्र ३७]
१६ महादंडक
१७ तिथि पयन्ना
१८ महावीर चरित्र गा० १०८ (अपभ्रंश)
१९ उपधानविधि पंचाशक प्रकरण गा० ५०

१. शास्त्रार्थनिर्णयसुसौरभलम्पटस्य, विद्वन्मधुव्रतगणस्य सदैव सेव्य।
श्रीनिर्वृताख्यकुलसन्नदपद्मकल्प, श्रीद्रोणसूरिरनवद्ययश परागः॥
शोधितवान् वृत्तिमिमां युक्तो विदुषां महासमूहेन।
शास्त्रार्थनिष्कनिष्कषणकषपट्टककल्पबुद्धीनाम्॥

[भगवती वृत्ति प्रशस्ति]

प्रभावक चरित और सुमतिगणि तथा जिनपालोपाध्याय के प्रबन्धो के अनुसार शासनदेव की प्रेरणा और समय-समय पर सहायता देने के वचन से प्रभावित होकर आचार्य ने टीका रचना का कार्य हाथ मे लिया और विवादास्पद तथा शंकापूर्ण स्थलो पर शासन देवता जया, विजया, जयन्ति, अपराजिता, पद्मावती आदि देवोवर्ग महाविदेह स्थित सीमन्धर तीर्थंकर से उत्तर प्राप्त कर आचार्य को देती थी। इससे टीका सर्वाङ्ग सुन्दर बन सकी है।

इस प्रकार का मन्तव्य युक्त नही कहा जा सकता। यदि हम मान भी ले कि देवियो ने तीर्थंकर से उत्तर प्राप्त करके दिया हो तो, आचार्य अभयदेव को स्थान-स्थान पर "प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि" "इह च बह्वो वाचनाभेदा" "कस्याश्चिद्ध वाचनायामपरमपि सम्बधसूत्रमुपलभ्यते" "सत्सम्प्रदायहीनत्वात्" "तत्त्वं तु केवलीगम्यम्" इत्यादि शब्दो का प्रयोग करने की आवश्यकता नही रहती तथा अन्य किसी भी स्थल पर इस बात का उल्लेख आचार्य अवश्य करते। जब आचार्य द्रोण के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन आचार्य न भूल सके तो भला ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु प्राप्त करने वाले शासनदेवियो को कैसे भूल जाते? वस्तुत वह समय चमत्कार प्रदर्शन का युग था। अतिशयोक्ति का समय था। वस्तु के अभाव मे भी ख्याति कराने के लिये इस प्रकार से परवर्ती समुदाय चमत्कार का आश्रय लिया करते थे। अत तत्कालीन ऐसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर प्रबन्धकारो ने चमत्कार का आश्रय लिया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

रचना के समय अहर्निश जागरण और रचना प्रारंभ से अन्त तक अत्युग्र आचाम्ल तप का सेवन इत्यादि अनेक कारणो से आचार्य का शरीर व्याधि-जर्जरित हो गया।[1] केवल व्याधि से शरीर ही जर्जरित नही हो गया था किन्तु दुर्जनो के कुवाक्यो ने मन पर भी बुरा आघात पहुँचाया था। कोई कहता था कि टीकाओ की रचना मे इन्होने उत्सूत्र-प्ररूपणा की है और कोई अन्य मिथ्या प्रचार[2] कर इनके हृदय को दुखाता था। यही कारण है कि आचार्य अनशन ग्रहण करने को तैयार हो गये थे। किन्तु शासन का सौभाग्य था इसलिये आचार्य अनशन के विचार को अमल मे न ला सके, अपितु दूसरा ही कार्य उन्होंने किया, वह कार्य था स्तम्भन पार्श्वनाथ का प्रकटीकरण।

व्याधिग्रस्त अवस्था मे भी आचार्य कमश प्रवास करते हुए खंभात पधारे और

१ आचार्य को क्या रोग हुआ था? इस सम्बन्ध मे सब ही प्रबन्धकार रोग का नाम पृथक्-पृथक् लिखते हैं। प्रभावक चरित पृ० १३० के अनुसार रक्तविकार, उपदेशसप्ततिका के अनुसार कुष्ठरोग, तीर्थकल्प के पृ० १०४ पंक्ति २९ के अनुसार अतिसार रोग हुआ था। कुछ भी हो, चाहे रक्तविकार हो, चाहे कुष्ठरोग हो और चाहे अतिसार हो, यह तो निश्चित है कि आचार्य व्याधि से पीडित अवश्य थे।

२ प्रभावक चरित (अभयदेव चरित पृ० १३०-१३१)

वहां से निकट ही सेढी[1] नदी के पार्श्ववर्ती स्थान खंखरापलाश में पहुँच कर "जयतिहुअण वर" इत्यादि नूतन पद्यों से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति की। और उसी समय भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति भूमि से स्वयमेव प्रगट हुई और वही मूर्ति खंभात मे नूतन देवालय बनाकर प्रतिष्ठित की गई जो आज भी मौजूद है। अशातावेदनीय का नाश होने से और भगवान् पार्श्वनाथ के प्रभाव से आचार्यश्री का रोग शान्त हो गया।

सुमति गणि रचित गणधरसार्द्धशतक वृत्ति, उ० जिनपाल कृत युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, जिनप्रभसूरि कृत विविध तीर्थकल्प और उपदेशसप्ततिका के अनुसार पार्श्वनाथ प्रतिमा प्रकट करने के पश्चात् आचार्यश्री ने नवाङ्गों पर टीका रची थी और प्रभावक चरित, प्रबन्ध-चिन्तामणि और पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के अनुसार नवाङ्ग टीका की पूर्णाहूति होने के पश्चात् स्तम्भन पार्श्वनाथ का प्रकटीकरण हुआ था।

इन दोनो कार्यों मे से (स्तम्भन पार्श्वनाथ स्थापना और नवाङ्ग वृत्ति रचना) प्रथम कौनसा कार्य हुआ ? इस पर भी जरा विचार करना आवश्यक है। आज भी हम अपने प्रत्यक्ष जीवन मे अनुभव करते हैं कि आज की की हुई वार्ता जनता के मुख पर फैलती हुई कुछ समय बाद दूसरा ही रूप ले लेती है। यदि यही वार्ता का समय ५०-१०० वर्ष व्यतीत हो जाय तो उस वार्ता का रूपान्तर मात्र ही हमे प्राप्त होगा। इसी प्रकार आचार्य के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित समग्र ग्रन्थ १२५ और २५० वर्ष के मध्य मे रचे गये है। अत प्रारम्भ का अन्तिम और अन्तिम का प्रारम्भ स्वरूप ले ले तो कोई आश्चर्य नही।

मेरे नम्र मतानुसार यह भी सम्भव है कि वह समय चमत्कार का समय था। स्तम्भन पार्श्वनाथ का भूमि से प्रकट होना नवाङ्ग-वृत्ति रचना की अपेक्षा साधारण जनता की दृष्टि मे अत्यधिक महत्त्व रखता है। चमत्कार चमत्कार ही है जो साधारण से साधारण व्यक्ति भी इसकी जानकारी रखने मे अपनी शान का अनुभव करता है और साहित्य-सृजन केवल विद्वान् ही जान पाते हैं। इस दृष्टि से पार्श्वनाथ की घटना चमत्कारपूर्ण होने से पूर्व मे स्थान प्राप्त कर चुकी है। वस्तुत नवाङ्ग टीका का कार्य आचार्य ने पूर्व मे किया था और उपरि उल्लिखित अहर्निश जागरणादि कार्यों से आचार्य व्याधि-पीडित होने पर स्तम्भनक पधारे और उसी समय वही पर पार्श्वनाथ प्रतिमा का प्रकटीकरण किया।

एक प्रश्न यहां अवश्य ही विचारणीय हो सकता है कि आचार्य ने अपने टीका-ग्रन्थों के प्रारम्भ और अन्त मे भगवान् महावीर के साथ श्रीपार्श्वनाथ को भी स्मरण किया है, वह भी अधिकता से। इसलिये पार्श्वनाथ स्थापना के पश्चात् ही टीकाओ की रचना की हो। यह दलील मानी जा सकती है और नही भी, क्योकि पार्श्वनाथ स्थापना के पूर्व भी वे भगवान्

१ सेढी नदी वस्तुत खभात के पास नहीं है किन्तु मही नदी है। हा, खेडा मातर के पास सेढी नदी अवश्य है और उसके किनारे थामण नामक एक ग्राम भी है। सम्भव है 'थमणयपुरट्ठिय' इत्यादि मे इसी को स्तम्भनपुर कहा हो। कालान्तर से किसी अज्ञात सयोगवश स्तम्भन पार्श्व-प्रभु की प्रतिमा खभात मे लाई गई हो और इसी निमित्त से पिछले कुछ समय से खभात का नाम स्तम्भतीर्थ, स्तम्भनपुर प्रचलित हो गया हो।

पार्श्वनाथ को अपना आराध्यतम देव समझते हो तो उनका नाम दे सकते हैं। केवल नाम से हम निश्चित करने मे असमर्थ हैं कि स्थापना के पश्चात् टीका-प्रणयन हुआ हो।

आप केवल जैनागमो के ही उद्भट विद्वान् नही थे अपितु तर्क-शास्त्र और न्याय-शास्त्र के भी प्रकाण्ड पडित थे। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् प्रसन्नचन्द्रसूरि, वर्द्धमानसूरि, हरिभद्रसूरि और देवभद्रसूरि ने आप ही के पास विद्याध्ययन किया था और आपको ही वे अपने गुरु-रूप में, स्वयं को विनेय रूप मे मानते थे। आचार्य जिनवल्लभसूरि ने अपने चित्रकूटीय वीरचैत्य-प्रशस्ति मे लिखा है -

सत्तर्कन्यायचर्चार्चितचतुरगिरः श्रीप्रसन्नेन्दुसूरिः,
सूरिः श्रीवर्धमानो यतिपतिहरिभद्रो मुनीड् देवभद्रः।
इत्याद्याः सर्वविद्यार्णवसकलभुव सञ्चरिष्णूरुकीर्त्ति-
-स्तम्भायन्तेऽधुनापि श्रुतचरणरमाराजिनो यस्य शिष्याः॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अभयदेव ने लगभग ६२००० श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना कर जैनागमो को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। वह सचमुच मे श्लाघ्यतम प्रयत्न था। आपकी प्रभावशालिता के सम्बन्ध मे हम कुछ न लिखकर केवल मुनि जिनविजयजी के शब्द ही यहा उद्धृत करते हैं[1] —

"जिनेश्वरसूरि के अनुक्रम मे शायद तीसरे परन्तु ख्याति और महत्ता की दृष्टि से सर्वप्रथम ऐसे महान् शिष्य श्रीअभयदेवसूरि थे जिन्होने जैनग्रन्थो मे सर्वप्रधान जो एकादशाङ्ग सूत्र हैं उनमे से नव अंग सूत्रो पर सुविशद संस्कृत टीकाये वनाई। अभयदेवाचार्य अपनी इन व्याख्याओ के कारण जैन साहित्याकाश मे कल्पान्तस्थायी नक्षत्र के समान सदा प्रकाशित और सदा प्रतिष्ठित रूप मे उल्लिखित किये जायेंगे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पिछले सभी गच्छ और सभी पक्ष वाले विद्वानो ने अभयदेवसूरि को वडी श्रद्धा और सत्यनिष्ठा के साथ एक प्रमाणभूत एव तथ्यवादी आचार्य के रूप मे स्वीकार किया है और इनके कथनो को पूर्णतया आप्तवाक्य की कोटि मे समझा है। अपने समकालीन विद्वत्समाज मे भी इनकी प्रतिष्ठा वहुत ऊँची थी। शायद ये अपने गुरु से भी वहुत अधिक आदर के पात्र और श्रद्धा के भाजक वने थे।"

जिनवल्लभसूरि

यद्यपि अभयदेवाचार्य ने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं विपुल साहित्य से विद्वत्समाज मे सदा के लिये अपना स्थान वना लिया और इस कार्य द्वारा श्री वर्धमान और श्री जिनेश्वर द्वारा प्रचारित सुविहित-सरिता को प्रगति प्रदान करने मे उन्होने एक अत्यन्त ठोस कार्य

१. कथाकोष प्रकरण प्रस्तावना पृ० १२

किया, परन्तु इसके करने मे उन्हे जो चैत्यवासियो से समझौता करना पडा, उसके कारण सुविहित क्रान्ति की जो प्रचण्ड ज्वाला श्री जिनेश्वर ने एकाएक उत्पन्न कर दी थी वह कुछ दिनो के लिये मन्द पड गई और जनता के चित्त से वह लगभग उतरसी गई। उसी क्रान्ति की सुपुप्त और विस्मृतप्राय चिनगारियो को लेकर जैन समाज के जन-जन के मन मे पुनः आग लगाने और सुविहित विचार-धारा के लिये अदम्य उत्साह एवं लगन उत्पन्न करने तथा चैत्यवास के विरुद्ध एक व्यापक और विकराल आन्दोलन को पुन. जागरित करने का श्रेय श्रीजिनवल्लभसूरि को है। श्रीजिनवल्लभसूरि आचार्य अभयदेव के पट्टधर थे और इनकी काव्य प्रतिभा, विद्वत्ता तथा वाक्पटुता की कीर्त्ति सर्वत्र व्याप्त थी।

अध्याय : २

कवि का जीवन-वृत्त और देन

आचार्य जिनवल्लभसूरि का जीवन-वृत्त

आचार्य जिनवल्लभसूरि ने वि० सं० ११६३ मे स्वप्रणीत अष्ट सप्ततिका अपरनाम चित्रकूटीय वीर-चैत्य-प्रशस्ति नामक ग्रन्थ मे अपनी स्वयं की आत्मकथा का जो सक्षेप मे आलेखन किया है, उसका साराश इस प्रकार है

निर्मल 'चन्द्रकुल' मे श्री वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि हुये जो सिद्धान्त-सम्मत साध्वाचार का उग्रता से पालन करने वाले तथा प्रगाढ और प्रतिभा सम्पन्न आगमज्ञ थे। एवं जिन्होने राज्य सभा मे सिद्धान्त-विरुद्ध आचरण वाले आचार्यों की प्ररूपणा और मान्यताओं को शास्त्र-विरुद्ध ठहराकर गुर्जर प्रदेश (गुजरात) मे सविग्न साधुओं (सुवि-हितो) के विहार मार्ग को सर्वदा के लिये प्रशस्त किया।

ऐसे प्रकृष्ट गीतार्थ जिनेश्वरसूरि के शिष्य श्रुतज्ञान रूपी ऐश्वर्य से अन्धकार रूपी स्मर को नाश करने मे महेश्वर के समान श्री अभयदेवसूरि हुये। जिन्होंने स्वगुरूपदेश और स्वयं की विशद प्रज्ञा से श्रमण भगवान् महावीर के वंशज गणधरो द्वारा प्रथित स्थानाङ्ग सूत्र से विपाक सूत्र पर्यन्त नवाङ्गो— जिनका गम्भीरार्थ उस समय तक अनुद्घाटित था पर श्री संघ के तोष के लिये टीकाओं की रचना की।

आचार्य अभयदेव का यश सौरभ तो विश्वव्यापी था ही, और उनके प्रमुख शिष्यो प्रसन्नचन्द्रसूरि, वर्द्धमानसूरि, हरिभद्रसूरि एवं देवभद्रसूरि आदि की वैदुष्य कीर्ति से आज भी दिग्दिगन्त स्तम्भित है।

ऐसे सुविहित शिरोमणि और श्रेष्ठ गीतार्थ श्री अभयदेवसूरि से लोको मे अर्च्य कूर्चपुरगच्छीय श्री जिनेश्वरसूरि का शिष्य, गणि पदधारक जिनवल्लभ (मैं) ने उपसम्पदा और सिद्धान्त-ज्ञान प्राप्त किया।

यहा ग्रन्थकार स्वयं के लिये कहता है कि विद्या को योग्य स्थान न मिलने से विश्व मे भ्रमण करती हुई पीडित हो गई थी, मुझे योग्य पात्र समझ कर सूक्ष्म शरीर द्वारा मेरे मे समाविष्ट हो गई और भूरिकाल से प्रीति की तरह वृद्धि को प्राप्त होती गई।

कदाचित् मैं विहार (भ्रमण) करता हुआ चित्तौड आया। वहा के समुदाय ने मुझे सद्गुरु के रूप मे स्वीकार किया। उस समय अम्बक, केहिल और वर्द्धमानदेव आदि प्रमुख व्यापारियो का समुदाय चित्तौड मे रहता था और शुद्ध देव एव सद्गुरु की उपासना करता रहता था। चित्तौड मे उस समय पंक्ति वद्ध विशाल जैन-मन्दिर थे।

मेरे उपदेश से चित्तौड के निवासियो ने शास्त्र-सम्मत विधिपक्ष, विधि-चैत्य और सुविहित साधुओ का स्वरूप समझ कर, चैत्यवासियो की मान्यता और प्ररूपणा का त्याग कर सुविहित पक्ष के अनुयायी वने। उस समय वहा का समुदाय अपने को ऐसा मानने लगा; मानो इस क्रूर भस्मकाल मे भी हमे नवीन अर्हच्छासन प्राप्त हुआ है और इसी श्रद्धा से वे कुपथ से विमुख होकर धर्म-कर्म करने लगे।

आ० जिनवल्लभ ने स्वप्रतिवोधित विधिपक्षानुयायी श्रेष्ठियो के कतिपय नाम इस प्रकार दिये हैं—

धर्कटवंशीय सोमिलक, वर्द्धमान का पुत्र वीरक, पल्लिका पुरी (पाली) मे प्रख्यात प्रद्युम्नवंशीय माणिक्य का पुत्र सुमति, क्षेमसरीय (संभवत खीवसर निवासी) भिषग्वर सर्वदेव और उसके तीनो पुत्र रासल, धन्धक एवं वीरक, खण्डेलवंशीय मानदेव और पद्मप्रभ का पुत्र प्रल्हक, पल्लिका मे विश्रुत शालिभद्र का पुत्र साधारण और पल्लिका मे चन्द्र समान ऋषभ का पुत्र सड्ढक आदि।

इन श्रेष्ठियो ने चित्तौड मे धर्माराधन हेतु विधि–चैत्य का अभाव महसूस कर नवीन चैत्य निर्माण का संकल्प किया। चैत्यवासियो के गढ मे विधि–चैत्यो का निर्माण वेषधारियो के लिये कदापि सह्य नही था। उन्होने निर्माण कार्य का ध्वंस करने के लिये भरपूर प्रयत्न किये, किन्तु उनके सारे प्रयत्न असफल रहे और अन्त मे साधारण आदि उपरोक्त श्रेष्ठियो के प्रयत्नो से निर्माण कार्य पूरा हुआ। इस विशाल महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा (वि० सं० ११६३) मे वडे महोत्सव से सम्पन्न हुई।

कल्याणक आदि पर्व दिवसो मे अव धार्मिक समुदाय वडे भक्तिभाव और आडम्वर से उत्सव मनाता है तथा अर्चन-पूजन करता हुआ कल्याणकारी मार्ग की ओर अग्रसर हो रहा है।

इस चैत्य की अर्चा निमित्त प्रत्येक सूर्य संक्रान्ति पर दो पारुत्य चित्तौड के धर्मदाय विभाग से देने का महाराजा श्री नरवर्मा ने आदेश दिया है।

जिनवल्लभसूरि के इस अन्तरङ्ग प्रमाणभूत संक्षिप्त आत्मकथा के अतिरिक्त उनके योग्य शिष्य युगप्रधान दादोपनामधारक श्री जिनदत्तसूरि ने गणधरसार्द्धशतक मे ६१ पद्यो मे अपने गुरु की जो स्तुति की है उसकी टीका करते हुए उन्ही के प्रशिष्य श्रीसुमति गणि ने आचार्य जिनवल्लभसूरि का विस्तार से जीवन-वृत्त दे दिया है। इसी का आधार ले

कर आचार्य का जीवन-चरित परवर्ती कई लेखको ने लिखा है। श्रीसुमतिगणि के गुरुभ्राता श्री जिनपालोपाध्याय ने 'खरतरगच्छालङ्कार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली' मे जिनवल्लभसूरि का जो जीवन-चरित लिखा है, वह लगभग अक्षरश सुमतिगणि द्वारा दिए हुए चरित से मिलता है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि सुमतिगणि की भाषा आलङ्कारिक वर्णनो से परिपूर्ण है तो, उपाध्यायजी की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इसलिये इसी वृत्ति को आधार मानकर हम भी उनका संक्षेप मे जीवन चरित दे रहे हैं।

बाल्यकाल और दीक्षा

बालक जिनवल्लभ ने अपना पठन-पाठन आसिका (हासी) नामक स्थान के एक चैत्यालय मे प्रारम्भ किया। कूर्चपुरीय जिनेश्वराचार्य ने इस बालक की प्रतिभा की सब से पहले परख की। उन्होने देखा कि बालक जिनवल्लभ अपने सभी सहपाठियो से अधिक मेधासम्पन्न है। इसी बीच मे एक चमत्कार हुआ। बालक-जिनवल्लभ को चैत्यालय के बाहर एक पत्र पडा मिला, जिसमे 'सर्पाकर्षिणी' और 'सर्पमोचिनी' नाम की दो विद्याए लिखी हुई थी। बालक ने दोनो को कण्ठस्थ कर लिया, परन्तु ज्योंही उसने सर्पाकर्षिणी विद्या को पढा त्योंही बडे-बडे भयकर सर्प उसकी ओर आने लगे, परन्तु वह बालक उस स्थान पर निर्भयता पूर्वक खडा रहा और उसने अनुमान किया कि यह इसी विद्या का प्रभाव है। जैसे ही उसने दूसरी विद्या का उच्चारण करना प्रारम्भ किया वैसे ही सब सर्प भाग गये। इस घटना को सुनकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होने समझ लिया कि यह बालक कोई सात्विक गुण-सम्पन्न होनहार व्यक्ति है। अत उन्होने उसको शिष्य बनाने की मन मे ठान ली। उन दिनो चैत्यालयो मे आचारशिथिलता बहुत आ गई थी और प्रलोभन आदि देकर भी शिष्यो को फासना बुरा न समझा जाता था। इसलिये जिनेश्वराचार्य ने न केवल उस बालक को द्राक्ष, खजूर आदि देकर वश मे किया अपितु उसकी माता को भी द्रव्य देकर और मीठी-मीठी बातें बनाकर जिनवल्लभ को अपने अनुकूल कर लिया और तुरन्त ही उसको दीक्षा दे दी।

विद्याभ्यास

जिनेश्वराचार्य ने बडे मनोयोग के साथ जिनवल्लभ को पढाना प्रारम्भ किया। उनके शिष्यत्व मे शीघ्र ही उन्होने तर्क, अलङ्कार, व्याकरण, कोष आदि अनेक शास्त्रो का अध्ययन कर लिया। जिनवल्लभ की प्रखर बुद्धि जैसी विद्याध्ययन मे सफल होती थी वैसी ही व्यावहारिक क्षेत्र मे भी। एक बार जिनेश्वराचाय किसी काम से आसिका से बाहर गये। जाते समय उन्होने उस चैत्यालय तथा उससे सम्बन्धित वाटिका, विहार, कोष्ठागार इत्यादि की व्यवस्था का सारा भार जिनवल्लभ को सौप दिया। जब वे वापिस आये तो यह जानकर

वहुत प्रसन्न हुए कि जिनवल्लभ ने सारा प्रवन्ध वडी कुशलता के साथ किया और उसमे कोई भी कमी नही आने दी।

अपने गुरु के प्रवास काल मे वालक जिनवल्लभ को संयोगवश एक वस्तु और मिली, जिसका महत्त्व संभवत उस समय उनको न मालूम हुआ होगा, परन्तु कौन कह सकता है कि उनके जीवन की दिशा को वदलने मे उसने अप्रत्यक्ष रूप से वहुत वडा काम नही किया ! घटना इस प्रकार है

जव जिनेश्वराचार्य दूसरे ग्राम मे चले गये तव वाल-सुलभ कौतूहलवश उन्होंने एक पुस्तकों से भरी हुई पेटी की छान-वीन प्रारम्भ की। उसमे उनको एक सिद्धान्त-पुस्तक मिली। उस पुस्तक मे उन्होंने जो पढा उससे उन्हे पता चला कि चैत्यवासियो का जो आचार-विचार है वह (दसवैकालिक आदि) सिद्धान्त के विल्कुल विपरीत है। उसमे लिखा था "साधु को ४२ दोषो से रहित होकर गृहस्थो के घरो से थोडा-थोडा भोजन उसी प्रकार लाना चाहिए जिस प्रकार मधुकर विभिन्न फूलो से रस को एकत्र करता है। इस वृत्ति के द्वारा साधु की देहधारणा हो जाती है और किसी को कष्ट भी नही होता। साधुओ को एक स्थान पर निवास नही करना चाहिए और न सचित्त फूल-फलादि को स्पर्श ही करना चाहिये।" यह पढते ही वालक जिनवल्लभ का मन उद्वेलित हो उठा और उन्होने सोचा, "अहो ! अन्य एव स कश्चिद् व्रताचारो, येन मुक्तौ गम्यते, विसदृशस्त्वस्माकमेष समाचार, स्फुटं दुर्गति-गर्तायां निपतता एतेन न कश्चिदाधार." अर्थात् "अहो ! जिससे मुक्ति प्राप्त होती है वह तो व्रत और आचार कोई दूसरा ही है, हमारा तो यह आचार विल्कुल विपरीत ही है। हम तो स्पष्टतया ही दुर्गति के गड्ढे मे पडे हुए हैं और हम विल्कुल निराधार हैं।"

अभयदेवसूरि से विद्याध्ययन

महापुरुषो के जीवन का यह एक व्यापक रहस्य है कि उनके मन मे उठने वाले महत्त्वपूर्ण संकल्पो की सिद्धि का मार्ग स्वत ही तैयार हो जाता है। जिनवल्लभ के विषय मे भी यही हुआ। उनके मन मे साधु के सच्चे व्रताचार के लिये जो उत्कण्ठा थी उसके लिये समुचित साधन स्वत ही उपस्थित हो गये। जिनेश्वराचार्य ने स्वयं सोचा कि जिनवल्लभ को सिद्धान्त-ग्रन्थो की शिक्षा दिलवाना आवश्यक है। उस समय सिद्धान्त-ग्रन्थों के ज्ञान मे श्रीअभयदेवसूरि की वडी प्रसिद्धि थी। उन्होने जिनवल्लभ को उन्ही आचार्य के पास पाटण मे भेज दिया। सिद्धान्त-ग्रन्थ पढने के लिए यह आवश्यक है कि पढने वाला व्यक्ति अधिकारी हो, यही अधिकार प्रदान करने के लिए उन्हे वाचनाचार्य वनाकर भेजा।[1] जिनवल्लभगणि के साथ उनके गुरुभ्राता जिनशेखर भी गये।

उन दिनो चैत्यवासियो और वसतिवासियो मे पर्याप्त संघर्ष रहा करता था, अत एक चैत्यवासी आचार्य के शिष्य को आगम की वाचना देना स्वीकार कर लेना एक वसति-

१. यहा से आपकी ख्याति "जिनवल्लभ गणि" के नाम से हुई।

वासी आचार्य के लिये संकट से खाली नही था। इसलिये श्रीअभयदेवसूरि के मन मे भी संशय उठा कि वह जिनवल्लभ को वाचना दे या नही ? परन्तु जब उनको विश्वास हो गया कि जिनवल्लभ के मन में सिद्धान्त-वाचना के लिये उत्कृष्ट अभिलाषा है और उसके लिये उपयुक्त पात्रता भी है तो उन्होंने सोचा कि

"मरिज्जा सह विज्जाए, कालम्मि आगए विऊ।
अपत्तं च न वाइज्जा, पत्तं च न विमाणए॥"

अर्थात्-अवसान समय के आने पर विद्वान् मनुष्य अपनी विद्या के साथ भले मर जाय, परन्तु अपात्र को शास्त्रवाचना न करावे और पात्र के आने पर उसका (वाचना न कराके) अपमान न करे। इसलिये उन्होंने गणि जिनवल्लभ को वाचना देना स्वीकार कर लिया। जैसे-जैसे जिनवल्लभगणि अपने विद्याभ्यास से उन्हे सन्तुष्ट करते गये वैसे ही वे विद्यादान मे अधिकाधिक उत्साही होते गये। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने थोडे से समय मे ही सारे सिद्धान्त-ग्रन्थो का अध्ययन पूर्ण कर लिया। जिनवल्लभगणि की प्रखरबुद्धि और ज्ञान पिपासा को देखकर आचार्य ने उन्हे एक वहुत वडे ज्योतिषज्ञ के पास भेजा। इस विद्वान् ने आचार्य से पहले ही कह रखा था कि आपका कोई योग्य शिष्य हो तो उसे मेरे पास भेजे, जिससे मैं उसको अपना समग्र ज्योतिष-ज्ञान सिखला दूँ। योग्य शिष्य को पाकर किस गुरु का मन प्रसन्न न होगा ? वह ज्योतिषाचार्य भी जिनवल्लभगणि जैसे छात्र को पाकर वहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने उन्हे अपनी सारी विद्या सिखा दी। उन्होंने कौन-कौन से ग्रन्थ पढे इसका तो पता नही चलता, परन्तु इस सम्बन्ध मे सुमतिगणि और जिनपालोपाध्याय दोनो ने ही यही लिखा है कि उन्होंने "सर्वं ज्योतिषशास्त्र" पढे थे।

जिनवल्लभगणि की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए उक्त दोनो लेखको ने जिन लेखको का और ग्रन्थो का उल्लेख किया है उनसे पता चलता है कि उन्होंने जैन-सिद्धान्त और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त और भी वहुत ग्रन्थ पढे थे। पत्तन मे उन्होंने जो अध्ययन किया उसमे जैन-दर्शन और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त किन्ही अन्य ग्रन्थो के अध्ययन करने का कोई प्रमाण नही मिलता। अत यह मानना पडेगा कि इनके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ अध्ययन किया उसके लिए तो अधिकाशत वे चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के ही ऋणी थे। यही कारण है कि वे अपने प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक काव्य मे जहा अपने 'सद्गुरु अभयदेवाचार्य[१]'

१ पाके धातुरवाचि क ? क्व भवतो भीरोर्मन प्रीतये ?
सालङ्कारविदग्धया वद कया रज्यन्ति ? विद्वज्जना।
पाणौ किं मुरजिद् बिभर्ति ? भुवि त ध्यायन्ति ? के वा सदा,
के वा सद्गुरवोत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुता. ॥१५८॥
उत्तरम्-"श्रीमदभयदेवाचार्या"

का स्मरण करते हैं तो "मद्गुरवो जिनेश्वरसूरय १" कह कर उन चैत्यवासी आचार्य को भी नहीं भूलते ।

इससे सिद्ध होता है कि जिनेश्वराचार्य भी बडे प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने जो ग्रन्थ संभवत जिनवल्लभ को पढाये, उसमे पाणिनीय आदि के आठों व्याकरण, मेघदूतादि काव्य, रुद्रट, उद्भट, दण्डी, वामन और भामह आदि के अलङ्कार ग्रन्थ, ८४ नाटक, जयदेव आदि के छन्द शास्त्र के ग्रन्थ, भरत नाट्य और कामसूत्र, अनेकान्त जयपताकादि जैन न्यायग्रन्थ तथा तर्ककंदली, किरणावली, न्यायसूत्र तथा कमलशीलादि जैनेतर दार्शनिक ग्रन्थ थे । एक और ग्रन्थ या ग्रन्थकार जिसका उल्लेख उनकी विद्वत्ता के प्रसंग मे मिलता है वह है "शङ्करनन्दन" । यह ठीक नही कहा जा सकता कि शङ्करनन्दन से अभिप्राय किससे है ? संभवत यह कोई वेदान्ती आचार्य रहा हो ।

चैत्यवास त्याग और उपसम्पदा ग्रहण

पत्तन मे विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जब वे अपने गुरु जिनेश्वराचार्य के पास वापिस जाने लगे तो आचार्य अभयदेवसूरि ने कहा कि "बेटा ! सिद्धान्त के अनुसार जो साधुओ का आचार-व्रत है वह तुम सब समझ चुके, अत उसके अनुसार जिस प्रकार आचरण कर सको वैसा ही प्रयत्न करना।" यह वस्तुत जिनवल्लभगणि के अन्तरात्मा की पुकार थी। उनके मन मे चैत्यवास के प्रति अरुचि और वसतिवास के प्रति उत्कट प्रेम पहिले से ही उत्पन्न हो चुका था, अत जिनवल्लभगणि ने भी अभयदेवाचार्य के चरणो पर गिर कर कहा कि "गुरुदेव ! आपकी जो आज्ञा है वैसा ही निश्चित रूप से करूंगा।" इस वचन का पालन उन्होंने मार्ग मे ही करना प्रारंभ कर दिया। जैसे ही मरुकोट (मरोट) मे पहुचे, (जहाँ कि उन्होंने आते समय देवगृह की स्थापना की थी) तो उन्होंने देवगृह मे एक विधिवाक्य के रूप मे निम्नलिखित श्लोक लिखा, जिसका पालन करके अविधिचैत्य भी विधिचैत्य होकर मुक्ति का साधन बन सके

> **अत्रोत्सूत्रजनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा,**
> **साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि ।**
> **जातिज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि—**
> **त्याज्ञाऽत्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीजैनचैत्यालये ॥१॥**

अब उन्होने जिनेश्वराचार्य से पृथक् होने का दृढ संकल्प कर लिया था। यह कोई सरल कार्य नही था। उस बूढे की जिनवल्लभजी पर प्रगाढ ममता थी और इनका भी उनके प्रति अनुराग और भक्तिभाव होना स्वाभाविक था। अत इस सुदृढ स्नेह-बन्धन को काट कर

१. क स्यादम्भसि वारिवायसवति ? क्व द्वीपिन हन्त्यय ?
लोके प्राह हय प्रयोगनिपुणै क शब्दवातु स्मृत ?
ब्रूते पालयितात्र दुर्वरतर क क्षुभ्यतोम्भोनिधे—
र्ब्रूहि श्रीजिनवल्लभ ! स्तुतिपद कीदृग्विधा के सताम् ? ॥१५६॥
उत्तर—"मद्गुरवो जिनेश्वरसूरय"

निकल भागना, त्याग-मार्ग स्वीकार करना साधारण कार्य न था। जिनवल्लभगणि के मन मे भी परिस्थिति की गम्भीरता आई और उन्होने सोचा कि संभवत जिनेश्वराचार्य के चैत्य मे पहुँच कर पूर्वस्मृतिया अत्यधिक वेग से जागृत हो उठेगी और उस समय अपने संकल्प पर दृढ रहना कठिन हो जायगा। इसीलिये उन्होंने वहा न जाकर निकटवर्ती माइयड ग्राम मे ही रह कर अपने गुरु को पत्र लिखकर मिलने के लिये बुलाया। पत्र मे उन्होने लिखा था-"मैं गुरु से विद्याध्ययन करके माइयड ग्राम मे आ गया हू, यदि भगवन्! यही आकर मुझ से मिलेगे तो अति कृपा होगी।" यह पत्र पढकर जिनेश्वराचार्य को बहुत आश्चर्य और दु ख हुआ। परन्तु फिर भी वे बडे समारोह के साथ शिष्य को लेने माइयड ग्राम गये। यह सुनते ही कि गुरुजी अनुग्रह करके पधारे हैं, जिनवल्लभगणि गद्गद हो गये और तत्काल उनके सामने पहुचे और विधिवत् प्रणाम किया। स्नेह की सरिता उमड उठी। गुरु ने क्षेमकुशल पूछी, उसका उन्होने यथोचित उत्तर दिया। इसी समय उनको अपना ज्योतिष का ज्ञान दिखाने का भी अवसर उपस्थित हुआ। एक ब्राह्मण वहा आया और उसने ज्योतिष की कई समस्याओ को उपस्थित किया। जिनवल्लभगणि द्वारा उनका समुचित समाधान देखकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही आश्चर्यचकित हुए और उनके हृदय मे अपार हर्ष एवं उल्लास उत्पन्न हो गया। ऐसी अवस्था मे जिनवल्लभगणि के आसिका न जाने से उनके मन मे जो शका उत्पन्न हुई थी वह एक पहेली बनकर उनके मन मे फिर उठी और उन्होने पूछा कि, जिनवल्लभ! यह क्या बात है कि तुम सीधे आसिका के अपने चैत्यवास मे न आये और मुझे यहा बुलाया? यह जिनवल्लभगणि के संकल्प, संयम और धैर्य की परीक्षा का समय था। कोई साधारण जन होता तो ममता और मोह के ऐसे पारावार मे डूब गया होता, परन्तु जिनवल्लभगणि ने अत्यत दृढता के साथ विनीत स्वर में कहा-"भगवन्! सद्गुरु के श्रीमुख से जिन-वचनामृत का पान करके भी अब उस चैत्यवास का सेवन कैसे करूं? जो कि मेरे लिये विष-वृक्ष के समान है।" यह सुनते ही आचार्य जिनेश्वर की आशाओ पर तुषारापात हो गया। उस समय उनकी दशा बडी दयनीय थी। वे बोले-"जिनवल्लभ! मैंने यह सोचा था कि मैं अपना उत्तराधिकार देकर और चैत्यालय, गच्छ तथा श्रावक सघ का सारा भार तुम्हे सौंप कर स्वयं सद्गुरु के पास जाकर वसतिवास को स्वीकार करूंगा।" उनके यह वचन सुनकर जिनवल्लभगणि का मुख हर्षोल्लास से जगमगा उठा और वे बोले-"भगवन्! यह तो बहुत ही सुन्दर बात है। हेय वस्तु का परित्याग करके उपादेय वस्तु का ग्रहण करना ही विवेक का काम है, अतः अपने दोनो एक साथ ही सद्गुरु के समीप चलकर सन्मार्ग को स्वीकार करें।" यह सुनकर जिनेश्वराचार्य ने एक दीर्घ नि श्वास ली और करुण स्वर मे कहा कि-'बेटा! मुझ मे इतनी नि स्पृहता कहा कि गच्छ चैत्य आदि को ऐसे ही छोड दू? हाँ, जब तुम तुल गये हो तो अवश्य वसतिवास को स्वीकार करो।"

इस प्रकार गुरु से अनुमति प्राप्त करके वे पुन पत्तन मे गये और अभयदेवसूरि को अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम किया। आचार्य अभयदेव भी हृदय मे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होने सोचा कि मैंने इसको जैसा योग्य समझा था वैसा ही सिद्ध हुआ। उनके मन मे यह दृढ विश्वास था कि-"जिनवल्लभ ही हमारा उत्तराधिकारी (पट्टधर) होने के सर्वथा योग्य है, परन्तु क्या उसको समाज स्वीकार करेगा? वह एक चैत्यवासी आचार्य का शिष्य था,

पर इससे क्या ? क्या पङ्क से पङ्कज उत्पन्न नहीं होता ?" इस प्रकार सोचते हुए भी अभयदेवसूरि जैसे प्रभावशाली आचार्य-शिरोमणि भी जिस बात को न्याय, धर्म और समाजहित की दृष्टि से सर्वथा उचित समझते थे, उसको अन्धविश्वासी समाज का विरोध सहन करके भी करते । संभवत वे भी यही सोचकर सतुष्ट हो गए कि "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं नाचरणीयम्" अत आचार्यश्री के मन की बात मन मे ही रह गई और उन्होंने स्थिति को लक्ष्य मे रखते हुए समाज के सामने मत्था टेककर अपनी अन्तरात्मा की पुकार के विरुद्ध अपने दूसरे शिष्य वर्धमान को आचार्य-पद देकर जिनवल्लभगणि को उपसम्पदा प्रदान की और सर्वत्र विचरण करने की अनुमति प्रदान की । तत्पश्चात् आचार्य अभयदेव के संकेतानुसार प्रसन्नचन्द्राचार्य की आज्ञा से उनके पश्चात् देवभद्राचार्य ने इनको पट्टधर बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु जब जिनवल्लभगणि को यह पद प्राप्त हुआ, तो उनके जीवन का सूर्य अस्त होने वाला था ।

चित्रकूट गमन

उपसम्पदा ग्रहण करके वे कुछ दिन गुर्जरप्रदेश मे विहार करते रहे, परन्तु वहां उन्हें सुविहित सिद्धान्त-प्रचार मे वैसी सफलता नही मिली जैसी कि वे चाहते थे । उस समय गुजरात चैत्यवासियो का सब से बडा गढ था । यहा पर जिनवल्लभगणि जैसे क्रान्तिकारी विचारक, कटु आलोचक और निर्भय वक्ता की दाल गलना सरल न था । यह तो अभयदेवाचार्य जैसे सुलझे हुए और व्यवहार-कुशल व्यक्ति का ही काम था, जो चैत्यवासियो के प्रधानाचार्य आचार्य द्रोणसूरि तक से समुचित सन्मान प्राप्त कर सके और अपने नवाङ्गो की टीका पर उनकी छाप लगवा कर चैत्यवासियो द्वारा मान्य भी करा सके । परन्तु जिनवल्लभगणि दूसरे ही प्रकार के व्यक्ति थे, वे जिनका विरोध करते थे उसका बडे उग्ररूप मे, और उन्हे किसी विषय मे और किसी समय शिथिलता तनिक भी पसन्द नही थी । इनकी असफलता का एक कारण यह भी हो सकता है चैत्यवास त्याग करने से चैत्यवासी इनको अपना शत्रु सा समझने लगे होंगे और चैत्यवास के संसर्ग मे रहने के कारण वसतिमार्गियो से उन्हे समुचित आदर एवं सहयोग न मिला होगा । इसी कारण संभवत उन्होने गुर्जरप्रदेश को छोड कर मेदपाट (मेवाड) मे जाना स्वीकार किया । यद्यपि वहा भी सर्वत्र चैत्यवासियो का जोर था, परन्तु नये प्रदेश मे एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए अपना स्थान बना लेना अधिक सरल होता है । 'घर का जोगी जोगिया, आन गाव का सिद्ध' यह कहावत प्रसिद्ध ही है । इसी के अनुसार महात्मा गौतम बुद्ध को जो आदर बाहर मिला वह उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु मे नही , भगवान् महावीर को भी लिच्छवी गण मे सफलता तब ही मिली जब वे अन्यत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे । यही बात आधुनिक काल मे आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द के जीवन मे भी हुई । अत जिनवल्लभगणि को मेदपाट मे अधिक सफलता प्राप्त होना स्वाभाविक ही था ।

मेदपाट प्रदेश मे जाकर उन्होने पहिले पहल चित्रकूट (चितोड़) मे कुछ दिन विताने का निश्चय किया । वहा पर उनके गुरु आचार्य अभयदेव की कीर्त्ति और प्रतिष्ठा पर्याप्त थी । अत वहां के लोग उनका कोई विगाड तो न कर सके परन्तु फिर भी उन्हे कुछ क्षुद्रजनो का

पर्याप्त विरोध सहन करना पड़ा। वहा के श्रावकों से उन्होने रहने के लिये स्थान मागा तो उत्तर मिला—"यहा एक चण्डिकामठ है वहा यदि ठहरना चाहे तो ठहर जाय।" गणिजी उनके दुष्ट अभिप्राय को अच्छी तरह से समझते थे परन्तु फिर भी वे देवगुरु के प्रसाद पर विश्वास रख के वही पर ठहर गये। चण्डिका देवी भी उनके ज्ञान, ध्यान और अनुष्ठान से प्रसन्न हुई और उनकी सिद्धिदात्री बन गई। उनके पास प्रतिदिन अनेक दार्शनिक ब्राह्मण आने लगे। इनमे से प्रत्येक निज-निज शास्त्रो के विषय मे उनसे वार्तालाप करता था और उनके उत्तर से सन्तोपलाभ करता था। धीरे धीरे उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि और उनके पाण्डित्य का प्रभाव व सुयश सर्वत्र फैल गया। जैन श्रावक भी उनकी ओर आकर्षित हुए और उनको विश्वास होने लगा कि यही एक साधु है जो सर्व संशयो को दूर करके हमारे हृदय के अन्धकार को दूर कर सकता है। गणिजी जी मे जो बात सब से अधिक आकर्षण करने वाली थी वह यह थी कि उनकी 'कथनी' और 'करणी' एक थी। वे जिन सिद्धान्तवचनो की व्याख्या अपने वचनो मे करते थे उन्ही को वे अपने आचरण मे भी उतारते थे। यही कारण है कि साधारण, सड्ढक, सुमति, पल्हक, वीरक, मानदेव, धन्धक, सोमिलक, वीरदेव आदि श्रावको ने जिनवल्लभगणि को सद्‌गुरु के रूप मे स्वीकार किया।

गणिजी के चमत्कार

चित्रकूट मे रहते हुए जिनवल्लभगणि ने कई चमत्कारपूर्ण कार्य किए। इनका साधारण नाम का एक भक्त-श्रावक एक बार उनके पास आया। वह चाहता था कि अपने जीवन मे परिग्रह की एक सीमा निर्धारित करलू। इसका सकल्प लेने के लिये जब वह उनके पास आया तो उन्होंने पूछा कि तुम अपने सर्व सग्रह की सीमा कितनी रखना चाहते हो? साधारण श्रावक का वैभव साधारण ही था, अत उसने सर्व संग्रह की सीमा २० हजार की रखनी चाही। परन्तु जिनवल्लभगणि जो अपने ज्योतिष ज्ञान से उसके भावी ऐश्वर्य को देख सकते थे, अत उन्होने उस सीमा को और बढाने के लिये कहा। तब साधारण ने तीस सहस्र कहे। परन्तु जिनवल्लभगणि ने कहा कि "यह पर्याप्त नहीहै और अधिक बढाओ।" साधारण को इस पर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योकि उसके गृह की समस्त वस्तुओ का मूल्य ५०० भी नही होता था, फिर भी गणिजी के वारंवार आग्रह करने पर उसने एक लाख का सर्व परिग्रह निश्चित किया। स्वल्प कालान्तर मे ही उसकी सम्पत्ति इतनी बढी कि वह एक लक्षाधीश कहलाने लगा और वह सम्पूर्ण सघ मे अग्रगण्य हो गया। इस चमत्कार से वे सारे सेठ भी उनकी ओर आकर्षित हो गये, जो साधुओ के पास धर्म और चरित्र की शिक्षा के लिये नही अपितु ऋद्धि-सिद्धि दोहने के लिये जाते हैं।

एक दूसरा चमत्कार उन्होने और दिखलाया। उनके ज्योतिषज्ञान की कीर्त्ति सर्वत्र फैल गई थी। एक ज्योतिषि ब्राह्मण उनके यश को सहन न कर सका और वह जिनवल्लभगणि को नीचा दिखाने की दृष्टि से उनके पास आया। उपासको द्वारा आसन देने के पश्चात् निम्नलिखित वार्तालाप प्रारम्भ हुआ —

जि०—भद्र! आपका निवास स्थान कहा है? और आपने किस शास्त्र का अभ्यास किया है?

ब्रा०—मेरा निवास स्थान यहां ही है और मैंने अभ्यास व्याकरण, काव्य, अलङ्कार आदि सब ही शास्त्रों का किया है।

जि० ठीक है, परन्तु विशेष रूप से किस विषय का किया है?

ब्रा०—ज्योतिष का।

जि० चन्द्र और आदित्य के लग्नों के विषय में आप क्या जानते हैं?

ब्रा० इसमें क्या है? बिना गणना किये ही एक दो या तीन लग्नों का प्रतिपादन कर सकता हूँ।

जि० बहुत सुन्दर ज्ञान है।

ब्रा०—लग्न के विषय में क्या आप भी कुछ जानते हैं?

जि०—हां कुछ थोडा सा।

ब्रा०—अच्छा, तो आप कुछ कहें।

जि०—भूदेव! आप बतलाइये, मैं दस या बीस कितने लग्नों का प्रतिपादन करूं?

यह बात सुनकर ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया और उसके आश्चर्य का तो ठिकाना ही न रहा, जब उन्होंने शीघ्र गणना करके उन लग्नों को बतला दिया। इसके बाद गणिजी आकाश की ओर संकेत करके बोले—"विप्रवर! देखो वह आकाश में दो हाथ का जो मेघ-खण्ड दिखाई पड़ता है, क्या आप बता सकते हैं कि उससे कितनी वर्षा होगी?" ब्राह्मण बेचारा हतप्रभ हो गया। उसको निरुत्तर देख कर गणिजी ने बतलाया कि वह मेघखण्ड दो घडी के भीतर सम्पूर्ण गगनमण्डल में व्याप्त होकर इतनी जल-वृष्टि करेगा कि दो "भाजन" भर जायेंगे। सचमुच ऐसा हुआ भी। इसके परिणाम स्वरूप वह ब्राह्मण जब तक वहां रहा तब तक उनके चरणों की वन्दना करके ही भोजन करता था।

षट्कल्याणक प्ररूपणा और विधि-चैत्यों की स्थापना

जिनवल्लभगणि जैन-सिद्धान्त के कितने मर्मज्ञ थे और उसका प्रतिपादन वे कितने निर्भय होकर करते थे; इस बात का प्रमाण उनके द्वारा की गई छठे कल्याणक की प्ररूपणा में मिलता है। साधारणतया प्रत्येक तीर्थंकर के निम्नलिखित पाँच कल्याणक माने जाते हैं:—

१. देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश करना। २ जन्म ग्रहण करना। ३ संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण करना। ४ तपश्चर्या द्वारा केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करना। ५ निर्वाण (मुक्ति) प्राप्त करना।

भगवान् महावीर के विषय में यह विशेष माना जाता है कि पहिले उन्होंने देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश किया और वहाँ से उस गर्भ को इन्द्र-आदेश से हरिणगमेषी देव द्वारा महारानी त्रिशला के गर्भ में लाया गया। मूलग्रन्थों में जैसा कि आगे बतलाया गया है इस गर्भापहरण को भी उपर्युक्त पाँच के समान ही एक कल्याणक माना गया है। जिनवल्लभगणि ने कल्पसूत्रादि के पाठ पर सम्यग् विमर्श कर इसको छठा कल्याणक प्रसिद्ध किया। अन्य पाँच कल्याणकों के उपलक्ष में तो उस समय चैत्यवासी लोग भी एक उत्सव मनाकर भगवान् की पूजा किया करते थे, परन्तु गर्भापहरण नाम का कल्याणक तत्कालीन जनता में विस्मृत हो

चुका था। इसलिये जब आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के आने पर जिनवल्लभगणि ने श्रावकों को कहा कि आज हमें श्रमण भगवान् महावीर का छठा कल्याणक मनाना है तो वे बडे आश्चर्य में पड गये। परन्तु जब उनको आगमों के प्रमाण देकर समझाया गया तो वे लोग छठे कल्याणक को मनाने के लिये सहर्ष तैयार हुए। वहाँ के सभी देवालय चैत्यवासियों के थे, अत प्रश्न यह था कि उसको कहाँ मनाया जाय ? प्रथम तो जिनवल्लभगणि के नेतृत्व में सभी श्रावक एक चैत्यालय पर गये, परन्तु उनको देखते ही उस चैत्यालय की एक आर्या धरना देकर द्वार पर बैठ गई। उसका कहना था कि ऐसा काम कभी भी नहीं हुआ, गर्भापहार का उत्सव किसी ने नही मनाया, इसलिये मैं अपने जीते जी कदापि न होने दूंगी। बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब उसने अपना हठ नही छोडा तो जिनवल्लभगणि सारे श्रावकों को लेकर वापिस अपने स्थान पर लौट आये। अन्त में एक श्रावक के घर पर ही भगवान् की मूर्ति की स्थापना कर वह उत्सव सम्पन्न किया गया।

इस घटना से जिनवल्लभगणि के श्रावकों को अपनी उपासना के लिये एक स्वतंत्र देवगृह की आवश्यकता प्रतीत हुई। अत उन्होंने गणिजी के सामने दो देवालय बनाने की इच्छा प्रकट की। गणिजी ने भी उनके इस पुण्य प्रयत्न को श्रावकों का आवश्यक कर्त्तव्य व आचार बतलाया और श्रावकों ने भी निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। सत्कार्य में विघ्न होते ही हैं। इस कार्य में भी अकारण ही वसुदेव नामक सेठ विघ्नरूप बनकर उपस्थित हुआ और उसने इन देवगृह-निर्माण करने वाले श्रावकों को कापालिक तक कह डाला। एक दिन बाहर जाते हुए गणिजी को वह मिल गया, तो उन्होंने बडे प्रेम पूर्वक उससे कहा कि 'भद्र वसुदेव ! गर्व करना ठीक नही है। जो श्रावक देवालय बनवा रहे हैं उनमें कोई ऐसा भी होगा जो तुम्हें कर्मों बन्धन मुक्त करेगा।' उस समय तो वसुदेव सम्भवत इन शब्दों के मर्म को न समझ सका। परन्तु कुछ दिनों बाद जब वह किसी अपराध के कारण राजा का कोपभाजन हुआ और उसे ऊंट के साथ बाध के ले जाने की आज्ञा हुई तो जिनवल्लभगणि के भक्त-श्रावक साधारण नाम के सेठ ने ही उसको छुडाया। अन्त में उक्त दोनों मन्दिर पूर्ण हो गये और वाचनाचार्य जिनवल्लभगणि ने पार्श्वनाथ और महावीर विधि-चैत्यों की स्थापना कर दी।

नवीन विधिचैत्यों के निर्माण का यही कारण देते हुये स्वयं आचार्य जिनवल्लभ स्वप्रणीत अष्टसप्ततिका अपरनाम चित्रकूटीय वीर-चैत्य-प्रशस्ति पद्य ६६-६७ में लिखते हैं

> क्षुद्राचीर्णकुबोधकुग्रहहते स्व धार्मिक तन्वति,
> द्विष्टानिष्टनिकृष्टधृष्टमनसि क्लिष्टे जने भूयसि।
> तादृग्लोकपरिग्रहेण निबिडद्वेषोग्ररागग्रह-
> ग्रस्तैस्तद्गुरुसात्कृतेषु च जिनावासेषु भूम्नाधुना ॥६६॥
> तत्त्वद्वेषविशेष एष यदसन्मार्गे प्रवृत्ति सदा,
> सेय धर्मविरोधबोधविधुतिर्यत्सत्पथे साम्यधीः।
> तस्मात्सत्पथमुद्विभावयिषुभि कृत्य कृत स्यादिति
> श्रीवीरास्पदमाप्तसम्मतमिद ते कारयाञ्चक्रिरे ॥६७॥

आचार्य जिनवल्लभ के ही प्रपौत्र पट्टधर श्रीजिनपतिसूरि ने जिनवल्लभीय संघपट्टक की बृहद्वृत्ति में, ३३ वें पद्य की व्याख्या करते हुये इन्हीं दोनों पद्यों को उद्धृत किया है और उन पर व्याख्या लिखी है.

व्याख्या—श्रीवीरास्पद-श्रीमहावीरजिनगृहं आप्तसम्मतं सद्गुरूणामनुमतं इद-प्रत्यक्षं ते प्रागुक्ताः श्रावका कारयाञ्चक्रिरे-विरचयाम्बभूवु । अथ तत्रान्यदेवगृहसद्भावेऽपि तदबहुमानादपरविधापनेन तेषां भगवदाशातनाप्रसङ्गात् किमिति ते कारयामासु.? इत्यत आह क्षुद्राणां-लिङ्गिना आचीर्णानि-सिद्धान्तोक्तमपि श्रीमहावीरस्य षष्ठं गर्भापहारकल्याणकं लज्जनीयत्वात् न कर्त्तव्यमित्यादिका आचरणा ततश्च आचीर्णानि च कुबोधश्च कुग्रहश्च तै. हते-दूषिते स्वं धार्मिकं तन्वति-वयमेव धार्मिका इति सर्वत्र प्रख्यापयन्ति । द्विष्टं-मात्सर्यवत् अनिष्टं-अपायकरणप्रवणं निकृष्टं-अधमं धृष्ट-पापं कुर्वतोऽनुपजायमानं शङ्कं मन-चित्तं यस्य स तथा तस्मिन्, किलष्टे-धार्मिकान्प्रति क्रूराध्यवसाये एवम्विधे सम्प्रति भूयसि-प्रभूते जने-लोके सति । अथ यद्येवम्विधो भूयान् लोक सम्प्रति तत किमायातमपरचैत्यविधापनस्य ? इत्यत आह—तादृग्लोकपरिग्रहेण-प्रागुक्तविशेषणविशिष्टजनाधीनत्वेन निबिडद्वेषोग्ररागग्रहेण-तीव्रगुणवत्मात्सर्योदग्रस्वमतानुरागाभिनिवेशेन ग्रस्ता-वशीकृता ये एतद्गुरवः-प्रागभिहितनामाचार्यास्तत् सात्कृतेषु देयेयं सातितद्धितः, ततश्च गुरुदक्षिणीकरणेन तदायत्तीकृतेषु जिनावासेषु-चैत्यसद्मसु भूम्ना-बाहुल्येन अधुना मञ्जातेषु सत्सु । ननु यदि सम्प्रति जिनालया दुष्टलोकपरिगृहीता लिङ्गिगुरूणामायत्ताश्च तत् किमेतावता द्वेषकारित्वात् आगमविरुद्धाचारित्वाच्च तेषामेव पातकं भविष्यति, भवतां तु पूजावन्दनादिकं कुर्वाणाना धर्म एव ? इत्यत आह तत्त्वद्वेषविशेष. सन्मार्गे मात्सर्यप्रकर्ष एष. । यद् असन्मार्गे-कुमार्गे प्रवृत्ति.-नमनपूजनव्यवहार लिङ्गिपरिगृहीतो हि जिनालयादि सर्वोऽपि असन्मार्ग., ततश्च सत्पथमेव बुध्यमाना अपि यन्नित्यं असन्मार्गे प्रवर्तन्ते तन्नूनं तेषां सत्पथे द्वेषो मनसि विपरिवर्तते, कथमन्यथा तत्रैव प्रवृत्ति ? अतस्तत्र प्रवर्तमानानां धार्मिकाणामपि अविध्यनुमोदनमुग्धजनस्थिरीकरणादिना पापमेव । सदा ग्रहणात् कदाचिदपवादेन तत्रापि प्रवृत्तिरनुज्ञाता । सेयं-सैषा धर्मविरोधेन सद्धर्मविद्वेषेण बोधविधुति—सद्बोधनाशो यत् सत्पथे सन्मार्गे कुपथेन साम्यधी-तुल्यताबुद्धि । सत्पथकुपथयोः ह्यालोकतमसोरिव महदन्तरम्, सत्पथपरिज्ञानेऽपि नित्यं कुपथप्रवृत्तौ तु तेषां सत्पथकुपथयो. साधारण्यं चेतसि निविशमानं लक्ष्यते । तथा च नूनं ते धर्मविद्वेषिण सद्बोधविधुरा इति । यस्मादेव तस्मात् सत्पथं-विधिमार्गं उद्दिभावयिषुभि-विधिचैत्यविधापनेन प्रकाशयद्भिः अस्माभिः कृत्यं-कर्त्तव्यं कृतं-विहितं स्यात् । विधिमार्गमासेदुषा ह्येतदेव कर्त्तव्यं यत् कुपथपाथोधिपातुकभविको द्विधीर्षया विधिमार्गस्य प्रकाशनं, न चासौ सम्प्रति विधिचैत्यनिर्मापणं विना प्रकाशयितुं शक्यते । शेषचैत्यानां प्रायेण सर्वेषामपि लिङ्गिपरिग्रहेणाऽऽयात-त्वात् इति हेतो अस्माद्धेतोस्ते वीरास्पदमित्यादि पूर्वव्याख्यातम् । इत्यानुषङ्गिकवृत्तिद्वयार्थः ।

अर्थात् भगवान् महावीर का गर्भापहार कल्याणक सिद्धान्त-सम्मत होने पर भी वेषधारी इसे लज्जनीय मानकर, त्याज्य मानते हैं और इस दिवस धार्मिक अनुष्ठान करने वाले श्रावकों को न केवल हेय दृष्टि से ही देखते हैं अपितु धर्माराधन में बाधक भी होते हैं,

तथा चैत्यो मे प्रवेश भी नही करने देते है। साथ ही कदाग्रह-ग्रस्त एवं मात्सर्य से पीडित होकर भी स्वय को धार्मिक और अन्य को अधार्मिक कहते है। ऐसी अवस्था मे शास्त्रसम्मत और कुपथसम्मत आयतन का भेद आवश्यक होने से विधिचैत्य का निर्माण शास्त्रयुक्त है। विधिमार्ग का प्रकाशन विधिचैत्य के निर्माण से ही सम्भव है। इसीलिये नवीन महावीर चैत्य का निर्माण श्रावको ने किया है।

इसी चित्रकूटीय वीर चैत्य प्रशस्ति पद्य ७८ मे आ० जिनवल्लभ ने इस नूतन निर्मापित महावीर विधिचैत्य की प्रतिष्ठा का समय शक संवत् १०२८ अर्थात् विक्रम सवत् ११६३ दिया है। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि वि० सं० ११५८ और ११६० के पूर्व ही जिनवल्लभ गणि गुजरात से चलकर चित्तौड आये और वहा रहते हुये तत्रस्थ श्रेष्ठियो को आयतन विधि (विधिपक्ष) का उपासक बनाया एवं उन्हे उपदेश देकर नूतन विधि-चैत्यो का निर्माण करवाया। इसी बीच अर्थात् वि० सं० ११६० के आस-पास चित्तौड मे ही महावीर स्वामी के षट् कल्याणको का सैद्धान्तिक रूप से प्रतिपादन किया होगा।

षड्यंत्र का भण्डाफोड़

जिनवल्लभ गणि के बढते हुए प्रभाव को कुछ लोग सहन न कर सके और वे उसको कम करने के लिये तरह-तरह के उपाय करने लगे। किन्ही मुनिचन्द्राचार्य ने अपने दो शिष्यो को जिनवल्लभजी के पास भेजा। प्रत्यक्ष मे तो वे गणिजी से सिद्धान्तवाचना के लिये आये थे परन्तु अप्रत्यक्ष मे वे एक षड्यन्त्र का आयोजन कर रहे थे। जिनवल्लभगणि शुद्ध मन से उन दोनो को सिद्धान्तो का अध्ययन कराते थे, परन्तु वे दोनो येन-केन-प्रकारेण जिनवल्लभगणि के श्रद्धालु श्रावको मे उनके प्रति असद्भाव उत्पन्न करने मे लगे हुए थे और अपने सब कारनामो का समाचार अपने गुरु मुनिचन्द्राचार्य को लिखते रहते थे। एक बार संयोगवश उनका लिखा पत्र जिनवल्लभजी के हाथ आगया और सारा भण्डाफोड़ हो गया। सारा प्रसंग जानकर उनके मन मे खेद उत्पन्न हुआ और उनके मुख से निकल पडा

आसीज्जनः कृतघ्नः, क्रियमाणघ्नस्तु साम्प्रत जात'।
इति मे मनसि वितर्को, भवितालोकः कथ भविता ॥१॥

[किये हुए उपकार को न मानने वाले कृतघ्न पुरुष पहिले भी थे किन्तु प्रत्यक्ष मे किये जाने वाले उपकार को न मानने वाले भी कृतघ्न इस समय देखे जाते है। मुझे रह-रहकर मन मे विचार आता है कि आगे होने वाले लोग कैसे होगे ?]

जिनवल्लभगणि बडे स्पष्टवादी थे और उनकी आलोचना बडी कटु होती थी। सभी विद्वान् लोग बैठे हुए थे, बहुत से ब्राह्मण विद्वान् भी आये हुए थे। इस बार व्याख्यान मे निम्नलिखित गाथा आगई —

धिज्जाईण गिहीण, जाईण (जई) पासत्थाईण वावि दट्ठूण।
जस्स न मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठि तय बिंति ॥१॥

इस गाथा की व्याख्या उन्होने बडे विस्तार के साथ की और इस प्रसग मे चैत्य-वासियो के साथ-साथ ब्राह्मणो की भी तीव्र आलोचना की। ब्राह्मण लोग इस बात को सहन

न कर सके और क्रुद्ध होकर व्याख्यान से उठ गये। उन्होंने एकत्र होकर सोचा कि किसी प्रकार जिनवल्लभ के साथ विवाद करके इनको निष्प्रभ करना चाहिये। परन्तु जिनवल्लभगणि इससे तनिक भी भयभीत नहीं हुए और उन्होंने निम्नलिखित पद्य भोजपत्र पर लिख कर उनके पास भेजा।

> मर्यादाभङ्गभीतेरमृतमयतया धैर्यगाम्भीर्ययोगाद्,
> न क्षुभ्यन्ते च तावन्नियमितसलिलाः सर्वदैते समुद्राः।
> आहो ! क्षोभं व्रजेयुः क्वचिदपि समये दैवयोगात् तदानीं,
> न क्षोणी नाद्रिचक्रं न च रविशशिनौ सर्वमेकार्णवं स्यात् ॥१॥

[अर्थ—अमृत के समान स्वच्छ जल से परिपूर्ण नियमित जल वाले ये समुद्र धीरता, गम्भीरता और मर्यादाभंग के डर से क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं। यदि दैवयोग से ऐसे इन समुद्रों में कदाचित् क्षोभ उत्पन्न हो जाय तो पृथ्वी, पर्वत, सूर्य, चन्द्र तक का भी पता न चले। सारा जगत् जलमय ही हो जाय।]

यह श्लोक वृद्ध ब्राह्मण ने पढ़ा और अन्य कुपित हुए ब्राह्मणों को समझा-बुझाकर शान्त किया।

प्रतिबोध और प्रतिष्ठाएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनवल्लभगणि ने द्रोह, दर्प और विरोध के सामने कभी सिर नहीं झुकाया, साथ ही वे यह भी समझते थे कि मनुष्य कितना निरीह प्राणी है जो लोभादि का शिकार सहज ही में हो जाता है। ऐसे लोगों पर वे क्रोध नहीं करते थे, क्योंकि वे दया के पात्र होते हैं। इस प्रकार के लोग भी उनके पास आते थे, तो वे उनको आध्यात्मिक रोगी समझ कर उनकी चिकित्सा-विधान किया करते थे, शर्त इस बात की थी कि उस व्यक्ति में पूर्ण श्रद्धा होनी आवश्यक थी। एक बार गणदेव नाम का एक श्रावक उनके पास आया, उसे स्वर्ण (सोना) सिद्धि की आवश्यकता थी। उसने सुन रखा था कि जिनवल्लभ जी के पास स्वर्णसिद्धि है, वह उनके स्थान पर बारंबार आने लगा। गणिजी को उसका यह भाव ज्ञात हो गया। उन्होंने लिप्सा की लपट से दग्ध होते हुए उसके हृदय को परख लिया। अतः उन्होंने ऐसे उपदेशामृत की वृष्टि करना आरंभ किया कि वह सेठ स्वर्णार्थी से धर्मार्थी हो गया। तब गणिजी ने पूछा "भद्र ! कहो, क्या तुम्हें स्वर्णसिद्धि की आवश्यकता है ?" तो उसका यही उत्तर था कि "मैं तो श्राद्ध-धर्म का ही व्यवहार करना चाहता हूँ।" यही सेठ बाद में इनके लिखित "द्वादशकुलक" नामक उपदेशों को लेकर वागड (वागड) प्रदेश में गया और उनका प्रचार करके जिनवल्लभगणि की कीर्तिपताका फैलाई। इसके फलस्वरूप वहां की सारी जनता में गणिजी के प्रति अपार श्रद्धा और स्नेह का वातावरण बन गया[1]।

इसके पश्चात् उनकी कीर्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई और वे अपने ज्ञान और चारित्र के लिये प्रसिद्ध होते गये। दूर-दूर स्थानों से श्रावक लोग उनको आमन्त्रित करने लगे। नागपुर

१ जिसका लाभ सूरिजी के पट्टधर, युगप्रधान पद विभूषित, दादा श्रीजिनदत्तसूरिजी को प्राप्त हुआ।

(नागोर) मे जाकर उन्होने नेमिनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठ की[1] और तत्रस्थ संघ ने आदर पूर्वक सर्व सम्मति से इनको गुरु-रूप मे स्वीकार किया। इधर नरवरपुर के श्रावको के हृदय मे भी यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि जिनवल्लभजी को अपने गुरु-रूप मे स्वीकार करके उनके द्वारा देवमन्दिर और देवप्रतिमा की स्थापना करवायें। उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई और जिनवल्लभगणिजी ने नरवरपुर जाकर उनको कृतार्थ किया। जिन-जिन मन्दिरो मे उन्होने प्रतिष्ठा करवाई, उनकी विशेषता यह थी कि उनमे यह स्पष्ट आदेश[2] लिखवा दिया गया था कि "वहा रात्रि के समय पूजा, अर्चन, स्त्री का प्रवेश तथा ऐसे ही अन्य कार्य जो चैत्यवासियो के मन्दिरो मे होते थे, नही होगे।" इस प्रकार जिनवल्लभगणि का सन्देश स्पष्टतया सफल होने लगा था। अब इनको सन्तोष हो चला था कि उन्होने अपने गुरु अभयदेवाचार्य को जो वचन दिया था, वे उसके अनुसार आचरण करने मे पूर्ण सफल हो रहे हैं।

प्रवचनशक्ति

जिनवल्लभगणि की व्याख्यानपटुता तथा प्रवचनशक्ति की भी बहुत प्रसिद्धि हुई। एक बार विक्रमपुर[3] के आस-पास विहार कर रहे थे। मरुकोट्ट निवासियो ने उनके प्रवचन की प्रशसा सुनकर उनको अपने नगर मे बुलाना चाहा। बहुत मानपूर्वक वीनती करने पर जिनवल्लभगणि विक्रमपुर होते हुए मरुकोट्ट पधारे। वहाँ पहुचने पर श्रावको ने एकत्र होकर बडे विनीत भाव से प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हम लोग आपके श्रीमुख से भगवद् वचनो पर प्रवचन सुनना चाहते हैं।' जिनवल्लभगणि ने कहा—'श्रावको की यह इच्छा सर्वथा उचित और श्लाघ्य है।' अत शुभ दिन से प्रवचन प्रारम्भ हुआ। अपने व्याख्यान के लिए उन्होने श्रीधर्मदासगणि कृत उपदेशमाला की निम्नाकित गाथा को चुना

सवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचदो।
इय विहरिया निरसणा, जइज्ज एओवमाणेण ॥२॥

इसी गाथा को लेकर वाचनाचार्य जिनवल्लभजी ने अनेक दृष्टान्त, उदाहरण आदि देते हुए, सिद्धान्त-प्ररूपण करते-करते छ महीने लगा दिये। इसको देख कर सभी लोग आश्चर्यचकित हुए और कहने लगे, 'ये तो स्वय भगवान् तीर्थंकर मालूम पडते हैं, अन्यथा इस प्रकार की अमृतस्राविणी वाणी कहाँ मिल सकती है।'

समस्या-पूर्ति

व्याख्यान देने और शास्त्रार्थ करने मे जो प्रसिद्धि गणिजी ने प्राप्त की, वही समस्या-पूर्ति के क्षेत्र मे भी उन्हे सहज सुलभ हुई। समस्या-पूर्ति मे न केवल उनकी काव्य-प्रतिभा,

१. इसका उल्लेख तत्कालीन ही देवालय के निर्मापक सेठ धनदेव के पुत्र कवि पद्मानन्द अपने वैराग्य-शतक मे भी करते हैं —

"सिक्त श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरो शान्तोपदेशामृतै, श्रीमन्नागपुरे चकार सदन श्रीनेमिनाथस्य य।
श्रेष्ठी श्रीधनदेव इत्यभिधया ख्यातश्च तस्याङ्गज, पद्मानन्दशत व्यधत्त सुधियामानन्दसम्पत्तये॥"

२. ये लेख चित्तौड, नरवर, नागोर, मरुकोट्ट आदि के मन्दिरो मे उत्कीर्ण करवाये गये थे।

३. जैसलमेर राज्यवर्ती वीकमपुर।

छन्दयोजना तथा प्रबन्धपटुता का परिचय मिलता है, अपितु उनकी प्रत्युत्पन्नमति एवं उक्ति-सौष्ठव का भी ज्ञान हमे होता है। एक समय की बात है वे कहीं जा रहे थे, एक विद्वान् उनको मार्ग मे मिल गया। उसने उनके पाण्डित्य की प्रसिद्धि पहले से ही सुन रखी थी, अत. परीक्षा करने की दृष्टि से उसने निम्नलिखित समस्यापद उनके सामने रखा।

"कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनि."

इस पद को सुनते ही गणिजी ने इसकी पूर्ति तुरन्त ही इस प्रकार कर डाली :

चिर चित्तोद्याने चरसि च मुखाब्ज पिबसि च,
क्षणादेणाक्षीणां विरहविषमोह हरसि च।
नृप! त्व मानाद्रि दलयसि च किं कौतुककरं,
कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनिः ॥१॥

इसको सुनकर वह विद्वान् अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला मैंने आपके विषय मे जैसा सुना था वैसा ही आपको पाया। ऐसा कह कर वह उनके चरणों पर गिर पड़ा।

ऐसी ही दूसरी घटना धारानगरी की है। उस समय धारा मे श्रीनरवर्मा[1] नामक नृपति राज्य कर रहे थे। एक बार राजसभा मे दो पण्डित बाहर से आये। उन्होंने पण्डितों के सामने यह समस्यापद रखा।

"कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः"

राजसभा के सभी पण्डितों ने अपनी बुद्धि के अनुसार इस समस्या की पूर्ति की, परन्तु उन दोनों विदेशी पण्डितों का चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। तब किसी ने राजा से कहा हे देव! पण्डितों के द्वारा की हुई समस्या-पूर्ति इन दोनों को पसन्द नहीं आई। तब राजा ने पूछा कि इन दोनों को सन्तुष्ट करने का कोई अन्य उपाय सम्भव है? इस पर राजा को उत्तर मिला कि, चित्रकूट (चित्तौड) मे जिनवल्लभगणि नाम के श्वेताम्बर साधु हैं जो सब विद्याओं मे निपुण माने जाते हैं। तब राजा ने साधारण नाम के सेठ के पास एक पत्र भेजा, जिसमे उससे अनुरोध किया गया था कि वह अपने गुरु जिनवल्लभगणि के द्वारा इस समस्या की पूर्ति करवा कर शीघ्र ही भेजे। प्रतिक्रमण के बाद जब गणिजी को पत्र सुनाया गया तो उन्होंने तत्काल ही इस प्रकार उस समस्या को पूर्ण किया।

रे रे नृपा श्रीनरवर्मभूप-प्रसादनाय क्रियतां नताङ्गैः।
कण्ठे कुठारः कमठे ठकारश्चक्रे यदश्वोग्रखुराग्रघातैः ॥१॥

यह पूर्ति जब राजसभा मे पहुची तो न केवल विदेशी विद्वान् ही सन्तुष्ट हुए अपितु स्वयं राजा भी जिनवल्लभगणि का सदा के लिए भक्त हो गया। यही कारण है कि जब गणिजी कुछ काल उपरान्त धारानगरी पधारे तो राजा ने उनको तीन लाख मुद्रा या तीन ग्राम लेने के लिए बहुत कुछ आग्रह किया। परन्तु जब यह आग्रह उस अपरिग्रही और निस्पृह साधु ने स्वीकार नहीं किया तो राजा ने गणिजी की अनुमति से चित्रकूट मे श्रावकों द्वारा निर्मापित दो विधिचैत्यों की पूजा के लिए यह धन दान मे दे दिया। इसी बात का उल्लेख

१ देखें, ओझाजी कृत राजपूताने का इतिहास, पृ० १९५।

उनके गुरुभ्राता जिनशेखराचार्य के प्रशिष्य श्रीअभयदेवसूरि ने जयन्तविजय नामक काव्य (र० स० १२७८) मे भी किया है :

> तच्छिष्यो जिनवल्लभो प्रभुरभूद् विश्वम्भराभामिनी-
> भास्वद्भालललामकोमलयश स्तोम शमारामभू ।
> यस्य श्रीनरवर्मभूपतिशिर कोटीररत्नाङ्कुर-
> ज्योतिर्जालजलैरपुष्यत सदा पादारविन्दद्वयी ॥१॥
> कश्मीरानपहाय सन्ततहिमव्यासङ्गवैराग्यत',
> प्रोन्मीलद्गुणसम्पदा परिचिते यस्यास्यपङ्केरुहे ।
> सान्द्रामोदतरङ्गिता भगवती वाग्देवता तस्थुषी,
> धारालामलबन्धकाव्यरचनाव्याजादनृत्यच्चिरम् ॥२॥[1]

जिनवल्लभप्रणीत चित्रकूटीय वीरचैत्यप्रशस्ति (पद्य ६३) मे केवल यह उल्लेख मिलता है कि महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा के समय चैत्य की अर्चा के लिए भूपति नरवर्मा ने प्रत्येक सूर्य संक्रान्ति पर पारुत्थ द्वय देने का चितौड के धर्मदाय विभाग को आदेश दिया है। अत यह निश्चित है कि प्रतिष्ठा से सम्बन्धित इस प्रशस्ति रचना के अनन्तर अर्थात् वि० सं० ११६३ के पश्चात् ही आचार्य का नरवर्मा से साक्षात्कार और उसके द्वारा तीन लाख मुद्रा या तीन ग्रामो का चित्तौड के विधि-चैत्यो की अर्चा के लिये दान आदि की घटनाये घटित हुई हैं।

आचार्यपद और स्वर्गवास

जिनवल्लभगणि की प्रसिद्धि और प्रभाव को सुनकर श्रीदेवभद्राचार्य को अपने गुरु प्रसन्नचन्द्राचार्य का अन्तिम वाक्य स्मरण हो आया। उन्होने सोचा कि मैं अभी तक अपने गुरुश्री के आदेश के अनुसार जिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवाचार्य का पट्टधर नही बना सका। ऐसा विचार कर उन्होने जिनवल्लभगणि को पत्र लिखा। उस पत्र मे लिखा था "तुम शीघ्र ही अपने समुदाय सहित विहार कर चित्रकूट आओ, मैं भी वही पर आ रहा हूँ।" जिनवल्लभगणि उस समय नागपुर (नागोर) मे थे, वहा से वे विहार करके चित्रकूट (चित्तौड) पहुचे। देवभद्राचार्य भी अपने समुदाय सहित वहा पधारे। देवभद्राचार्य उस समय के परम प्रतिष्ठित गीतार्थसाधु और विद्वान् थे। इनके द्वारा रचित महावीरचरियं, पासनाहचरियं, कहारयणकोस इत्यादि महाग्रन्थ आज भी जैन कथा-साहित्य में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। उन्होने उस समय पं० सोमचन्द्र (जो कि आगे चल कर जिनवल्लभसूरि के पट्टधर युगप्रधान

१ इसी प्रकार का उल्लेख उ० जिनपाल ने चर्चरी टीका मे भी किया है। यथा
"मिथ्यादृष्टयोऽन्यदर्शनस्थिता अपि श्रीनरवर्ममहाराजपण्डिता पञ्चविंशतितमोऽय तीर्थंकर इति प्रतिपादयन्तो वन्दन्ते किङ्करभावस्थिता वहुमानातिशयप्रवर्तितसादरवचना ।
(पृ० २४)
लब्धप्रसिद्धिभिरत्यन्तप्रसिद्धै सुकविभिर्नरवर्ममहाराजसम्बन्धिभि सादर यो महित ।
(चर्चरी टीका पृ० ४)

श्रीजिनदत्तसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए) को भी बुलाया था, परन्तु वे किसी कारणवश न आ सके। आचार्य देवभद्रसूरि ने विधिवत् जिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थपित किया और उस समय से वे जिनवल्लभसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। परन्तु वे इस पद पर अधिक समय तक न रह सके। उन्होंने ज्योतिष-गणना के अनुसार अपनी आयु छह वर्ष और समझी थी, परन्तु छह महिने ही बीते थे कि एकाएक उनका शरीर अस्वस्थ हो गया। यह देखकर उनको आश्चर्य हुआ और उन्होंने पुनर्गणना की तो पता चला कि पहले कुछ अङ्क छूट गये थे जिसके कारण छ महिने के स्थान पर छ वर्ष आये। ऐसा निश्चय हो जाने पर उन महानुभाव ने अन्तिम आराधना की तैयारी धैर्य और सन्तोष के साथ कर दी। संघ एकत्र हुआ। सर्व जीवों के प्रति आपने मैत्रीभाव को प्रकट करते हुए अपराधों की क्षमा याचना की। अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म का शरण अंगीकार किया और तीन दिन का अनशन किया। इस प्रकार तैयार होकर सं० ११६७ कार्तिक कृष्णा अमावस्या दीपावलि की मध्यरात्रि मे पञ्चपरमेष्ठि का स्मरण करते हुए इस असार संसार को त्याग कर श्री जिनवल्लभसूरि ने चतुर्थ देवलोक की यात्रा की।

शिष्य-परम्परा

उपलब्ध प्रबन्ध ग्रन्थों के अनुसार आचार्य जिनवल्लभसूरि का स्वहस्तदीक्षित शिष्य-समुदाय अत्यधिक विशाल नहीं था। प्रबन्धों के अनुसार जिस समय गणि जिनवल्लभ आगमों का अभ्यास करने के लिये आ० अभयदेवसूरि के पास गये, उस समय उनके साथ जिनशेखर नाम का शिष्य था और उपसम्पदा ग्रहण करने पर भी वही साथ रहा। आचार्य अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् अनुमानत सं० ११४० के आसपास आप 'गुर्जर' प्रदेश छोडकर मेदपाट की राजधानी चित्रकूट पधारे। उस समय सुमति गणि के अनुसार वे 'आत्मतृतीय' (अर्थात् दो शिष्य और तीसरे स्वयं) थे। इन दो शिष्यों में एक तो जिनशेखर निश्चित ही हैं और दूसरे संभवतः रामदेवगणि हों[1]। इन दो के अतिरिक्त अन्य भी आपके शिष्य हों, परन्तु इसका उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु शिष्यों की संख्या अत्यल्प होते हुए भी 'परम्परा' आप की अत्यन्त विस्तृत और विपुल थी। इनके शिष्य जिनशेखर की शिष्य-परम्परा को ही ले लीजिये—वही जिनशेखर जो आगे चलकर जिनशेखरसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए, जिनका विहार और निवास रुद्रपल्ली में अधिक हुआ और इस कारण जिनकी परम्परा रुद्रपल्लीशाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। रुद्रपल्ली शाखा एक खरतरगच्छ की ही शाखा थी जिसका अस्तित्व १७ वीं शती के अन्तिम चरण तक रहा है। इन जिनशेखरसूरि की रुद्रपल्ली परम्परा मे जयन्तविजय महाकाव्यकार अभयदेवसूरि, वीतरागस्तुति तथा ऋषभपचासिका विवरणकार प्रभानंदसूरि, कुमारपालप्रबन्ध, षड्दर्शन समुच्चय टीका आदि ग्रन्थों के टीकाकार सोमतिलकसूरि, सम्यक्त्व सप्तति के टीकाकार संघतिलकाचार्य, प्रश्नोत्तरमाला और दानोपदेश के टीकाकार देवेन्द्रसूरि, सदेशरासक के टीकाकार लक्ष्मीचंद्र, आचारदिनकर के प्रणेता वर्धमानसूरि, जिनपंजरस्तोत्र के रचयिता कमलप्रभाचार्य आदि अनेक धुरन्धर विद्वान् आचार्य हुए हैं। जिन्होंने साहित्य-सर्जन और संवर्धन मे अपना अमूल्य योग दिया है।

१ परिचय के लिये आगे देखें, टीकाग्रन्थ और टीकाकार

यह एक परम्परा नही थी, यह तो एक शाखा थी। वस्तुत आपकी जो पट्ट-परम्परा चली और जो आज तक अक्षुण्ण रूप से चलती आ रही है, उस परम्परा के प्रणेता है आपके पट्धर युगप्रधान जिनदत्तसूरि[1]।

श्वेताम्बर जैन समाज मे गौतम गणधर के सदृश प्रात स्मरणीय आचार्यों मे श्री जिनदत्तसूरि का नाम शताब्दियो से निरन्तर बडी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है। समाज मे प्रथम दादाजी के नाम से ये अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। भारत के कोने-कोने मे 'दादा-वाडी' के नाम से ख्यात समस्त स्थलो पर एवं यत्र-तत्र मन्दिरो मे इनकी पादुकाये अथवा मूर्तियाँ विद्यमान है, जहाँ निष्ठा और विश्वास के साथ इनकी निरन्तर अर्चना होती है। शताब्दियो से इनके चमत्कार श्रद्धालु भक्त जनो को प्राप्त होते रहे हैं और आज भी होते हैं।

अम्बिका देवी प्रदत्त युगप्रधान पदधारक श्री जिनदत्तसूरि का वि० सं० ११३२ मे धोलका निवासी क्षपणक भक्त वाछिग की धर्मपत्नी वाहडदेवी की कुक्षि से हुआ था। सं० ११४१ में धर्मदेवोपाध्याय ने इनको दीक्षा प्रदान कर सोमचन्द्र नाम रखा था। अशोकचन्द्राचार्य ने इनको बडी दीक्षा प्रदान की थी। हरिसिंहाचार्य से इन्होने समस्त शास्त्रो की वाचना प्राप्त की थी। श्रीजिनवल्लभसूरि की आज्ञानुसार श्रीदेवभद्राचार्य ने सं० ११६९ वैशाख शुक्ला प्रतिपदा को चित्तौडनगरी मे बडे महोत्सव के साथ इनको आचार्य पद देकर जिन-वल्लभसूरि के पट्ट पर स्थापित किया था। आचार्य पद के समय सोमचन्द्र नाम परिवर्तित कर जिनदत्तसूरि नामकरण किया गया था।

आचार्यपदानन्तर, देवलोकस्थ हरिसिंहाचार्य के संकेतानुसार आचार्यश्री नागोर होकर अजमेर आये और अजमेर के नृपति अर्णोराज चौहान को प्रतिबोध दिया। जयदेवाचार्य, रमलविद्या के जानकार जिनप्रभाचार्य, विमलचन्द्र गणि, मन्त्रवादी जयदत्त, गुणचन्द्र आदि प्रमुख चैत्यवासी आचार्यों ने भी चैत्यवास परम्परा का त्याग कर उनके पास उपसम्पदा ग्रहण की थी। आचार्य द्वारा प्रतिबोधित श्रावको मे मेहर, भाखर, वासल, भरत, धनदेव, ठ० आशाधर, साधारण, रासल, देवधर आदि मुख्य थे। त्रिभुवनगिरि के महाराजा कुमारपाल को प्रतिबोध देकर इन्होंने अपना भक्त बनाया था। सवा लाख से अधिक व्यक्तियो को स्वकीय उपदेश से प्रतिबोध देकर, जैन बनाकर, ओसवंश मे सैकडो नये गोत्र स्थापित किये थे। इनका विहारस्थल प्रमुखतया बागड और राजस्थान प्रदेश रहा। रुद्रपल्ली, अजमेर, त्रिभुवनगिरि, धारापुरी, गणपद्र आदि स्थानो मे नवीन निर्मापित विधि-चैत्यो की प्रतिष्ठायें इन्ही के करकमलो से हुई थी। स० १२११ आषाढ वदि ११, परम्परा की मान्यता के अनुसार आषाढ सुदि ११ को अजमेर मे जिनदत्तसूरि का स्वर्गवास हुआ था।

जिनदत्तसूरि ने सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्र श भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनके रचित ग्रन्थ परिमाण मे छोटे होते हुये भी अतिशय अर्थ-गाम्भीर्य और महनीय कवित्व से ओत-प्रोत हैं। इन रचनाओ मे सूरिजी को अपूर्व विद्वत्ता, प्रकृष्ट प्रतिभा और विशिष्ट व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। इनके द्वारा प्रणीत निम्नांकित साहित्य प्राप्त है –

१ विशेष परिचय के लिये देखें, युगप्रधान जिनदत्तसूरि एव स्वामी सुरजनदास लिखित दादाजी और उनका साहित्य

१ चर्चरी	१३ श्रुतस्तव
२. उपदेश रसायन	१४ पार्श्वनाथ मन्त्रगर्भित स्तोत्र
३ चैत्यवन्दन कुलक	१५ महाप्रभावक स्तोत्र
४ कालस्वरूपकुलक	१६ अजित शान्ति स्तोत्र
५ संदेह दोलावली	१७ चक्रेश्वरी स्तोत्र
६. उपदेश कुलक	१८ योगिनी स्तोत्र
७ उत्सूत्रपदोद्घाटन कुलक	१९. सर्वजिनस्तुति
८. गणधरसार्द्धशतक	२०. वीर स्तुति
९ गणधरसप्ततिका	२१. विंशिका
१० 'त जयउ' स्तोत्र	२२. पदव्यवस्था
११ 'मयरहियं' स्तोत्र	२३. शान्तिपर्व विधि
१२. 'सिग्घमवहरउ' स्तोत्र	२४ आरात्रिक वृत्तानि

श्रीजिनदत्तसूरि का शिष्य समुदाय भी अत्यन्त विशाल था। इनकी परम्परा नव शताब्दियों से चली आ रही है। इसमे अनेकों शाखाएं और प्रशाखाएं भी समय-समय पर फूटी हैं और उनमें एक नहीं सैकड़ों धुरन्धर आचार्य एवं उपाध्याय हुए हैं, जिनमें अलौकिक प्रतिभा, अद्वितीय विद्वत्ता तथा अनोखी तत्परता के साथ-साथ दृष्टि की वह उदारता एवं विशालता भी थी जो अनेकान्तवादी जैन-धर्म की प्रमुख देन है। यही कारण है कि इस गच्छ की परम्परा के मनीषियों ने जितना साहित्य-सर्जन किया है उसकी आज श्वेताम्बर समाज के समग्र गच्छों द्वारा निर्मित साहित्य-निधि से तुलना की जा सकती है। इन मनीषियों ने आगम, कर्म साहित्य, कथानुयोग, प्रकरण, व्याकरण, दर्शन, न्याय, लक्षण, छन्द, कोष, साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक, नाट्य, नीति और कामशास्त्र आदि सभी विषयों पर अपनी लेखिनी चलाकर, मौलिक एवं टीकाएं रचकर केवल जैन-साहित्य की ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य की अनुपमेय सेवा की है।[१] इन मनीषियों ने केवल साहित्य-सर्जन ही नहीं अपितु उस साहित्य के संरक्षण, संवर्धन तथा संप्रचलन में भी अत्यधिक योग दिया है जिसकी सृष्टि जैनेतर विद्वानों ने की थी। इस परम्परा के आचार्य प्रायः विद्वान् हुए हैं और इन्होंने अपनी 'करनी' और 'कथनी' को सदा ही पाण्डित्य की शान पर पैनी करके रखा है। यही कारण है कि इस गच्छ और परम्परा के अनेक विद्वानों की कृतिया और सिद्धिया अपने गच्छ के सीमित परिधि से ऊपर उठकर सर्वगच्छीय सन्मान प्राप्त कर सकी हैं।

इस जिनवल्लभीय खरतरगच्छ परम्परा के प्रमुख-प्रमुख आचार्य, उपदेशक और साहित्य-सर्जकों का शताब्दी के अनुसार उल्लेख करना यहां अप्रासंगिक न होगा:

१३ वीं शती—युगप्रधान जिनदत्तसूरि, पंचवर्गपरिहार नाममाला के प्रणेता जिन-भद्रसूरि, रुद्रपल्ली की राजसभा में पद्मप्रभ को पराजित करने वाले मणिधारी जिनचन्द्रसूरि, षट्त्रिंशद् वादविजेता युगप्रवरागम जिनपतिसूरि, सनत्कुमार महाकाव्य प्रणेता उ० जिनपाल

१ देखें म विनयसागर द्वारा संपादित 'खरतर गच्छ साहित्य सूची' (मणिधारी अष्टम शताब्दी समारोह ग्रन्थ)।

गणधरसार्द्धशतक बृहद्वृत्तिकार सुमति गणि, षष्टिशतकप्रकरणकार नेमिचन्द्र भण्डारी आदि।

१४ वी शती—प्राकृत द्व्याश्रय टीकाकार पूर्णकलश गणि, अभयकुमार चरितकार उ० चन्द्रतिलक, प्रत्येकबुद्ध चरित्र, श्रावकधर्म विवरण रचयिता उ० लक्ष्मीतिलक, न्यायालङ्कार टिप्पण और संस्कृत द्व्याश्रय महाकाव्य के टीकाकार उपाध्याय अभयतिलक, जिनचन्द्रसूरि, प्रगट प्रभावी दादा जिनकुशलसूरि, मुहम्मद तुगलक प्रतिबोधक विविधतीर्थकल्प आदि अनेको ग्रन्थो के निर्माता जिनप्रभसूरि, षडावश्यक बालावबोधकार तरुणप्रभाचार्य आदि।

१५ वी—गौतमरासकार उ० विनयप्रभ, अंजनासुन्दरी चरित्रकार साध्वी गुणसमृद्धि महत्तरा, विज्ञप्ति त्रिवेणी आदि ग्रन्थो के निर्मापक उ० जयसागर, पच महाकाव्यो के प्रसिद्ध टीकाकार उ० चारित्रवर्धन, नेमिनाथ महाकाव्यकार कीर्तिरत्नसूरि, जैसलमेर, पाटण, खंभात आदि प्रसिद्ध भंडारो के संस्थापक तथा सहस्रो मूर्तियो के प्रतिष्ठापक आचार्य जिनभद्रसूरि आदि।

१६ वी अनेक ग्रन्थो के बालावबोधकार उ० मेरुसुन्दर, आचाराङ्ग दीपिकाकार जिनहंससूरि, सूत्रकृताङ्ग दीपिकाकार उ० साधुरग, महोपाध्याय सिद्धान्तरुचि, कमलसंयमोपाध्याय आदि।

१७ वी—सम्राट् अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि उ० साधुकीर्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीकाकार महोपाध्याय पुण्यसागर, शतदलकमलकाव्यकार उ०सहजकीर्ति, कर्मचन्द्रवशप्रबंधकार महो० जयसोम, अनेकग्रन्थ प्रणेता उ० गुणविनय, सहस्रदल कमलगर्भित अरजिनस्तव चित्रकाव्य के प्रणेता उ० श्रीवल्लभ, उ० सूरचन्द्र, अष्टलक्षी आदि सैकडो ग्रन्थो के प्रणेता उ० समयसुन्दर, चिन्तामणि नव्यन्याय के अध्येता वादी हर्षनन्दन, नैषधकाव्य टीकाकार जिनराजसूरि, प्रश्नोत्तरशत आदि के प्रणेता उ० विनयसागर अदि।

१८ वी—प्रसिद्ध भाषा साहित्य निर्मापक जिनहर्ष, कल्पसूत्र उत्तराध्ययन सूत्रादि के टीकाकार लक्ष्मीवल्लभ, मस्तयोगी आनन्दघन, धर्मवर्द्धन, अध्यात्मज्ञानी उ० देवचन्द्र, गौतमीय महाकाव्य प्रणेता उ० रामविजय (रूपचन्द्र), आदि।

१९ वी क्रियोद्धारक उ० क्षमाकल्याण, उ० शिवचन्द्र, चारित्रनदी, ज्ञातासूत्र टीकाकार कस्तूरचन्द्र, मस्तयोगी ज्ञानसार आदि।

२० वी योगी चिदानदजी, आबू तीर्थोद्धारक ऋद्धिसागर, बालचन्द्राचार्य, स्याद्वादानुभवरत्नाकरादि प्रणेता चिदानदजी बंबई के सर्वप्रथम उपदेशक मुनि मोहनलालजी, कृपाचन्द्रसूरि जिनऋद्धिसूरि, अप्रतिहतवादी जिनमणिसागरसूरि, कवीन्द्रसागरसूरि उ०लब्धिमुनि, बुद्धिमुनि, इतिहासविद् कान्तिसागर आदि। प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक भी इसी परम्परा का है।

इस वल्लभीय परंपरा मे आज भी चार शाखाएं (बृहत्, लघुआचार्य, मडोवरा, लखनउ) विद्यमान हैं और उनके श्रीपूज्य तथा आद्यपक्षीय पिप्पलक आदि के यतिगण भी विद्यमान है। साधुओ की भी तीन शाखाए (क्षमाकल्याण, जिनकृपाचन्द्रसूरि, मोहनलालजी परपरा) मौजूद हैं, जिनमे आज भी अनेक विद्वान् साधुगण एव साध्वीगण हैं और साहित्योपासना कर रहे है।

इस वल्लभीय खरतरगच्छ परम्परा के आचार्यो की साहित्यसेवा का उल्लेख करते हुए मुनि जिनविजयजी कथाकोष प्रकरण की प्रस्तावना मे लिखते हैं –

"इस खरतरगच्छ मे उसके बाद अनेक बडे बडे प्रभावशाली आचार्य, बडे बडे विद्या-

उपाध्याय, वड़े वड़े प्रतिभाशाली पण्डित-मुनि और वड़े वड़े मांत्रिक, तान्त्रिक, ज्योतिर्विद्, वैद्यक विशारद आदि कर्मठ यतिजन हुये जिन्होने अपने समाज की उन्नति, प्रगति और प्रतिष्ठा के वढाने मे वड़ा भागी योग दिया। सामाजिक और साम्प्रदायिक उत्कर्ष की प्रवृत्तिके सिवा, खरतरगच्छानुयायी विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देश्य भाषा के साहित्य को भी समृद्ध करने मे असाधारण उद्यम किया और इसके फल स्वरूप आज हमें भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन,ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयो का निरूपण करने वाली छोटी वड़ी सैकडों-हजारों ग्रन्थकृतियां जैन भण्डारो मे उपलब्ध हो रहीं हैं। खरतरगच्छीय विद्वानों की की हुई यह साहित्योपासना न केवल जैन-धर्म की हीं दृष्टि से महत्त्व वाली है, अपितु समूचे भारतीय संस्कृति के गौरव की दृष्टि से भी उतनी ही महत्ता रखती है।

साहित्योपासना की दृष्टि से खरतरगच्छ के विद्वान् यति-मुनि वड़े उदारचेता मालूम देते हैं। इस विषय मे उनकी उपासना का क्षेत्र केवल अपने धर्म या समुदाय की वाड से वद्ध नहीं है। वे जैन और जैनेतर वाङ्मय का समानभाव से अध्ययन-अध्यापन करते रहे हैं। व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, नाटक, ज्योतिष, वैद्यक और दर्शनशास्त्र तक के अगणित अजैन ग्रन्थो का उन्होंने वडे आदर से आकलन किया है और इन विषयो के अनेक अजैन ग्रन्थों पर उन्होने अपनी पाण्डित्यपूर्ण टीकाये आदि रचकर तत्तद् ग्रन्थो और विषयो के अध्ययन कार्य मे वड़ा उपयुक्त साहित्य तैयार किया है। खरतरगच्छ के गौरव को प्रदर्शित करने वाली ये सव वातें हम यहां पर वहुत संक्षेप मे, केवल सूत्र रूप से, उल्लिखित कर रहे हैं। विशेष रूप से लिखने का यहां अवकाश नहीं है।" [पृ० ३]

विधिपक्ष

आचार्य जिनवल्लभसूरि ने जैन- समाज को जो अमूल्य देन प्रदान की है वह विधिपक्ष के नाम से से अभिहित हुई है। सिद्धान्तत. यह विधिपक्ष आचार्य जिनेश्वरसूरि द्वारा प्ररूपित सुविहित पक्ष ही है। परन्तु यह एक नियम सा है कि कोई भी क्रान्ति प्रारम्भ में अवांछनीय या हेय के ध्वंस पर ही अधिक जोर देती है। अतएव श्री जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवास के विरुद्ध जो आन्दोलन खडा किया उसमे वे केवल निषेध, खण्डन और विध्वंस के लिये जितना आवश्यक था उतना ही अपने शास्त्रसम्मत पक्ष को जनता के सम्मुख रख पाये थे; उनको इतना अवसर नहीं मिल पाया था कि वे कोई व्यावहारिक विधान उपस्थित कर पाते और न उस समय यह संभव ही था। इस कमी की पूर्ति जिनवल्लभसूरि ने की। उन्होंने अशास्त्रीय, अकर्त्तव्य और अवांछनीय का केवल खण्डन तथा विध्वंस करके ही सन्तोष न किया; उसके स्थान पर उन्होंने शास्त्रीय, कर्त्तव्य एवं वांछनीय का मण्डन तथा निर्माण करने का भी विशेष प्रयत्न किया। उन्होंने निषेध की अपेक्षा 'विधि' पर अधिक जोर दिया, सम्भवत इसीलिए इनके पक्ष का नाम "विधिपक्ष" पडा। वस्तुत क्रान्ति की सफलता कोरे विध्वंस मे नही, सृजन मे है। अवांछनीय की अवांछनीयता वतलाने या निषेध में नहीं, उसके स्थान पर वांछनीय के निर्माण या "विधि" मे ही निहित है।

अतः उनके इस विधि-पक्ष का व्यावहारिक स्वरूप, जैसा कि पहले संकेत किया जा

चुका है, सर्वप्रथम हमे नये चैत्यो के निर्माण मे मिलता है। इन चैत्यो मे नये विधिपक्ष के विधान को लागू किया गया और उन अवाछनीय तथा अशास्त्रीय कृत्यो का स्पष्ट निषेध कर दिया गया जिनके कारण 'चैत्यवासियो' का विधान बदनाम हो चुका था। जिन-मन्दिरो के सम्बन्ध मे विधि-पक्ष का जो दृष्टिकोण था उसकी झलक उन चैत्यो मे उत्कीर्ण श्लोको से मिलती है जिनमे आचार्य जिनवल्लभसूरि ने प्रतिष्ठा करवाई थी। वे श्लोक निम्नलिखित हैं

अत्रोत्सूत्रजनक्रमो न च न च स्नात्र रजन्यां सदा,
साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणा प्रवेशो निशि।
जाति-ज्ञाति कदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि-
त्याज्ञाऽत्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीवीरचैत्यालये।
इह न लगुडरासः स्त्रीप्रवेशो न रात्रौ,
न च निशि बलि-दीक्षा-स्नात्र-नृत्य-प्रतिष्ठाः।
प्रविशति न च नारी गर्भगेहस्य मध्ये-
ऽनुचितमकरणीय गीतनृत्तादिकार्यम्।'[1]

इन दो पद्यो मे देवालयो की व्यवस्था का निम्नलिखित विधान किया गया है

१. अशास्त्रीय तथा उन्मार्ग मे ले जाने वाली समस्त प्रवृत्तियो का त्याग होना चाहिये। भले ही वे 'उपचार' से भक्ति का साधन प्रतीत होती हो, किन्तु जो अन्तत पतित करने वाली हैं, वे वर्ज्य हैं।

२ रात्रि मे प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा, स्नात्र (प्रक्षालन), दीक्षा, बलि (देवतर्पण) आदि श्रेष्ठ कृत्य भी नही होने चाहिये, क्योकि आपातत ये हिसा साध्य ही है।

३ चैत्यो मे 'लगुडरास' (डाडिये, घूमर) अर्थात् रास, रासडा आदि जो नर-नारियो द्वारा किये जाते हैं वे भी नही होने चाहिये, क्योकि ये बाह्य भक्ति के साधन होते हुए भी अन्त मे केवल चक्षु और श्रोत्र के विकार मात्र ही रह जाते हैं, प्रभु भक्ति के साधन नही।

४ चैत्यो मे वेश्याओ अथवा नारियो द्वारा नृत्य नही होना चाहिये, क्योकि नारी का नृत्य और उसके अगोपागो की चेष्टाएँ आदि केवल विषय-वासना की ही साधक हैं न कि ब्रह्मचर्य की। अत सयम के स्थान पर उत्तेजक' सामग्रियो का 'सात्विकता' की दृष्टि से परिहार होना ही चाहिये।

५ रात्रि के समय नारियो का चैत्य मे प्रवेश निषिद्ध है, क्योकि यह कभी पतन की 'भूमिका' हो सकती है।

६ ताम्बूल आदि भक्षण करके चैत्य मे न जाना चाहिये, क्योकि इससे नम्रता तथा लघुता का नाश, शृंगारित्ता का उद्दीपन और गर्व का पोषण होता है।

७ चैत्य केवल आत्मसाधना के आलम्बन है। अत इनमे जातियो या ज्ञातियो का कोई महत्त्व नही है। महत्त्व है केवल भव्यता का। वह 'भव्य' चाहे किसी भी ज्ञाति या कुल का हो, उसको भक्ति करने का अधिकार है। उससे वह वचित नही होना चाहिये।

१ सघपट्टक टीका एव चर्चरी टीका के आधार पर।

वस्तुत. आचार्यश्री का यह प्रतिपादन शास्त्रीय दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है। आचार्यश्री जाति से धर्म का अथवा आलम्बन-भूत साधनो का सम्बन्ध स्वीकार नही करते हैं, वे तो केवल 'भव्यता' का प्रश्रय लेकर गुण-कर्म-विभाग ही स्वीकार करते हैं जो उनकी असीम निर्भीकता का परिचायक है।

इस प्रकार चैत्यो के साथ-साथ साधु-यतिजनो के लिये भी आचार्यश्री ने निम्नलिखित आदेश दिये हैं जो संघपट्टक की ५ वी कारिका से स्पष्ट हैं:—

यत्रौद्देशिकभोजन जिनगृहे वासो वसत्यक्षमा,
स्वीकारोऽर्थगृहस्थचैत्यसदनेष्वप्रेक्षिताद्यासनम्।
सावद्याचरितादरः श्रुतपथाऽवज्ञा गुणिद्वेषधीः,
धर्म. कर्महरोऽत्र चेत्पथि भवेन्मेरुस्तदाब्धौ तरेत्।

इस कारिका के अनुसार जो आत्म-साधना की दृष्टि से गृहस्थावास का त्याग कर संयम धारण कर चुके हैं उन्हे अपनी आत्मा को पतन के मार्ग से बचाने के लिये निम्नलिखित कर्त्तव्यो का ध्यान अवश्य रखना चाहिये, अन्यथा इसके अभाव मे साधुता केवल लम्पटता और वेषाभासमात्र रह जाती है।

१. सर्वप्रथम अन्तरंग शुद्धि के लिये बाह्य शुद्धि की भी आवश्यकता है। अत' अशुद्ध और स्वयं के लिये निर्मित पिण्ड (भोजन) कदापि ग्रहण नही करना चाहिये, क्योकि वह षट्कायिक-मर्दन का कारण होनें से, उससे अहिंसा महाव्रत का पूर्ण-रूपेण नाश सम्भव है।

२ चैत्यो मे निवास और चैत्यो की सार-संभार की चिन्ता, मोह, ममता और माया-लोभ का केन्द्र होने से आत्मसाधना का घातक है और राजसीवृत्ति का पोषक तथा शिथिलाचार का संवर्धक है। अत साधको को इनसे निर्लिप्त ही रहना चाहिये।

३ द्रव्य सग्रह और उपासको के प्रति ममत्व 'मठपतित्व' का सूचक है। द्रव्य से समस्त अकथ्य कुकृत्यो तथा पापो के होने की भी पूर्ण सम्भावना रहती है और ममत्व से अवर्णनीय कुपथ भी ग्रहण किये जाते हैं। अतः उसका त्याग आवश्यक है।

४ गद्दी आदि का आसन और आस्रव-पूर्ण आचरणाओ का त्याग होना चाहिये; क्योकि गद्दी आदि 'सुकुमारता' के प्रतिपादक होते-होते 'शैथिल्य' की चरम सीमा तक पहुँचाने वाले हैं और उनके साथ बंधी हुई आस्रव पूर्ण क्रियायें (यथा—अंगराग, तेल, इत्र का उपयोग, ताम्बूल-भक्षण आदि) कामोद्दीपक साधन होने से व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाली हैं।

५ अपनी शिथिलता का प्रतिपादन करने के लिये सिद्धान्त-मार्ग की अवज्ञा या उन्मार्ग की प्ररूपणा नही करनी चाहिये और न अपनी स्वार्थान्धता के कारण सन्मार्गप्ररूपक, सुविहित, आत्मसाधक-मुनियो की अवहेलना एवं गुणिजनों के प्रति उपेक्षा ही करनी चाहिये, अन्यथा साधक अपनी वैयक्तिक-साधना को त्याग कर केवल मृग-मरीचि के पीछे ही भ्रमण करता रहेगा।

इस प्रकार अन्य भी अनेक छोटे-मोटे विधान 'विधिचैत्य' और 'साधुगणों' के लिये आचार्यश्री ने बनाये थे; वे यहा विस्तार के भय से नही दिये जा रहे है। जिन्हे इनका

विस्तृत अध्ययन करना हो, वे संघपट्टक, चर्चरी, उपदेशरसायन, सन्देहदोलावली आदि ग्रन्थों का अध्ययन करे।

वस्तुत: उस समय आचार्य जिनवल्लभ ने अविधिवाद का जड-मूल से विनाश न किया होता और व्यावहारिक मर्यादायें स्थापित न की होती तो आज 'जैन-चैत्य" इस रूप मे दृष्टिगत न होते! होते तो केवल अन्य देवालयो की तरह भोगलिप्सा के साधक व व्यक्तिगत सम्पत्ति-रूप ही होते। जैन-साधु-यतिगण आज के रूप मे न रहते और रहते तो मठपति या पण्डो के रूप मे। अस्तु, वस्तुत: आज जो जैन-चैत्य और जैन-साधु यत्किंचित् प्रमाण मे भी शास्त्र-सम्मत दिखाई पडते है वह आचार्य जिनवल्लभ की कृपा का ही फल है।

अध्याय : ३

विरोधियों के असफल प्रयत्न

आचार्य जिनवल्लभसूरि के व्यक्तित्व और असाधारण प्रतिभा से उत्पीडित परवर्ती कई लेखकों ने असंभाव्य कल्पनाएँ उत्पन्न करके उनके व्यक्तित्व को दूषित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के अवाछनीय दुष्प्रयत्न करने वालों मे (साहित्य मे शोध करने पर) हमें सर्वप्रथम उपाध्याय धर्मसागरजी के दर्शन होते हैं। धर्मसागरजी जैसे उद्भट विद्वान् और मेधावी लेखक थे वैसे ही यदि शान्ति-प्रिय और शासनप्रेमी होते तो वे निश्चित ही महापुरुषों की कोटि मे आते। पर शोक! उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का उपयोग सत्यशोध एव शान्ति-सग्रह मे न होकर दुराग्रह, कलह-प्रेम और छिद्रान्वेषण मे ही हुआ, जिसके कारण तत्कालीन गणनायको (विजयदानसूरि तथा हीरविजयसूरि जैसों) को वारंवार वोल (आदेश पत्र) निकाल कर उन्हे गच्छ वहिष्कृत करना पडा और उनके उत्सूत्र-प्ररूपणामय ग्रन्थों को जलशरण करवाना पडा। अत ऐसी अवस्था मे धर्मसागरजी द्वारा कल्पित विकल्पों का उत्तर देना व्यर्थ ही होता, परन्तु श्री आनन्दसागरसूरि, विजयप्रेमसूरि तथा मानविजय जैसे लोगो ने धर्मसागरजी के चरण-चिह्नों पर आज पुन चलना प्रारम्भ कर दिया है और आचार्य जिनवल्लभ की धवलकीर्त्ति पर कीचड उछालना प्रारम्भ कर दिया है। अत. उनके आक्षेपों पर पुन विचार कर लेना और वस्तुस्थिति को विद्वानो के सामने स्पष्ट कर देना आवश्यक हो गया है। सागरजी ने जिनवल्लभगणि के विषय मे जो विभिन्न विवाद उठाये हैं उनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं —

१ आचार्य अभयदेवसूरि के पास इन्होने उपसम्पदा ग्रहण नही की थी अर्थात् वे उनके शिष्य नही बने थे। २ षट् कल्याणक की प्ररूपणा उनकी उत्सूत्र प्ररूपणा थी। ३ उत्सूत्र-प्ररूपणा के कारण वे संघ-वहिष्कृत थे। ४ पिण्डविशुद्धि आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के प्रणेता जिनवल्लभ नाम के दूसरे आचार्य थे। अत अब इन चारो विकल्पो पर हम क्रमश विचार करते हैं.—

उपसम्पदा

आचार्य जिनवल्लभसूरि के वृत्त को ऊपर देख चुके हैं। मूल मे वे कूर्चपुरीय चैत्य-वासी जिनेश्वराचार्य के शिष्य थे और आचार्य अभयदेवसूरि से सैद्धान्तिक वाचना प्राप्त कर, सुविहित साधुओं के आचरण-व्यवहारों को समझकर तथा चैत्यवास त्यागकर अभयदेवाचार्य

के पास उन्होंने उपसम्पदा (पुनर्दीक्षा) ग्रहण की थी। धर्मसागरजी से चार शताब्दि पूर्व ही श्रीसुमतिगणि और जिनपालोपाध्याय (जिनका दीक्षा पर्याय ११२४ से १३११ तक है) ने अपने ग्रन्थों मे यह बात स्पष्टत: स्वीकार की है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य और नवाङ्गटीकाकार श्री अभयदेवसूरि के सतीर्थ्य गुरुभ्राता श्री जिनचन्द्रसूरि ने स० ११२५ मे सवेगरगशाला नामक कथाग्रन्थ की रचना पूर्ण की जिसकी पुष्पिका मे उन्होने लिखा है-

"इति श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिकृता तद्विनेयश्रीप्रसन्नचन्द्रसूरिसमभ्यर्थितेन गुणचन्द्रगणि (ना) प्रतिसस्कृता जिनवल्लभगणिना च सशोधिता, सवेगरङ्गशालाराधना समाप्ता।।" अर्थात् श्री जिनचन्द्रसूरिप्रणीत उनके विनेय प्रसन्नचन्द्राचार्य की अभ्यर्थना से गुणचन्द्रगणि (जो आचार्य बनने पर देवभद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए) द्वारा प्रतिसंस्कृत और गणि जिनवल्लभ द्वारा संशोधित सवेगरगशाला पूर्ण हुई।[1] इससे स्पष्ट है कि यदि जिनवल्लभगणि उपसम्पदा ग्रहण कर आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य न बने होते तो अपने सतीर्थ्य अभयदेवसूरि एव शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य, हरिभद्रसूरि तथा वर्धमानसूरि आदि समर्थ विद्वानो के रहते हुए जिनचन्द्रसूरि एक चैत्यवासी गणि से अपनी कृति का सशोधन कभी नही करवाते।

सचमुच जिनवल्लभगणि यदि अभयदेवसूरि के शिष्य न बने होते और उत्सूत्रप्ररूपक होते तो उन्हे अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् अभयदेवसूरि के पट्टधर होने का सौभाग्य कदापि प्राप्त न होता और वह भी तत्कालीन गच्छ के असाधारण प्रतिभाशाली और गीतार्थप्रवर आचार्य देवभद्रसूरि के हाथ, जिनके सम्बन्ध मे सुमतिगणि कहते है-—

"सत्तर्कन्यायचर्चार्चितचतुरगिर: श्रीप्रसन्नेन्दुसूरि:,
सूरि श्रीवर्द्धमानो यतिपतिहरिभद्रो मुनीड्देवभद्र.।
इत्याद्याः सर्वविद्यार्णवसकलभुव सञ्चरिष्णूरुकीर्त्ति:
स्तम्भायन्तेऽधुनापि श्रुतचरणरमाराजितो यस्य शिष्या: ।।

आचार्य देवभद्रसूरि द्वारा पट्ट पर स्थापित करना स्पष्ट प्रतिपादन करता है कि गणिजी ने आचार्य अभयदेवसूरिजी के पास मे उपसम्पदा ग्रहण करली थी। सं० ११७० मे लिखित पट्टावलि मे कवि पल्ह भी जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का पट्टधर स्वीकार करते हैं:

सुगुरु जिणेसरसूरि नियमि जिणचदु सुसजमि।
अभयदेउ सव्वग नाणी, जिणवल्लहु आगमि।।

आचार्य जिनवल्लभसूरि के प्रपौत्र पट्टधर और उ० जिनपाल तथा सुमति गणि के गुरु, आचार्य जिनपतिसूरि स्वरचित संघपट्टक वृत्ति मे लिखते हैं कि—चैत्यवास को चतुर्गति-भ्रमणदायक मानकर जिनवल्लभजी ने आचार्य अभयदेवसूरि के पास उपसम्पदा ग्रहण की थी

१ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स० ११२५ से पूर्व ही जिनवल्लभगणि चैत्यवास का परित्याग कर उपसपदा ग्रहणपूर्वक नवागटीककार श्री अभयदेवसूरि के शिष्य बन चुके थे।

"सुगृहीतनामधेयः, प्रणतप्राणिसन्दोहवितीर्णशुभभागधेयः, चैत्यवासदोषभासनसिद्धान्ताकर्णनापासितकृतचतुर्गतिसंसारायासजिनभवनवासः, सर्वज्ञशासनोत्तमाङ्गस्थाना (ङ्गा) दिनवाङ्गवृत्तिकृच्छ्रीमदभयदेवसूरिपादसरोजमूले गृहीतचारित्रोपसम्पत्ति, करुणासुधातरङ्गिणीतरङ्गरङ्गत्स्वान्तः सुविधिमार्गावभासनप्रादु र्भूतविशदकीर्त्तिकौमुदीनिषूदितदिक्सीमन्तिनीवदनध्वान्तः, 'स्वस्योपसर्गमभ्युपगम्यापि विदुषा दुरध्वविध्वंसनमेवाधेयमिति' सत्पुरुषपदवीमदवीयसी विदधानः, समुज्जितसूरिर्भगवान् श्रीजिनवल्लभसूरिः'

साथ ही इन्ही जिनवल्लभ गणि रचित सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार (सार्द्ध शतक) प्रकरण पर बृहद्गच्छीय श्रीधनेश्वराचार्य ने सं० ११७१ मे टीका रचना की है। (स्मरण रहे कि जिनवल्लभसूरि का स्वर्गवास ११६७ मे हुआ था, उसके चार वर्ष पश्चात् ही इसकी रचना हुई है, अर्थात् ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों समकालीन आचार्य हैं) उसमें १५२ वें पद्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं:

"जिणवल्लहगणि" त्ति जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थसङ्ग्राहिस्थानाङ्गाद्यङ्गोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्रवृत्तिविधानावाप्तावदातकीर्त्तिसुधाधवलितधरामण्डलानां श्रीमदभयदेवसूरीणा शिष्येण 'लिखितं' कर्मप्रकृत्यादिगम्भीरशास्त्रेभ्यः समुद्धृत्य दृब्धं जिनवल्लभगणिलिखितम्।" अर्थात् सार्द्धशतक के प्रणेता स्थानांगसूत्रादि अंगोपांग और पचाशक आदि के व्याख्याकार आचार्य अभयदेवसूरि के ही शिष्य थे। इससे भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि अभयदेवसूरि इनको उपसम्पदा प्रदान कर अपना शिष्य घोषित कर चुके थे। केवल ये ही नही किन्तु धर्मसागरजी के ही पूर्वज तपगच्छीय श्रीहेमहंससूरि अपने कल्पान्तर्वाच्य मे लिखते हैं:

"नवाङ्गीवृत्तिकारक श्री अभयदेवसूरि जिणैं थंभणैं सेढी नदीनै उपकंठी श्रीपार्श्वनाथ तणी स्तुति करी, धरणेन्द्र सहायैं श्रीपार्श्वबिम्ब प्रत्यक्ष कीधो, शरीरतणो कोढ रोग उपशमाव्यो, तच्छिष्य जिनवल्लभसूरि हुआ, चारित्रनिर्मल अनेकग्रन्थतणो निर्माण कीधो।"

और इसी प्रकार तपागच्छीय आचार्य मुनिसुन्दरसूरि स्वप्रणीत त्रिदशतरङ्गिणी गुर्वावली मे लिखते है-

"व्याख्याताभयदेवसूरिरमलप्रज्ञो नवाङ्ग्या पुन-
र्भव्याना जिनदत्तसूरिरददाद् दीक्षां सहस्रस्य तु।
प्रौढः श्रीजिनवल्लभो गुरुरभूद् ज्ञानादिलक्ष्म्या पुन-
र्ग्रन्थान् श्रीतिलकश्चकार विविधांश्चन्द्रप्रभाचार्यवत्।"

इसी प्रकार राजगच्छ पट्टावली (विविधगच्छीय पट्टावली सग्रहः, संपा० आचार्य जिनविजय, पृ० ६४) मे लिखा है:

"श्रीउद्योतनसूरयस्तदन्वये श्रीअभयदेवसूरयः, यैः स्वीयकुष्ठरोगस्फेटनाय 'जयतिहुअण०' स्तवेन श्रीस्तम्भनकपार्श्वनाथं स्तुत्वा धरणेन्द्रः प्रकटीकृतः। रोगो निर्गमितः। तथा-नवानामङ्गसूत्राणां वृत्तयः कृताः। यथा

स्तुवेऽहमेवाभयदेवसूरिं, विनिर्मिता येन नवाङ्गवृत्ति. ।
श्रुतश्रिय प्रोद्वहतो महर्षेर्बभौ नवाङ्गा वरवेदिकेव ॥४८॥
तच्छिष्या 'पिण्डविशुद्ध्यादि'प्रकरणकारका श्रीजिनवल्लभसूरय. ।

इन अवतरणो से सिद्ध है कि गणिजी नवाङ्गीवृत्तिकारक आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे । उपसम्पदा के बिना शिष्यत्व स्वीकृत नही हो सकता तो पट्टधर आचार्यत्व की कल्पना कल्पना मात्र ही रह जाती है । अत यह मानना ही होगा कि जिनवल्लभगणि ने चैत्यवास त्याग कर अभयदेवसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की थी । इसीलिये युगप्रधान जिनदत्तसूरि जैसे समर्थ विद्वान् स्थान-स्थान पर जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं।

केवल यही नही, किन्तु आचार्य जिनवल्लभसूरि स्वय स्वप्रणीत श्रावकव्रतकुलक मे अपने को आचार्य अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं

जुगपवरागमसिरि-अभयदेवमुणिवइपमाणसुम्देण ।
जिणवल्लहगणिणा गिहि-वयाइ लिहियाइ मुद्धेण ॥ २८ ॥

इतना ही नही किन्तु अष्टसप्ततिका अपरनाम वीर-चैत्य-प्रशस्ति मे तो वे अपने को अभयदेवसूरि के पास श्रुताध्ययन करने और उपसम्पदा ग्रहण करने का उल्लेख भी करते है.—

लोकाच्यकूर्चपुरगच्छमहाघनोत्थ-मुक्ताफलोज्ज्व' लजिनेश्वरसूरिशिष्य ।
प्राप्त प्रथां भुवि गणिर्जिनवल्लभोऽत्र, तस्योपसम्पदमवाप्य तत श्रुत च ॥५२॥

साथ ही स्वप्रणीत प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत काव्य मे जहा आचार्य अभयदेवसूरि को "के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुता " इस प्रश्न के उत्तर मे "श्रीमदभयदेवाचार्या " का उल्लेख किया है, उसकी अवचूरि करते हुए तपागच्छनायक श्रीसोमसुन्दरसूरि के शिष्य ने (सं० १४८६ मे) 'सद्गुरव ' के स्थान पर 'मद्गुरव ' पाठ स्वीकार किया है

"श्री पाके इति वचानात् श्रीधातुः । ममाभयं ददातीति मदभयदस्तस्मिन् यो मदभयं ददातीति, तत्र मम मन प्रीतियुक्त भवतीत्यभिप्राय ।" इस प्रकार आचार्य जिनवल्लभ के स्वयं रचित ग्रन्थो के प्रमाणो से सन्देह का अवकाश ही नही रह पाता ।

षट्कल्याणक

शास्त्रीय मतानुसार प्रत्येक तीर्थंकर के च्यवन,[1] जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और

१. इस प्रथम कल्याणक का नाम एक च्यवन ही नही, किंतु अवतरण गर्भ गर्भाधान आदि अनेक नाम भी आते हैं । जैसे कि आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण बृहत्संग्रहणी की "अवयरणजम्मनिक्खमणणाणनिव्वाण पच कल्लाणे । तित्थयराण नियमा, करंति सेसेसु खित्तेसु ॥" गाथा मे 'अवतरण' कहते हैं । आचार्य हरिभद्रसूरि पचाशक की 'गब्भे जम्मे य तहा. णिक्खमणे चेव णाणनिव्वाणे । भुवणगुरूण जिणाणं, कल्लाणा होंति णायव्वा ॥३१ ।" गाथा मे गर्भकल्याणक और इसकी टीका मे नवाङ्गटीकाकार श्री अभयदेवसूरि इसे गर्भाधान कहते हैं ।

इन निर्दिष्ट प्रमाणो से निश्चित यह हुआ कि देवलोक से च्यवनमात्र को ही नही अपितु च्यवकर माता की कुक्षि मे तीर्थंकर गर्भतया उत्पन्न होना कल्याणक है । इसी कारण शास्त्रकार स्थान-स्थान पर लिखते हैं कि "चुए चइत्ता गब्भ वक्कते" अर्थात् देवलोक से च्यवे और च्यवकर माता की कुक्षि मे गर्भतया उत्पन्न हुए ।

निर्वाण ये पाच कल्याणक अनिवार्य रूप से होते ही हैं। परन्तु श्रमण भगवान् महावीर के इन पाच कल्याणको के अतिरिक्त एक छठा कल्याणक और हुआ, वह था गर्भापहरण।[1] यह घटना इस प्रकार वर्णित मिलती है

श्रमण भगवान् महावीर का जीव दशम देवलोक से च्युत होकर आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिवस माहणकुण्डग्राम के निवासी कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त विप्र की पत्नी जालन्धरा गोत्रीय देवानन्दा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। देवानन्दा ने चौदह स्वप्न देखे। ८२ दिवस पश्चात् देवलोकस्थ सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से भगवान् को देवानन्दा के गर्भ मे स्थित देखकर प्रसन्न होता है और श्रद्धापूर्वक 'नमुत्थुणं' आदि से स्तुति करता है। पश्चात् वह विचार करता है कि "तीर्थंकर का जीव किसी अशुभ कर्मोदय के कारण श्रेष्ठ क्षत्रियवंशो का त्यागकर विप्रादि कुलो मे उत्पन्न हो सकता है, परन्तु उस निम्न कुल की माता की योनि से उनका जन्म कदापि नही होता। मैं इन्द्र हूँ। भगवान् का भक्त हूँ। अत मेरा जीताचार (कर्त्तव्य) है कि मैं गर्भसंक्रमण (अपहरण कर अन्य स्थान पर प्रक्षेप) करवाऊं।" इस प्रकार विचार कर अपना आज्ञाकारी हरिणगमेषी नामक देव को बुलाता है और आदेश देता है कि "तुम जाकर देवानन्दा के गर्भ मे स्थित भगवान् के जीव को लेकर क्षत्रियकुण्ड के अधिपति ज्ञातवंशीय काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ नरेश की पत्नी वाशिष्ठ गोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे स्थापित करो और त्रिशला की कुक्षि मे स्थित पुत्री के गर्भ को देवानन्दा ब्राह्मणी के उदर मे स्थापित करो।" आदेश प्राप्त कर हरिणगमेषी देव आता है और आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की मध्यरात्रि मे यह कार्य पूर्ण करता है। इसी रात्रि मे त्रिशला क्षत्रियाणी १४ स्वप्न देखती है। राजा सिद्धार्थ से निवेदन करती है। नृपति सिद्धार्थ भी स्वप्नलक्षण पाठको को बुलाकर स्वप्न फल पूछता है। तब मालूम होता है कि तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती का जीव त्रिशला की रत्नमयी कुक्षि से जन्म ग्रहण करेगा। उसी दिवस से धनद के आज्ञाकारी सब प्रकार के वस्तुओ की सिद्धार्थ के घर मे वृद्धि करते हैं।

इसी गर्भापहरण को मंगलस्वरूप मानकर सब ही शास्त्रकारो ने इसे कल्याणक के रूप मे स्वीकार किया है। किन्तु अपनी आभिनिवेशिक मान्यता के वशीभूत होकर, शास्त्रीय मान्यता एवं परंपरा का त्याग कर, कई इस कल्याणक को कल्याणक के रूप मे स्वीकार नही करते। उनकी मान्यता के अनुसार इसमे निम्नलिखित बाधाएं हैं

१ जैसे च्यवन शब्द च्यवकर माता की कुक्षि मे गर्भतया उत्पन्न होने का द्योतक है वैसे ही गर्भापहार शब्द हरण मात्र का नही, किंतु देवानन्दा की कुक्षि से अपहरण द्वारा त्रिशला की कुक्षि मे स्थापन करने रूप अर्थ का भी द्योतक है। यही बात तपागच्छीय उपाध्याय जयविजयजी कल्पदीपिका मे लिखते है "गर्भस्य-श्रीवर्द्धमानरूपस्य हरण-त्रिशलाकुक्षौ संक्रामण-गर्भहरण"। इस तरह त्रिशला की कुक्षि मे गर्भाधानरूप गर्भहरण-गर्भापहार को कल्याणक न मानना किसी प्रकार युक्तियुक्त नही। यदि उपरोक्त व्याख्योपेत गर्भापहार कल्याणक मानने योग्य न हो तो कल्पसूत्रोक्त "एए चउदस महासुमिणे सव्वा पासेइ तित्थयरमाया" इस नियमानुसार और पचाशकोक्त कल्याणक के "कल्लाणफला य जीवाणं" इस लक्षण मे युक्त गर्भाधान कल्याणक सूचक १४ स्वप्न त्रिशला माता न देखती।

१ गर्भहरण अतिनिन्द्य कार्य होने से आश्चर्य (अच्छेरा) है।[1] जो आश्चर्य हो वह मंगलस्वरूप कल्याणक नही माना जा सकता। २ शास्त्रो मे किसी भी स्थल पर श्रमण भगवान् महावीर के छ कल्याणको का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। यदि कही उल्लेख है भी तो वह कल्याणक शब्द से अभिहित नही है किन्तु वस्तु या स्थान शब्द से कथित है। ३ पञ्चाशक शास्त्र मे भूतानागत और भविष्यद् रूप त्रिकालभावि चौवीस-चौवीस तीर्थंकरो के कल्याणको की संख्या-परिमाण सूचन करने मे महावीर के पाँच कल्याणक माने जाते हैं। टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी पाच ही लिखे हैं। यदि गर्भापहार छठा होता तो उसकी संख्या क्यो नही देते। ४ यदि 'पंच हत्थुत्तरे होत्था साइणा परिनिव्वुए' आदि से गर्भहरण को भी कल्याणक स्वीकार करते हो तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार 'पच उत्तरासाढे अभीई छट्ठे होत्था' मे ऋषभदेव का राज्याभिषेक नामक कल्याणक भी मानना चाहिये। ५ शास्त्रो मे तथा किसी भी आचार्य द्वारा इसका उल्लेख न होने मे यह प्रतिपादन अशास्त्रीय है, अत उत्सूत्र प्ररूपणा है और इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम जिनवल्लभ गणि ने ही किया है।

इन विकल्पो का समाधान (उत्तर) क्रमश इस प्रकार है

१. यदि हम आश्चर्य को कल्याणक के रूप मे स्वीकार न करे तो हमारे सन्मुख कई बाधाये उपस्थित होती हैं। शास्त्रो मे जहा दश आश्चर्यो (अच्छेरो) का वर्णन है, उसमे १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री रूप मे होना भी एक आश्चर्य माना गया है। यदि नारी का तीर्थंकर होना आश्चर्य के अंतर्गत आता है तो सहज ही प्रश्न उठते हैं कि, क्या उस नारी का तीर्थंकरत्व मंगलदायक हो सकता है? क्या उस नारी के जीवन की अमूल्य घटनाएं कल्याणक के रूप मे स्वीकार की जा सकती हैं? क्या उसकी तीर्थंकर उपाधि कल्याणकारक हो सकती है? क्या उसका शासन चतुर्विध सघ के लिये कल्याण-कारक हो सकता है? यदि भगवान् महावीर का गर्भापहरण कल्याणक-स्वरूप नही हो सकता तो नारी का तीर्थंकरत्व कैसे कल्याणक-स्वरूप हो सकता है?

इसी प्रकार दूसरा आश्चर्य उत्कृष्ट देहधारी १०८ मुनियों के साथ भगवान् ऋषभदेव का सिद्धिगमन (निर्वाण प्राप्त करना) है। ५०० धनुष परिमाण की देह उत्कृष्ट देह मानी जाती है। इस प्रकार के उत्कृष्ट देहधारी जीव एक समय मे एक साथ दो ही मुक्ति जा सकते है, यह शास्त्रीय नियम है। दो से अधिक एक समय मे मुक्ति नहीं जा सकते, इस शास्त्रीय मर्यादा का उल्लघन होने से इसे आश्चर्य मानते हैं, तो क्या हम इसको आश्चर्य मानकर मंगलदायक कल्याणक स्वीकार नही कर सकते? यदि हम इसे कल्याणक स्वीकार

१ – "नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्चर्यरूपस्य गर्भापहारस्यापि कल्याणकत्वकथन अनुचितम्"
कल्पसुबोधिका पृ ६
इसी पर टिप्पन करते हुए सागरानदसूरि लिखते हैं —
"गर्भापहारोऽशुभ । अकल्याणक भूतस्य गर्भापहारस्य" कल्पकिरणावली।
करोषि श्रीमहावीरे, कथ कल्याणकानि षट्।
यतोऽत्वेकमकल्याण, विप्रनीचकुलत्वत ॥१॥ (गुरुतत्त्वप्रदीप)

नही करते है तो प्रभु ऋषभदेव का निर्वाण प्राप्त करना उनके स्वयं के लिये मंगलस्वरूप, आनन्दधाम-प्राप्तिरूप कदापि नही हो सकता तथा उनका निर्वाण कल्याणक, समाज के लिये श्रेयस्कर भी नही हो सकता। परन्तु आश्चर्य है कि हम इसे मगलस्वरूप कल्याणक अंगीकार करते है—करना ही पडता है। अत विचार करना चाहिये कि एक आश्चर्य को तो हम कल्याणक नही मानते और दो आश्चर्यों को कल्याणक रूप मे स्वीकार करते है, क्या यह नीति उचित कही जा सकती है?

यदि गर्भापहार मगलमय न होता तो आचार्य हेमचन्द्रसूरि अपने त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र के दशमपर्व, द्वितीय सर्ग मे इसे मंगलस्वरूप कदापि स्वीकार नही करते, वे कहते है

देवानन्दागर्भगते प्रभौ तस्य द्विजन्मनः।
बभूव महती ऋद्धिः कल्पद्रुम इवागते॥ ६॥
तस्या गर्भस्थिते नाथे, द्वयशीतिदिवसात्यये।
सौधर्मकल्पाधिपतेः सिंहासनमकम्पत[1]॥ ७॥
ज्ञात्वा चावधिना देवा-नन्दागर्भगत प्रभुम्।
सिंहासनात् समुत्थाय, शक्रो नत्वेत्यचिन्तयत्॥ ८॥

× × ×

कृष्णाश्विनत्रयोदश्यां, चन्द्रे हस्तोत्तरास्थिते।
स देवस्त्रिशलागर्भे, स्वामिनं निभृत न्यधात्॥ २९॥
गजो वृषो हरि साभिषेकश्रीः स्रक् शशी रविः।
महाध्वज पूर्णकुम्भ. पद्मसर सरित्पति॥ ३०॥
विमानं रत्नपुञ्जश्च, निर्धूमोग्निरिति क्रमात्।
ददर्श स्वामिनी स्वप्नान्, मुखे प्रविशतस्तदा॥ ३१॥
इन्द्रै पत्या च तज्ज्ञैश्च, तीर्थकृज्जन्मलक्षणे।
उदीरिते स्वप्नफले त्रिशलादेव्यमोदत॥ ३२॥
गर्भस्थेऽथ प्रभो शक्राऽज्ञया जृम्भकनाकिन.।
भूयो भूयो निधानानि, न्यधु सिद्धार्थवेश्मनि॥ ३३॥

१ इस पद्य मे कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि स्पष्ट कहते हैं कि देवानन्दा की कुक्षि मे महावीर देव के अवतरित होने के बयासी दिवस बीत जाने पर सौधर्मेन्द्र का आसन कंपित हुआ। अत शान्तिचन्द्रीय जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति के "तदेव हि कल्याणक यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधय सकलसुरासुरेन्द्रा जीतमिति विधित्सवो युगपत्ससम्भ्रमा उपतिष्ठन्ते" इस कथनानुसार जिसमे इन्द्रादि देवताओ का आना प्रभृति न हुआ हो उसे कल्याणक न मानने वालो को देवानन्दा की कुक्षि मे वीरविभु के अवतरण को, जिसे कि हरिभद्रसूरि व अभयदेवसूरि जैसे प्रामाणिक आचार्यों ने पचाशक प्रकरण मूल व वृत्ति मे स्पष्टतया कल्याणक माना है, इसे कल्याणक नही मानना चाहिये।

यदि हम देवानन्दा की कुक्षि मे उत्पन्न होना कल्याणक मानते हैं और त्रिशला की कुक्षि मे संक्रमण होना कल्याणक नही मानते है तो यह कितना अयुक्त होगा ? जहा हरण को अतिनिन्द्य कार्य स्वीकार करते हैं वहा विप्र कुल मे उत्पन्न होना भी नीच गोत्र कर्मविपाक के उदय से मानते हैं—दोनो ही जघन्यता की कोटि मे आते हैं। उस अवस्था मे एक का अगीकार और एक का त्याग कदापि युक्तिसगत नही कहा जा सकता।

दूसरी बात, च्यवन के पश्चात् जो देवोचित कर्त्तव्य होते हैं वे हरण के पश्चात् ही हुए हैं, ऐसा शास्त्रो मे उल्लेख मिलता है। तथा गर्भापहरण यदि कल्याणक न होता तो आचार्य भद्रबाहुस्वामी जैसे इस अतिनिन्द्य कार्य का शास्त्रो मे विस्तार से वर्णन कदापि नही करते। उनका यह प्रतिपादन हमे एक नूतन दृष्टि प्रदान करता है कि प्रभु महावीर के कल्याणको की संख्या हमे ५ ही स्वीकार हो तो देवानन्दा की कुक्षि मे उत्पन्न होने से न मान कर गर्भहरण के बाद से ही संख्या माने।

२ शास्त्रीय उल्लेखो मे हम किसी गच्छ के अथवा आचार्यो के उल्लेख न देकर कतिपय शास्त्रीय उल्लेखो पर ही विचार करते है —

जैनागमो मे प्रथम अंग श्री आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाध्ययन मे मे वीरचरित्र का वर्णन करते हुए गणधरदेव लिखते हैं —

"ते णं काले णं ते ण समये ण समणे भगव महावीरे पच हत्थुत्तरे यावि होत्था, त जहा—१ हत्थुत्तराहि चुए चइत्ता गब्भं वक्कते, २ हत्थुत्तराहि गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३ हत्थुत्तराहि जाए, ४. हत्थुत्तराहि सव्वतो सव्वत्ताए मुडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५ हत्थुत्तराहि कसिणे पडिपुण्णे निव्वाघाए निरावरणे अणते अणुत्तरे केवलवरणाण-दंसणे समुप्पन्ने, ६ साइणा भगवं परिनिव्वुए।[1]

इसकी टीका करते हुए व्याख्याकार आचार्य शीलाङ्कसूरि ने भी[2] छ ही कल्याणक स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार कल्पसूत्र के प्रारम्भ मे भी पाठ आता है

१ इस पाठ का अर्थ नागपुरीय तपागच्छ के मुख्य प्रतिष्ठापक आचार्य पार्श्वचन्द्रसूरि इस प्रकार लिखते है —

"श्रीमहावीर तेहना पच कल्याणिक हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि हुआ। जिणि उत्तरा नक्षत्र आगलि हस्त छे ते हस्तोत्तरा कहिये, एतले उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमाहि पच कल्याणिक हुआ। ते कल्याणिक केहा ? कहे छे - हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि स्वामी चव्या, चवीने गर्भि ऊपना १, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि गर्भे थकी बीजे गर्भि सहर्या २, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि स्वामी जन्म पाम्या ३, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि × × × अणगारपणे प्रव्रजित हुआ एतावता सयम आदर्यो ४, हस्तोत्तर नक्षत्रमाहि × × × स्वामी केवली हुआ ५, साइणा स्वाति नक्षत्रे भगवत श्रीमहावीर निर्वाण पदिइ पहुता ६।

(आचाराग सूत्र बाबू प्रकाशन पत्र २३९ व २४२)

२ पञ्चसु स्थानेषु गर्भाधान-संहरण-जन्म दीक्षा-ज्ञानोत्पत्तिरूपेषु सवृत्ता, अत पञ्च हस्तोत्तरो भगवान-भूदिति" इस टीका पाठ से गर्भाधानादि जिन पाच स्थानो मे हस्तोत्तरा नक्षत्र होने को कहा गया है, उन पाच स्थानो मे से चार को कल्याणक और एक गर्भसहरण को अकल्याणक नही बताया, अत छ कल्याणक ही मानना टीकाकार के अभिप्राय से युक्तियुक्त है।

"ते ण काले ण ते ण समये ण समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा– १ हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २ हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३ हत्थुत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५ हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, ६ साइणा परिनिव्वुए भयवं।"

इसकी भी टीका करते हुए कुछ तपगच्छीय आचार्यों को छोड कर प्राय. सब ही टीका व टब्बार्थकारो ने छ ही कल्याणक स्वीकार किये हैं।

स्थानाङ्ग सूत्र के पंचम स्थानक मे पद्मप्रभु, सुविधि, शीतल आदि महावीर पर्यन्त के चौदह तीर्थंकरो के एक-एक नक्षत्र मे पाच-पाच कल्याणको की गणना करते हुए कुल ७० कल्याणको का उल्लेख दिखाया है, उसमे भी वीर के पाच कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र मे हुए.

"समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरणाणदसणे समुप्पन्ने।"

इसकी टीका करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं

"समणे, इत्यादि। हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तोत्तरा, हस्तो वा उत्तरो यासा हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्य. पञ्चसु च्यवनगर्भहरणादिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा, गर्भाद्–गर्भ-स्यानात् 'गब्भं' ति गर्भो–गर्भस्यानान्तरे संहृत नीत.। निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकामावा-स्यायाम्।"

इसमे तेरह तीर्थंकरो के पाँच-पाँच कल्याणक एक-एक नक्षत्र में होने से कुल मिलाकर ६५ होते हैं और उसमे महावीर के गर्भहरणसहित केवलज्ञान प्राप्ति तक ५ कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र मे हुए, स्वीकार कर ७० की संख्या पूर्ण करते हैं। इसमे निर्वाण सम्मिलित नही है। क्या यहाँ निर्वाण को कल्याणक न माना जाय? और यदि उसे मानते हैं तो ६ हो ही जाते है। इसीलिये आचार्य अभयदेवसूरि को विशिष्ट रूप से लिखना पडा कि 'निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकामावास्यायाम्' इति। अत यह स्पष्ट है कि शास्त्रकारो ने गर्भहरण को कल्याणक के रूप मे स्वीकार किया है। यदि गर्भपरिवर्तन अतिनिन्द्य और अशुभ होता तो इसे मङ्गलमय कल्याणकों की गणना मे ग्रहण करने की आवश्यकता नही थी। इसमे ग्रहण करना सूचित करता है कि गर्भपरिवर्तन भी मङ्गलस्वरूप कल्याणक है।

यहाँ पर यदि यह आक्षेप किया जाय कि इसमे कही कल्याणक शब्द की गन्ध तक प्राप्त नही होती, अपितु इसमे तो केवल इतना ही कहा गया है कि इस नक्षत्र मे ये वस्तुएँ हुई, तो यह केवल मतिविभ्रम है, विद्वत्तापूर्ण विचार नही। यहाँ पर वस्तु ही कल्याणक का पर्यायवाची शब्द है। इसीसे कल्याणक ग्रहण किया जाता है। इस एकार्थक को हम यदि स्वीकार न करें तो हमारे सामने अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तिया खडी हो जायेगी। कुछ स्थलों को छोडकर हमें कही भी और किसी भी शास्त्र मे कल्याणक शब्द पृथक् रूप से प्राप्त नही होता, हमे केवल लक्षणा से ही ग्रहण करना होता है। ऐसी अवस्था मे क्या हम च्यवन से निर्वाण-पदप्राप्ति पर्यन्त की वस्तुओ को कल्याणक स्वीकार नही करेंगे? स्थानाङ्ग सूत्र मे

प्रतिपादित १४ तीर्थङ्करो के ७० कल्याणको को अगीकार नही करेगे ? कल्पसूत्रस्थ पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि के चरित्रो मे कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने से क्या हम उनको भी कल्याणक स्वीकार नही करेगे ? नही, हमे स्वीकार करना होगा, अन्यथा कल्याणको का ही स्पष्टत. अत्यन्ताभाव हो जायगा, जो सचमुच मे शास्त्रविरुद्ध होगा। कल्याणको का अभाव होने से इन्द्रादिक देवताओ की की हुई श्रद्धापूर्वक सम्यग् आराधना केवल ढोग मात्र ही होगी, भक्ति नही। अत कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने पर भी हमे लक्षणा से कल्याणक ग्रहण करना ही होगा।

यही नही, किन्तु तीर्थकर का जीव पूर्वभवो मे जिस भव से सम्यक्त्व अर्जन करता है वहाँ से लेकर तीर्थंकर भव तक उसके सभी भव "उत्तमभव" माने जाते हैं। कल्पसूत्रादि शास्त्रो मे प्रभु महावीर का भव पोट्टिल राजपुत्र के भव से पचम भव माना जाता है, परन्तु समवायाङ्ग सूत्र मे गणधरदेव महावीर का पंचम भव देवानन्दा की कुक्षि मे उत्पन्न होना और छट्ठा भव त्रिशलारानी की कुक्षि मे उत्पन्न होना और तीर्थंकर रूप से जन्म लेना मानते है —

"समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोट्टिलभवग्गहणे एगं वासकोडिं सामन्नं परियागं पाउणित्ता सहस्सारे कप्पे सव्वट्ठविमाणे देवत्ताए उववन्ने।"

श्रमण तपस्वी भगवान् महावीर के पोट्टिल के भव से पाँच ही भव माने गये, यह छट्ठा भव कैसा ? इसका भ्रम न हो इसलिये टीकाकार अभयदेवसूरि स्पष्ट कर देते हैं

"समणे, इत्यादि। किल भगवान् पोट्टिलाभिधानो राजपुत्रो बभूव। तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्या पालितवान् इत्येको भव। ततो देवोऽभूदिति द्वितीय। ततो नन्दाभिधानो राजसूनु छत्रानगर्यां जज्ञे इति तृतीय। तत्र वर्षलक्ष सर्वदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवत् इति चतुर्थ। ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्त-ब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया कुक्षौ उत्पन्न इति पञ्चम। ततो द्व्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्याया कुक्षौ इन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृत –नीत तीर्थङ्करतया च जात इति षष्ठ। उक्तभवग्रहणं हि विना नान्यद्भवग्रहणं षष्ठ श्रूयते भगवत, इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यात,यस्मा च्च भवग्रहणादिद षष्ठ तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति, सुष्ठूच्यते तीर्थङ्करभवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति।"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देवानन्दा की कुक्षि मे उत्पन्न होना और उससे अपहृत होकर त्रिशलाकुक्षि मे धारण होना अतिनिन्द्य या आश्चर्य नही किन्तु उत्तम भव है। अत पृथक् भवनिर्देश से उत्तमभव होने के कारण यह स्वत. ही मंगलस्वरूप कल्याणक हो जाता है।

३. पञ्चाशक प्रकरण एव टीकाकार अभयदेवसूरि द्वारा पञ्चकल्याणक स्वीकार करना अपना निजी महत्त्व रखता है। वहाँ सामान्य रूप से २४ तीर्थङ्करो के कल्याणको की गणना का प्रसग होने से पाच ही कहे गये हैं, इससे ६ कल्याणक की मान्यता मे यत्किञ्चित् भी बाधा नही आती। देखिये, चौवीस तीर्थङ्करो की सामान्य गणना मे १९ वे तीर्थकर मल्लिप्रभु की स्त्रीरूप मे गणना नही करते हैं, किन्तु मल्लिनाथजी कहकर पुरुष रूप मे गिनते

है। क्या सामान्य प्रसंग से मल्लिप्रभु का स्त्रीत्व नहीं छूट जाता है ? इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर की माता चौदह स्वप्न देखती है। उसमे ऋषभदेव की जननी वृषभ से, महावीर प्रभु की जननी सिंह से और अवशिष्ट अजितनाथ से पार्श्वनाथ पर्यन्त २२ की माताएं हस्ति से लेकर निर्धूम अग्निशिखा पर्यन्त चौदह स्वप्न देखती हैं। कल्पसूत्र मे वीरचरित्र में त्रिशला के द्वारा दृष्ट स्वप्नों के अधिकार में आचार्य भद्रबाहुस्वामी, सामान्य पाठ होने से एवं बहुलता की रक्षा करने के लिये सिंह स्वप्न से वर्णन प्रारंभ न कर हस्ति स्वप्न से ही वर्णन प्रारंभ करते हैं, तो क्या यह मान सकते हैं कि त्रिशला ने चौदह स्वप्नो मे सर्वप्रथम सिंह का स्वप्न न देखकर हाथी का स्वप्न देखा था ?

यही क्यो ?, आचार्य जिनवल्लभसूरि ने स्वयं सर्व-जिनपञ्च कल्याणक स्तोत्र में सामान्य जिनेश्वरो की स्तुति एवं कल्याणक निर्देश करते समय महावीरप्रभु के भी पाच ही कहे हैं तो क्या हमे जिनवल्लभसूरि का ही पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना होगा ? या उन्हे वितथवचनी कहना होगा ? कदापि नही। वस्तुत. सामान्य प्रसंग से पञ्चाशक में महावीरदेव के पाच ही कल्याणक मानने से अतिरिक्त कल्याणक का अभाव नही हो जाता। अत. सामान्य एव विशेष व्याख्या को मध्यस्थ दृष्टि से देखें तो छ कल्याणक की मान्यता मे कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के "उसभे णं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीई छट्ठे होत्था" पाठ के अनुसार यहाँ यह सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि क्या शास्त्रकार ने राज्याभिषेक को कल्याणक स्वीकार कर 'पंच उत्तरासाढे' कहा है ? परन्तु इसका समाधान इसकी टीका करते हुए टीकाकार तपागच्छीय आचार्य विजयसेनसूरि के शिष्य श्रीशान्तिचन्द्रगणि (जो धर्मसागरजी के ही समकालीन विद्वान् थे) कहते हैं कि 'वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणक।' महावीर के गर्भहरण की तरह यह कल्याणक नही है,किन्तु राज्याभिषेक इन्द्र कर्त्तव्य होने से लक्षणा के साधर्म्य से एवं उत्तराषाढा नामक एक नक्षत्र मे होने से शास्त्रकार ने पंच उत्तरासाढे' कहा है, इसमे कोई दोष नही है। इसीलिये आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने कल्पसूत्र मे 'उसभे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीई पंचमे होत्था' कहा है। अर्थात् चार कल्याणक उत्तराषाढा नक्षत्र मे हुए हैं और पाचवा (निर्वाण) अभिजित् नक्षत्र मे। टीकाकार का पूरा मन्तव्य इस प्रकार है

'ननु अस्मादेव विभागसूत्रबलात् आदिदेवस्य षट्कल्याणकं समापद्यमानं दुर्निवारं इति चेत् ? न, तदेव हि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधय· सकलसुरासुरेन्द्रा जीतमिति विधित्सया युगपत् ससंभ्रमा उपतिष्ठन्ते। नह्ययं षष्ठकल्याणकत्वेन भवता निरूप्यमाणो राज्याभिषेकस्तादृशस्तेन वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणक', अनन्तरोक्तलक्षणायोगात्। न च तर्हि निरर्थकमस्य कल्याणकाधिकारे पठनमिति वाच्यम्, प्रथमतीर्थेशराज्याभिषेकस्य जीतमिति शक्रेण क्रियमाणस्य देवकार्यत्व-लक्षणसाधर्म्येण समाननक्षत्रजाततया प्रसङ्गेन तत्पठनस्यापि सार्थकत्वात्, तेन समाननक्षत्रजातत्वे सत्यपि कल्याणकत्वाभावेन (अ)नियतवक्तव्यतया, क्वचित् राज्याभिषेकस्याकथनेऽपि न दोष:। अतएव दशाश्रुतस्कन्धाष्टमाध्ययने पर्युषणाकल्पे श्रीभद्रबाहुस्वामिपादा "ते णं काले ण ते णं समये णं उसभे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीइ पंचमे होत्था" इति पञ्चकल्याणकनक्षत्रप्रतिपादकसूत्रं ववन्धिरे। न तु राज्याभिषेकन-

क्षत्राभिधायकमपीति । न च प्रस्तुतव्याख्यानस्यानागमिकत्वं, आचाराङ्गभावनाध्ययने श्रीवीरकल्याणकसूत्रस्यैवमेव व्याख्यातत्वात् ।"

इस पाठ से राज्याभिषेक के कल्याणक न होने मे सन्देह का अवकाश ही नही रहता। यदि मानले कि राज्याभिषेक भी कल्याणक है, तो प्राय प्रत्येक तीर्थङ्कर का राज्याभिषेक हुआ है; अत प्रत्येक का भी मानना होगा। यही क्यो ? भगवान् ऋषभदेव ने युगलिक धर्म का निवारण कर सुमङ्गला के साथ पाणिग्रहण किया, यह लौकिक व्यवहार से एवं गार्हस्थ्य-धर्मरूप श्रेष्ठ कार्य होने से इसे भी कल्याणक मानने मे क्या आपत्ति है ? यदि इस प्रकार से कल्पनाओ का आश्रय लिया जाय, तो पाच ही नही अपितु कितने ही कल्याणक प्रत्येक तीर्थंकर के हो सकते हैं, परन्तु शास्त्रविहित न होने से इन्हे कल्याणको की कोटि मे किसी भी शास्त्रकार ने नही रखा, अत राज्याभिषेक भी कल्याणक की कोटि मे नही आ सकता।

५ कतिपय शास्त्रीय प्रमाणो के उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अब खरतरगच्छीय आचार्यों के लिखित प्रमाण छोडकर केवल अन्यान्य-गच्छीय आचार्यों के ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं

(क) श्री पृथ्वीचन्द्रसूरि कल्पटिप्पन मे लिखते है —

"हस्त उत्तरो यासा ता , बहुवचनं बहुकल्याणकापेक्षम्, इत्यत्र पञ्चसु पञ्च, स्वातौ षष्ठमेव ध्वन्यते ।"

(ख) आचार्य विनयचन्द्रसूरि कल्पनिरुक्त (र० १३२५) मे लिखते हैं

"हस्त उत्तरो यासा ता हस्तोत्तरा–उत्तरफल्गुन्यो, बहुवचनं बहुकल्याणकापेक्षम् । तस्या हि विभोश्च्यवनं १, गर्भाद् गर्भसंक्रान्ति २, जन्म ३, व्रतं ४, केवलं ५ चाभवत् । निर्वृतिस्तु स्वातौ ६ ।"

(ग) तपगच्छीय आचार्य कुलमण्डनसूरि कल्पावचूरिका मे मूल पाठ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं

"श्रीवर्द्धमानस्य षण्णा च्यवनादीना कल्याणकाना हेतुत्वेन कथितौ तौ वा इति ब्रूमः ।"

(घ) आचार्य जयचन्द्रसूरि अपने कल्पान्तर्वाच्य मे लिखते हैं —

"आषाढे सितषष्ठी, त्रयोदशी चाश्विने सिता चैत्रे ।
मार्गे दशमी सितवैशाखे सा कार्त्तिके च कुहूः ॥१॥

वीरस्य षट्कल्याणकदिनानि इति ।"

(च) तपगच्छीय आ० श्रीसोमसुन्दरसूरि या तच्छिष्य स्वप्रणीत कल्पान्तर्वाच्य मे लिखते हैं

"यत्राऽसौ भगवान् महावीरो देवानन्दाया कुक्षौ दशमदेवलोकगतप्रधानपुष्पोत्तरविमानादवतीर्ण , पञ्चकल्याणकानि उत्तराफाल्गुनिनक्षत्रे जातानि तद्यथा– × × × × स्वातिनक्षत्रे परिनिर्वृत –निर्वाण प्राप्तो भगवान् मोक्षं गत इत्यर्थ । एतानि भगवतो वर्द्धमानस्य षट्कल्याणकानि कथितानि ।"

(छ) अञ्चलगच्छीय धर्मशेखरसूरि शिष्य उदयसागर स्वप्रणीत कल्पसूत्रटीका (र० १५११) मे लिखते हैं
"हस्त उत्तरोऽग्रेसरो यासां ता. उत्तराफाल्गुन्य, बहुवचनं पञ्चकल्याणकापेक्षया 'होत्था' आसीत् । × × × × × स्वातिना नक्षत्रेण परिनिर्वृत. निर्वाणं प्राप्त ।"

(ज) अञ्चलगच्छीय वाचनाचार्य श्रीमहावजी गणि शिष्य मुनि माणिकऋषि लिखित सं० १७६६ की प्रति[1] मे लिखा है.
"पञ्चसु च्यवनादिकल्याणकेषु हस्तोत्तरा—हस्तादुत्तरस्या दिशि वर्तमाना यद्वा हस्त उत्तरो यासा ता उत्तराफाल्गुन्यो यस्य स पञ्च हस्तोत्तरो भगवान् होत्थ त्ति अभूत् ।"

(झ) जोधपुर केसरियानाथ भंडार मे सुरक्षित कल्पसूत्र टीका की एक प्राचीन प्रति[2] मे लिखा है
"श्रीवर्द्धमानतीर्थाधिपते· पञ्चकल्याणकानि हस्त उत्तरो अग्रे यस्मात्, एवम्भूते उत्तराफाल्गुनीलक्षणे नक्षत्रे जातानि । मोक्षकल्याणकस्य स्वातौ जातत्वादिति ।"

(ट) तपागच्छीय पं० शान्तिविजयगणि लिखित (लि० सं० १६६७ लाहोर) कल्पसूत्र अन्तर्वाच्य स्तवक[3] मे लिखा है
"श्रमणतपस्वी भगवंत ज्ञानवंत श्रीमहावीरदेव, तेहना पाच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रे हुआ । × × × × × स्वातिनक्षत्रे मोक्ष पहुँता श्रीमहावीरदेव ।"

(ठ) उपकेश (कंवला) गच्छीय ककुदाचार्य सन्तानीय उपाध्याय रामतिलक शिष्य गणपति लिखित[4] (लि सं. १७२४) कल्पसूत्र बालावबोध मे लिखा है —
"ए श्रीकल्पसूत्र तणइ प्रारंभइ जगन्नाथ श्रीमहावीरतणा छ कल्याणिक बोलियइ, तद्यथा—'ते णं का० पंचहत्थुत्तरे होत्था"—तिणइं समइ श्रमण भगवंत श्री महावीररहइं पञ्चकल्याणिक उत्तराफाल्गुनि नक्षत्रि चन्द्रमा तणइ सयोगि प्राप्त हुतइ हुआ । × ×—ए संक्षिप्त वाचनाइं जगन्नाथ तणा छ कल्याणिक जाणिवा ।"

(ड) आञ्चलिक मेरुतुङ्गसूरि रचित सूरिमन्त्रकल्प के पूर्वलिखित वर्धमानविद्याकल्प मे लिखा है.—
"उपाध्यायादिपदचतुष्टयेन नवपदस्थापनादिनप्रतिपन्नपदेष्वपि महावीरकल्याणकेषु यावज्जीवं विशेषतप कार्यम् ।"

१. शान्तिनाथमदिरस्थ अञ्चलगच्छ भडार, कच्छ माडवी पत्र १५०

२ डाबडा न० १८

३ जोधपुर केशरियानाथ भडार डा० २०, प्र० न० ६

४. महेसाणा उपाश्रय का भडार, पत्र ६१

(ढ) तपागच्छीय श्रीशान्तिचन्द्रगणि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका करते हुए भगवान् ऋषभप्रभु का राज्याभिषेक कल्याणक माना जा सकता है या नही, प्रसगतः पर लिखते हैं –"वीरस्य गर्भापहार इव नाय कल्याणक" अर्थात् वीर के गर्भापहार की तरह यह (ऋषभ का राज्याभिषेक) कल्याणक नही है। इससे स्पष्ट है कि गर्भापहार कल्याणको की परिधि मे है।

(त) आगमिकगच्छीय आचार्य जयतिलकसूरि स्वप्रणीत सुलसाचरित्र के छट्ठे सर्ग मे लिखते हैं

"देवानन्दोदरे श्रीमान् श्वेतषष्ठ्या सदा शुचिः ।
अवतीर्णोऽसि मासस्या-षाढस्य शुचिता ततः ॥१॥

त्रिशला सर्वसिद्धेच्छा, त्रयोदश्यामभूद् यतः ।
तवावतारात्तेनैषा, सर्वसिद्धा त्रयोदशी ॥२॥

शुक्लत्रयोदश्या यश्चा-चलमेरु प्रचालयन् ।
चित्र कृतवास्तद्योगा-च्चैत्रमासोऽपि कथ्यते ॥३॥

यस्याद्यदशम्यां दुर्ग-मोक्षमार्गस्य शीर्षकम् ।
चारित्रमादत युक्ता, मासोऽस्य मार्गशीर्षता ॥४॥

दशम्या यस्य शुक्लायां, केवलश्रीरहो त्वया ।
ह्यादत्ता तेन मासोऽस्य युक्ता माधवता प्रभो ॥५॥

तव निर्वाणकल्याण यद्दिन पावयिष्यति ।
तन्न वेद्मि यतो नाथ, मादृशोऽप्यक्षवेदिनः ॥६॥

सिद्धार्थराजाङ्गज देवराज, कल्याणकै षडभिरिति स्तुतस्त्वम् ।
तथा विधेह्यान्तरवैरिषट्क, यथा जयाम्याशु तव प्रसादात् ॥७॥

इत्यादि एक नही सैकडो प्रमाण दिये जा सकते हैं। अत यह कहना भी युक्ति-सगत नही है कि जिनवल्लभगणि ने ही यह नूतन प्रतिपादन किया है। श्रीमान् जिनवल्लभ गणि ने तो केवल जो वस्तु चैत्यवासियो के कारण 'विवर" मे प्रविष्ट होती जा रही थी उसका पुन उद्धार कर जनता के सामने रखकर अपनी असीम निर्भीकता का परिचय दिया है। वस्तुत गणिजी का यह षट् कल्याणको का प्रतिपादन उत्सूत्र प्रतिपादन नही था, किन्तु सैद्धान्तिक वस्तु का ही प्रतिपादन था। यदि यह प्ररूपणा, उत्सूत्र-प्ररूपणा होती तो तत्कालीन समग्र गच्छो के आचार्य इसका उग्र विरोध करते, प्रतिशोध मे दुर्दम कदम उठाते। पर आश्चर्य है कि तत्कालवर्त्ति किसी भी आचार्य ने इस प्ररूपणा का विरोध किया हो ऐसा प्रमाण प्राप्त नही होता है; प्रत्युत प्रतिपादन के प्रमाण अनेको उपलब्ध होते हैं। अत यह सिद्ध है कि यह प्ररूपणा तत्कालीन समग्र आचार्यों को मान्य थी। साथ ही यह भी मानना होगा कि खुद तपागच्छीय विद्वानो ने भी षट् कल्याणक लिखे हैं अत धर्मसागरजी की स्वय की प्ररूपणा ही निह्नव मार्ग की प्ररूपणा है, आचार्य जिनवल्लभसूरि की नही।

इस कल्याणक के विषय मे शास्त्रीय दृष्टि से विशेष अध्ययन करना हो तो मेरे

शिरच्छत्र पूज्य गुरुदेव श्री जिनमणिसागरसूरि जी म० द्वारा लिखित "षट् कल्याणक निर्णय"[1] नामक पुस्तक देखें।

सङ्घ-बहिष्कृत ?:

जो व्यक्ति पाण्डुरोग से ग्रसित हो जाता है उसे सृष्टि की समस्त वस्तुएं पीतवर्णी ही प्रतीत होती हैं वैसे ही धर्मसागरजी को विद्वत्ता का पीलिया हो गया, तत्फलस्वरूप उनकी दृष्टि में समग्र गच्छ वाले निह्नव, विशुद्ध और कठोर क्रियापात्री खरतरगच्छ जैसा गण खरतर, जिनवल्लभसूरि जैसा आचार्य उत्सूत्र-प्रतिपादक मालूम हुए। जिनवल्लभसूरि को उत्सूत्रप्ररूपक कहने के पश्चात् एक जटिल समस्या उनके सन्मुख और आई कि ऐसे प्ररूपक तो संघ, गण बहिष्कृत हुआ करते हैं तो क्यों न इनको संघ-बहिष्कृत सिद्ध कर दूं ? इसको सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता थी। प्रमाण के लिये साहित्य-सागर में काफी गोता लगाया पर निष्फल हुए, अन्त में उनको एक प्रमाण मिल ही गया। वह यह था —

'सङ्घत्राकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत-
स्तन्मुद्राद्दढपाशबन्धनवत शक्तश्च न स्पन्दितुम्।
मुक्त्यै कल्पितदानशीलतपसोऽप्येतत्क्रमस्थायिनः,
सङ्घव्याघ्रवशस्य जन्तुहरिणव्रातस्य मोक्ष कुत ॥३३॥"

यह आचार्य जिनवल्लभसूरि प्रणीत सङ्घपट्टक की ३३ वीं कारिका है। इसका अर्थ समस्त टीकाकारों ने निम्नलिखित किया है:

"इन हीन आचारवाले चैत्यवासियों को देने के लिये बनवाये गये चैत्यरूप कूट अर्थात् जाल में जो फंसे हुए हैं, इसी हेतु जो अन्त:करण में छटपटा रहे हैं, परन्तु इन चैत्यवासियों की मुद्रा अर्थात् 'हमारे चैत्य को छोडकर अन्यत्र मत जावो' ऐसी राजाज्ञारूप दृढ बन्धन से बन्धे हुए होने के कारण जरा भी हिलडुल नहीं सकते हैं। मुक्ति के लिये जो दान शील, तप आदि करते हैं, परन्तु इन हीनाचारियों के कुसंघ की परम्परा में पड़े हुए हैं। ऐसे जो ये दयनीय भव्य प्राणीरूप हरिणों के झुंड हैं, उनका हीनाचारियों के कुसङ्घरूप व्याघ्र से छुटकारा कहां ? अर्थात् जैसे हरिण समूह जब व्याघ्रक्रम—व्याघ्र के पंजे में आ जाता है तब उसका छुटकारा असंभव होता है उसी प्रकार इन हीनाचारियों के कुसङ्घरूप व्याघ्र के फंदे में पडे हुए भव्य प्राणीरूप हरिणों का छुटकारा कहां ? अर्थात् उनका मुक्तिगमन कैसे हो सकता है ?

इस ग्रन्थ के टीकाकार युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के कतिचित् अपूर्ण वाक्यों का उल्लेख करके उ० धर्मसागरजी और वर्तमानकालीन विजयप्रेमसूरि तथा तन्मतानुयायी जो तोड़-मरोड कर अर्थ करते हैं वह कितना विचारणीय तथा उपहासास्पद है। देखिये:—

पद्य में आये हुए "सङ्घव्याघ्रवशस्य" शब्द पर विशेष ऊहापोह है। उनका मन्तव्य है कि संघ को व्याघ्र की उपमा देना पूर्ण रूप से अनुचित है। किन्तु किस संघ को व्याघ्र की

१ सुमति सदन, कोटा (राजस्थान) द्वारा प्राप्य

उपमा दी है— विचारने का वे परिश्रम नही उठाते। आचार्य जिनपतिसूरि इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं.

"अथ कथमिह सङ्घस्य क्रूरतया व्याघ्रेण निरूपणं ? तत्त्वे हि तस्य भगवन्नमस्कारो न घटामियृयात्। श्रूयते च तीर्थप्रवर्त्तनाऽनेहसि "नमो तित्थस्से'त्याद्यागमवचनप्रामाण्येन भगवतस्तन्नमस्कारविधान, तत्कथमेतदुपपद्यत इति चेत् ? न, सदृग्नामश्रवणाद् सङ्घेऽपि प्रकृते भवतः सङ्घभ्रान्ते। अन्यो हि सघो भगवन्नमस्कारविषयोऽन्यश्चाधुनिको भवदभिमत। तथाहि—गुणगुणिनोः कथचित्तादात्म्येन ज्ञानादिगुणसमुदायरूप शुद्धपथप्रथनबद्धादरोऽनुल्लघितभगवच्छासन. साध्वादि सिद्धाते सङ्घ इत्यभिधीयते। यदाह

सव्वोवि नाणदसण-चरणगुणविभूसियाण समणाण।
समुदायो होइ सघो गुणसघाओ ति काऊण॥

एवंविधश्च संघो भगवन्नमस्कारविषय। स हि भगवन्नमस्यदखण्डाखण्डलमौलिमालाललितक्रमकमलोऽपि तीर्थस्य साक्षात्स्रष्टापि प्राक्तनजन्मनिर्वर्त्तितभावसघवात्सल्यादार्हन्त्यं मयावाप्तमिति कृतज्ञता प्रदिदशयिषया सद्बहुमानदर्शनाच्च लोकोऽप्येना बहुमन्येत इति जिज्ञापयिषया च त नमस्कुरुते।

गुणसमुदाओ सघो, पवयण-तित्थ ति हु ति एगट्ठा।
तित्थयरो वि हु एय, नमए गुरुभावओ चेव॥१॥
तप्पुधिया (?) अरहया, पूइयपूया य विणयकम्मं च।
कयकिच्चोवि जह कह, कहेइ नमए तहा तित्थ॥२॥

इतरथा कृतकृत्यत्वेन भगवतो यथाकथचित्तत्रैव भवे मुक्तिसभवात्किमनेनेति। साम्प्रतिकस्तु भवदभिप्रेत उन्मार्गप्रज्ञापकत्वेन, सन्मार्गप्रणाशकत्वेन, जिनाज्ञासर्वस्वलुण्टाकत्वेन, यतिधर्ममाणिक्यकुट्टाकत्वेन च गुणसमुदायरूपत्वस्य संघलक्षणस्याभावान्न संघ। यदुक्तम्

केइ उम्मग्गट्ठिय, उस्सुत्तपरूवय बहुं लोय।
दट्ठु भणति सघ, सघसरूवं अयाणता॥१॥
सुहसीलाओ सच्छदचारिणो वेरिणो सिवपहस्स।
आणाभट्ठाओ बहु-जणाओ मा भणह सघोति॥२॥

पर बहुकीकशसंघातरूपत्वात्सोऽपि संघ इत्यभिधया लोकेऽभिधीयत इति मुग्ध ! नाम्ना विप्रलब्धोऽसि। यदुक्त

एक्को साहु एक्का वि साहुणि सावओ य सड्ढो य।
आणाजुत्तो सघो, सेसो पुण अट्ठिसघाओ॥ १॥

अत सङ्घलक्षणाभावान्नायं बहुमानमर्हति, तद् बहुमानादिकारिणो भगवत्प्रत्यनीकादिभावेनाभिधानात्। यदुक्त

आणाए अवट्ट त, जो उववूहिज्ज मोहदोसेण।
तित्थयरस्स सुयस्स य, संघस्स य पच्चणीओ सो॥ १॥

तथा—

जो साहिज्जे वट्टइ, आणाभगे पवट्टमाणाणं।
मणवायाकाएहिं, समाणदोस तयं बिंति॥ १॥

अतएव सुखसीलतानुरागादेरसङ्घमपि सङ्घ इत्यभिदधतां प्रायश्चित्तं प्रतिपादितं सिद्धान्ते। यदाह—

असंघ संघ जे, भणंति रागेण अहव दोसेण।
छेओ वा मूल वा, पच्छित्त जायए तेसिं॥ १॥

तस्माद् युक्तं क्रूरतया प्रकृतसङ्घस्य व्याघ्रतया (नि)रूपणम्।

गुणसमुदाय, संघ, प्रवचन तथा तीर्थ शब्द एकार्थक है तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणो से परिपूर्ण साधु के समुदाय को यहां संघ कहा है और वह संघ बहुमाननीय है। किन्तु उन्मार्ग-स्थित, सन्मार्ग का विनाशक, जिनाज्ञा का नाश करके स्वच्छन्द रूप से प्ररूपित चैत्यवासी समुदाय, जो सुख-लोलुपी है उसको यहाँ संघरूप से स्वीकार नही किया है। अर्थात् उन्मार्गप्ररूपक चैत्यवासी-समुदाय-संघ को ही व्याघ्र की उपमा दी है किन्तु तीर्थ-सम्मत संघ को नही; जो यथार्थ ही है। और इसी प्रकार के संघ को जब आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे समर्थ विद्वान् भी चैत्यवास का खंडन करते हुए, "(आज्ञावियुक्त) शेषसङ्घ अस्थिसंघात एव" कह कर हड्डियो का समुदाय मात्र ही है प्रतिपादन करते हैं तो इस वर्तमानीय (चैत्यवासी) संघ को जो व्याघ्र की उपमा दी है वह अयुक्त प्रतीत नही होती है।

दूसरी विचारणीय वस्तु यह है कि इस टीका मे आये हुये "ऐदयुगीनसङ्घप्रवृत्ति-परिहारेण च सङ्घबाह्यत्वप्रतिपादनममीषा भूषणं न तु दूषणं।" वाक्य का आश्रय लेकर जो प्रतिपादन करते हैं कि 'जिनवल्लभ संघ बहिष्कृत थे'— किन्तु उन्हें टीकाकार के पूर्ण शब्दो का ध्यान रखना चाहिये कि टीकाकार जो संघबाह्यत्व को भूषण कहता है उसका आशय क्या है? देखिये टीकाकार के पूर्णवाक्य

"ऐदयुगीनसङ्घप्रवृत्तिपरिहारेण च सङ्घबाह्यत्वप्रतिपादनममीषां भूषणं, न तु दूषणम्। तत्प्रवृत्तेरुत्सूत्रत्वेन तत्कारिणा दारुणदुर्गतिविपाकश्रुत्या तत्परिहारेण प्रकृतसङ्घबाह्यत्वस्यैव तेषां चेतसि रुचितत्वात्तदन्तर्भावे तु तेषामपि तत्प्रवृत्तिवर्तिष्णुतयाऽनन्तभवाटवीपर्यटनप्रसङ्गात्। अत आधुनिकसंघबाह्यत्वेनैव तेषां गुणित्वं, तथा च तेषूच्छेदबुद्धिर्महापापीयसामेव भवति। तस्मात्तेषु मुक्त्यर्थिना प्रमोद एव विधातव्यो, न लघीयस्यापि द्वेषधीरिति व्यवस्थितम्।"

उपरि उल्लिखित टीकाकार के शब्दो से यह स्पष्ट है कि जिस चैत्यवासी संघ को हमने व्याघ्र की उपमा दी है, उस संघ मे यदि जिनाज्ञानुसार चालित, सुविहित साधु-समुदाय नही रहता है अथवा ये चैत्यवासी कहते हैं कि 'ये सुविहित साधु संघ बाह्य हैं' तो वह सुविहित गण के लिये दूषण नही है किन्तु भूषणरूप ही है। क्योंकि यदि सुविहित गण उस संघ को स्वीकार करता है और उसकी आम्नायानुसार चलता है तो वह संसार का वृद्धिकारक है।

वस्तुत आचार्य जिनपतिसूरि का यह कथन उपयुक्त ही है, अन्यथा आचार्य हरिभद्र-सूरि और आचार्य जिनेश्वरसूरि जैसे प्रौढ सुविहित, चैत्यवासियो की आचरणाओ का क्यो विरोध करते? विरोध के कारण यह वस्तु भी उपयुक्त है कि चैत्यवासी समुदाय इन सुवि-हितो को संघबाह्य करता है तो वह सुविहितो के लिये दूषणरूप नही है; क्योंकि उनका मत-व्यामोह एकान्त दृष्टि से कहने को उन्हे बाधित करता है। इससे यह सिद्ध है कि चैत्यवासी संघ से जिनवल्लभसूरि आदि सुविहित बहिष्कृत अवश्य थे किन्तु थे वे सुविहित संघ के अन्दर और उसके प्रमुख।

उत्सूत्र-प्ररूपक

षट् कल्याणक के अतिरिक्त एक विषय और है जिसको लेकर कुछ प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने जिनवल्लभगणि पर 'उत्सूत्र-प्ररूपक' होने का दोषारोपण किया है। यह विषय है 'संहनन' का।

आ० जिनवल्लभ ने सूक्ष्मार्थविचारसारप्रकरण की १४ वीं कारिका के उत्तरार्द्ध में संहनन के अधिकार में लिखा है

"सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणमिहट्ठिनिचउ त्ति ॥१४॥"

इस पद्य में उल्लिखित 'सुत्ते सत्तिविसेसो" पर प्रज्ञापनासूत्र की टीका करते हुए (पृ० ४७०) आचार्य मलयगिरि लिखते हैं —

"तेन य प्राह सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननमिति। तथा च तद्ग्रन्थ "सुत्ते सत्तिविसेसो संघयण" इति स भ्रान्त। मूलटीकाकारेणापि सूत्रानुयायिना संहननस्यास्थिरचनाविशेषात्मकस्य प्रतिपादितत्वात्। यत्तु एकेन्द्रियाणां सेवार्त्तसंहननमन्यत्रोक्तं तत् टीकाकारेण समाहितं। औदारिकशरीरत्वात् उपचारतः इदमुक्तं द्रष्टव्यं न तु तत्त्ववृत्त्येति। यदि पुन शक्तिविशेष स्यात् ततो देवानां नैरयिकाणां संहननमुच्येत। अथ च ते सूत्रे साक्षादसंहनिन उक्ता इत्यलं उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु।"

श्रीमलयगिरि के 'उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु' शब्द पर स्व० श्री सागरानन्दसूरि ने साढे तीन पृष्ठ की टिप्पणी लिखकर और श्री प्रेमविजयजी (वर्तमान विजयप्रेमसूरि) ने सार्धशतक की प्रस्तावना में इसी विषय पर ढाई पृष्ठ लिख कर जो गाली-गलोच[1] किया है वह सर्वविदित है। यद्यपि यहाँ 'ईंट का जवाब पत्थर' से देने का विचार कदापि नहीं, परन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए न केवल आचार्य मलयगिरि आदि के आक्षेपों की परीक्षा करना आवश्यक है, अपितु उससे भी पूर्व जिनवल्लभगणि के उस कथन का भी स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है जो इन आक्षेपों का लक्ष्य है।

श्री जिनवल्लभसूरि ने जो शक्तिविशेष को संहनन माना है वह शास्त्रसम्मत है या नहीं? इसका निर्णय करने के लिए यह अधिक अच्छा होगा कि यहां पर यह देख लिया जाय कि अन्य मान्य आचार्यों ने क्या कहा है। श्री जिनवल्लभसूरि और श्री मलयगिरि के पूर्ववर्ती आचार्य आप्तव्याख्याकार श्रीहरिभद्रसूरि ने आवश्यक सूत्र की बृहद्वृत्ति (आगमोदय समिति, सूरत से प्रकाशित पृष्ठ ३३७ १) में लिखा है —

"इह च इत्थंभूतास्थिसञ्चयोपमित शक्तिविशेष. संहनन उच्यते, न तु अस्थिसञ्चय एव, देवानामस्थिरहितानामपि प्रथमसंहननयुक्तत्वात्।"

अर्थात् इस प्रकार अस्थिसंचय से युक्त शक्तिविशेष को संहनन कहते हैं, केवल अस्थिसचय को नहीं, क्योंकि देवताओं को अस्थि रहित होने पर भी प्रथम सहनन (वज्रर्षभनाराच)[2] युक्त होने वाला कहा गया है।

१ अपरिणतभगवत्सिद्धान्तसारो वावदूक सिद्धान्तबाहुल्यमात्मन. ख्यापयन्नेव प्रललाप। कुमार्गिमृग-सिंहनादीय वचनम्।

२ जैन साहित्य में सहनन छह प्रकार के माने गये हैं (१) वज्रऋषभनाराच, (२) वज्रनाराच, (३) नाराच, (४) अर्धनाराच, (५) कीलित, (६) सेवार्त।

इसी प्रकार सर्वगच्छमान्य नवाङ्ग-टीकाकार श्री अभयदेवसूरि स्वप्रणीत स्थानांगसूत्र की टीका (आगमोदय समिति सूरत से प्रकाशित पृष्ठ ३५७ १) मे लिखते है:

"संहननं अस्थिसञ्चयः वक्ष्यमाणोपमानोपमेयः, शक्तिविशेष इत्यन्ये।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य हरिभद्र और आचार्य अभयदेव दोनो ही शक्तिविशेष को किसी न किसी रूप मे 'संहनन' का तत्त्व स्वीकार करते हैं।

और देखिये, इसी सार्द्धशतक प्रकरण के टीकाकार चन्द्रकुलीय श्री धनेश्वरसूरि (जिनका सत्ताकाल आचार्य मलयगिरि से पूर्व है) भी इस पद्य की टीका करते हुए इसी मत को पुष्ट करते हैं:—

"सूत्रे—आगमे शक्तिविशेषः संहननमुच्यते! कोऽभिप्रायः? वज्रर्षभनाराचादिशब्दस्य संहननाभिधायकस्य शक्तिविशेषाभिधायकतया व्याख्यातत्वात् शक्तिविशेष संहननमागमे प्रोच्यते। ईदृशं च संहननं देवनारकयोरप्यभ्युपगत एव तेन देवा वज्रर्षभनाराचसंहनिनो नारकाः सेवार्तसंहनिन इत्यागमाभिप्रायतो बोद्धव्यम्।[1]

और इसी शक्तिविशेष संहनन-परंपरा को कर्मग्रन्थकार प्रसिद्ध आचार्य देवेन्द्रसूरि ने भी अपने शतक[2] नामक ग्रन्थ मे स्वीकार किया है। ऐसी अवस्था मे उपरि उल्लिखित शास्त्रीय प्रमाणो से यह तो स्पष्ट है कि शक्तिविशेषरूप संहनन की मान्यता व्यापक है, यह केवल जिनवल्लभ की अपनी प्ररूपणा नही।

इस प्रकार इन आचार्यों के मतों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्तिविशेष को भी संहनन माना जाता था। अतएव यदि शक्तिविशेष को संहनन मानना उत्सूत्र प्ररूपणा कही जाय तो उक्त मान्य आचार्यों को भी उत्सूत्र-प्ररूपक होने का लाछन लगाया जा सकता है। परन्तु इन आचार्यों को उत्सूत्र-प्ररूपक कहने का साहस न तो आ० मलयगिरि को ही था और न उनके चरण-चिह्नों पर चलकर जिनवल्लभ को कोसने वाले आधुनिक आचार्यो को ही है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है जो बडी दुविधा मे डालने वाली है। आचार्य मलयगिरि एक तरफ तो स्वप्रणीत जिनवल्लभीय 'आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरण' की टीका करते हुए अवतरणिका मे "न चार्य आचार्यो न शिष्ट इति[3]" कहकर जिनवल्लभसूरि की गणना शिष्ट-आचार्यों की कोटि मे करते हैं और दूसरी तरफ प्रज्ञापनासूत्र की टीका मे जैसा कि प्रारम्भ मे कह चुके है, उन्हे उत्सूत्र-प्ररूपक कहते हैं। ऐसे आप्त-टीकाकार आचार्य के वचनो मे विरोध क्यों? प्रमाणो के अभाव मे इस प्रश्न का कोई युक्तियुक्त उत्तर तो यहा

१ जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित पृष्ठ १४

२ "यत्तु देवेन्द्रनतपादपङ्कजैः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिपादैः स्वोपज्ञशतकवृत्तौ एवमेवोक्तं तदप्येतद् ग्रन्थानुसारेणानुमीयते।"

(प्रेमविजयजी लिखित सार्धशतक प्रस्तावना पृष्ठ ३)

३ 'इह हि शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमानाः सन्त इष्टदेवतास्तवाभिधानपुरस्सरमेव प्रवर्तन्ते, न चाय आचार्यो न शिष्ट इति।' (षडशीति टीका, आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित-पृष्ठ १)

नही दिया जा सकता, परन्तु यह विषय विद्वद्चिन्त्य अवश्य है। अत अन्ततोगत्वा किन कारणो के वशीभूत होकर श्रीमलयगिरि को इन शब्दो का प्रयोग करना पडा, निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

विद्वानो के लिये इतना ही विचारणीय और दुविधाजनक प्रश्न यह भी है कि आचार्य मलयगिरि ने जिनवल्लभसूरि के "सुत्ते सत्तिविसेसो" के स्थान पर "सुत्ते सत्तिविसेस एव" कैसे पढ लिया ? दूसरा यह भी पता नही चलता कि आचार्य मलयगिरि ने अपने वक्तव्य मे 'मूलटीकाकारेणापि' शब्द का प्रयोग किस टीकाकार के लिये किया है ? यदि हम मूलटीकाकार शब्द से प्रज्ञापना, जीवाभिगम आदि सूत्रो के टीकाकार आचार्य हरिभद्र को ग्रहण करते हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आचार्य मलयगिरि ने हारिभद्रीय आवश्यक टीका का अवलोकन नही किया था ? जिसमे कि जिनवल्लभगणि के मत का स्पष्ट समर्थन प्राप्त होता है ! यदि किया होता तो, वे स्वयं एकपक्षीय सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने वक्तव्यो मे कैसे करते ? और यदि हम मूलटीकाकार शब्द से सार्द्धशतक टीकाकार आचार्य धनेश्वर का ग्रहण करते हैं तो, इस टीका मे भी कही पर 'एव' का प्रयोग न होने पर भी आचार्य ने किस आधार से 'एव' का प्रयोग किया? चिन्त्य है। आचार्य मलयगिरि एक सुविज्ञ और श्रद्धास्पद व्याख्याकार है, अत यह कहना भूल होगा कि उन्होने अज्ञानवश, भ्रमवश या ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित होकर यह सब लिख दिया। अत यह प्रश्न भी ज्यो का त्यो रह जाता है जिसका समुचित उत्तर प्रमाणाभाव से नही दिया जा सकता।

साथ ही मलयगिरि के ये शब्द "उपचारत इदमुक्तं न तु तत्त्ववृष्ट्या" युक्तियुक्त नही कहे जा सकते, क्योकि आचार्य जिनवल्लभ स्वयं उपचार से ही शक्तिविशेष को संहनन स्वीकार करते हैं निश्चय से नही। यदि उन्हे औपचारिक प्रयोग इष्ट न होता तो वे 'सत्तिविसेसो संघयणं' न कह कर 'सुत्ते सत्तिविसेसव्विय संघयण' कहते या 'एवकार' का प्रयोग करते, अधिक इष्ट रहता, किन्तु ऐसा नही है।

अस्तु आचार्य मलयगिरि की टीकाओ मे पाये जाने वाले विरोधाभास और विप्रतिपत्ति के विषय मे मौन धारण कर लेने पर भी जिनवल्लभगणि के आलोचको सागरानन्दसूरि और विजयप्रेमसूरि के कथन को साम्प्रदायिक द्वेषभाव से प्रेरित हुआ मानने के अतिरिक्त कोई चारा नही दीखता। आश्चर्य होता है कि उत्कृष्ट संयम, वीतरागता और सत्य तथा अहिंसा का व्रत लेने के पश्चात् भी इन सज्जनो ने मलयगिरि की टीकाओ मे पाये जाने वाले विरोधाभास पर कैसे आखे मूँद ली और कैसे निकले उनके मुख से जिनवल्लभगणि के लिये वे शब्द, जिनको कि किसी प्रकार भी सज्जन-मुखमडन नही कहा जा सकता।

पिण्डविशुद्धिकार

एक और विवादग्रस्त प्रश्न है पिण्डविशुद्धि प्रकरण के कर्तृत्व का। पिण्डविशुद्धि प्रकरण जैसा कि आगे बतलाया गया है, जिनवल्लभगणि के उन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे से है जो गच्छ विशेष की सीमा को लाघकर सर्वमान्य हो चुके हैं और जिन पर विभिन्न गच्छीय आचार्यों ने टीका लिखकर इन्हे गौरवान्वित किया है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और महत्ता

इसी से प्रकट है कि लेखक की मृत्यु के ११ वर्ष पश्चात् ही इस पर टीकायें लिखी जानी प्रारंभ हुई और यह क्रम १२वीं से लेकर १७वीं शताब्दि तक बराबर चलता रहा। परन्तु दुःख है कि साम्प्रदायिक भेद-भाव से प्रेरित होकर कुछ विद्वानों के अहंकार को यह सहन नहीं हुआ कि किसी इतरगच्छीय लेखक की कृति को इतना सन्मान क्यों मिले? इसीलिये १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में उपाध्याय सोमविजयजी गणि अपने "सेनप्रश्न" में जिनवल्लभ को इसलिये इस ग्रन्थ का कर्त्ता नहीं मानते कि उनके पौषधविधिप्रकरण में पौषध के प्रसंग में भोजन का तथा कल्याणक स्तोत्र में महावीरप्रभु के पांच कल्याणकों का ही उल्लेख मिलता है जो कि खरतरगच्छीय मान्यताओं के विरुद्ध होने से जिनवल्लभगणि द्वारा नहीं लिखी जा सकती थी –

"पिण्डविशुद्धिविधाता जिनवल्लभगणि खरतरोऽन्यो वा? इतिप्रश्न, अत्रोत्तरम्— जिनवल्लभगणे खरतरगच्छसम्बन्धित्वं न संभाव्यते, यतस्तत्कृते पौषधविधिप्रकरणे श्राद्धानां पौषधमध्ये जेमनाक्षरदर्शनात्, कल्याणकस्तोत्रे च श्रीवीरस्य पञ्चकल्याणकप्रतिपादनाच्च तस्य सामाचारी भिन्ना, खरतराणां च भिन्नेति।"

परन्तु जैसा कि इसी पर टिप्पणी करते हुए पं० लालचन्द्र भगवान् गांधी ने अपभ्रंश-काव्यत्रयी की प्रस्तावना में लिखा है, "सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह आक्षेप समीचीन प्रतीत नहीं होता।[1] और जैसा कि अन्यत्र[2] बतलाया जा चुका है, क्योंकि उनके प्रकृत सन्दर्भों को देखने से उक्त दोनों आक्षेप निराधार प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त सुमतिगणि जहां गणधरसार्धशतक की वृत्ति में[3] जिनवल्लभगणि के अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ पिण्डविशुद्धि को भी समग्र गच्छादृत कहते हैं वहीं धनेश्वराचार्य सार्द्धशतक की टीका में 'अभयदेवसूरिशिष्येण मतिमता जिनवल्लभेन' लिखकर यह प्रमाणित करते हैं कि सुमति गणि का लिखना पूर्ण सत्य है, गच्छ ममत्व से मृषा अत्युक्ति नहीं, तो फिर भ्रम या प्रश्न का अवकाश ही कहां?

पिण्डविशुद्धिदीपिकाकार आचार्य उदयसिंहसूरि (र०सं० १२९५) जैसे भिन्न-गच्छीय प्रौढ-विद्वान् भी पिण्डविशुद्धि के प्रणेता का 'सुविहितसूत्रधार' विशेषण लगाते हैं जो निश्चित रूप से खरतरगच्छीय जिनवल्लभसूरि से ही सम्बन्धित है, क्योंकि सुविहित-पथ-प्रकाशक या विधिमार्गप्ररूपक विशेषण धर्मसागरजी भी प्रवचन-परीक्षा में खरतरगच्छीय जिनवल्लभ के लिये ही स्वीकार करते हैं। अतः प्रकरणकार वे ही हैं यह भलीभांति सिद्ध होता है:

'सुविहितविधिसूत्रधारः स जयति जिनवल्लभो गणिर्येन।
पिण्डविशुद्धिप्रकरणमकारि चारित्रनृपभवनम्।"

× × × ×

जगडु कवि (१२७८–१३३१) स्वप्रणीत सम्यक्त्वमाई चउपई में (जब ४२ दोष रहित शुद्ध-

१. "किन्तु एतद् सुदीर्घदृष्ट्या चिन्तने न समीचीनं प्रतिभाति" अपभ्रंश काव्यत्रयी प्रस्तावना पृ० २९
२. देखें, षट्कल्याणक और पौषधविधि सारांश
३. "समग्रगच्छादृत सूक्ष्मार्थसिद्धान्तविचारसार-षडशीति-सार्द्धशतकाख्यकर्मग्रन्थ-पिण्डविशुद्धि ... "

पिण्ड का उपदेश करने वाले जिनवल्लभ की याद करते हैं तो वस्तुतः उनका लक्ष्य पिण्ड-विशुद्धि ग्रन्थ ही मानना पडेगा) लिखते है —

"धन्नु सु जिणवल्लह वक्खाणि नाणरयण केरी छइ खाणि ।
बइतालीस सुद्ध पिण्डु विहरेइ त्रिविधु मदिरु जग प्रगट करेई ।"

× × × ×

खरतरगच्छीय युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के शिष्य श्री नेमिचन्द्र भंडारी प्रणीत षष्टिशतक प्रकरण के ऊपर तपागच्छीय सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीसोमसुन्दरसूरि ने बालावबोध की सं० १४९६ में[1] रचना की है[2], उसकी प्रारम्भिक अवतरणिका मे वे लिखते हैं .—

"नेमिचन्द्र भंडारी पहिलउं तिस्यउ धर्म न जाणतउ । पछइ श्री जिनवल्लभसूरिना गुण सांभलि अनइ तेहना कीधा पिण्डविशुद्धि प्रमुख ग्रन्थनइ परिचइ साचउ धर्म जाणिउ ।"

इसी प्रकार इसी ग्रन्थ के १२९वे पद्य का बालावबोध करते हुए आचार्य लिखते हैं

"दिट्ठा० केतलाइ गुरु साक्षात् दीठाइ हुंता तत्त्वना जाणनइ मनि रमइ नही हीयइ हर्ष न करइ । केवि० अनइ केतलाइ पुण गुरु अणदीठाइ हुता हीइ रमइ वसइं तेहना गुण साभलि नइ हीइ हर्ष उपजइ । जिम श्रीजिनवल्लभसूरि । ते जिनवल्लभसूरि नेमिचन्द्र भंडारी थी पहिला हुआ भणी अदृष्टइ हुता पण नेमिचन्द्र भंडारी नइ मनि तेहना कीधा पिण्डविशुद्धि आदिक प्रकरण देखता वस्या । इसिउ भाव ।"

आगे चलकर ग्रन्थकार की महत्ता दिखाते हुए पद्य १५३ की व्याख्या मे फिर कहा गया है—

सापइ० हिवडां प्रभु श्री जिनवल्लभसूरिनइ वचनिइ जा धर्मनी खरी विधि अनइ साचा विवेकनउं जाणिवउं न उल्लसइं न ऊपजइ ता निविड० ते निविडमोह अजाणिवउं अनइ मिथ्यात्वनी ग्रन्थि तेहनउं गाढउ माहात्म्य गाढउ महिमा । ते गाढा अजाण अनइ गाढा मिथ्यात्वी कहीइं ।'

× × × ×

सं० १४९७ मे प्रतिष्ठित जैसलमेर सम्भवनाथ जिनालय के प्रशस्ति शिलालेख मे तो स्पष्ट ही लिखा है कि नवागवृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि-शिष्य जिनवल्लभगणि पिण्डविशुद्धि प्रकरण के कर्ता थे —

"ततः क्रमेण श्रीजिनचन्द्रसूरि– नवाङ्गीवृत्तिकार– श्रीस्तम्भनपार्श्वनाथप्रकटीकार श्रीअभयदेवसूरिशिष्य श्रीपिण्डविशुद्धयादिप्रकरणकारश्रीजिनवल्लभसूरि ....।"

× × × ×

१ क्ष्माखण्डामृतकुण्डविष्टपमिते सवत्सरे श्रीतपागच्छेन्द्रैर्गुरुसोमसुन्दरवरैराचार्यधुर्यैरियम् ।
वार्ताभिर्विहिता हिताय कृतिना सम्यक्त्ववीजे सुधा-वृष्टि षष्टिशताह्वयप्रकरणव्याख्या चिर नन्दतु ॥"

२ यह षष्टिशतक प्रकरण त्रण बालावबोध सहित महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय बडोदरा तरफ से प्रकाशित हो चुका है।

राजगच्छपट्टावली (विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह, संपा० आचार्य जिनविजय पृ० ६४) मे लिखा है –

"श्रीउद्योतनसूरयस्तदन्वये श्रीअभयदेवसूरय, × × × × × ×
तच्छिष्याः "पिण्डविशुद्धयादिप्रकरणकारकाः श्रीजिनवल्लभसूरय।"

इतने पर भी यदि यह मान ले कि खरतरगच्छीय जिनवल्लभगणि पिण्डविशुद्धि के कर्त्ता नही हैं अपितु कोई और है तो फिर वे कौन थे? किस गच्छ के थे? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका समाधान करने के लिये किसी भी प्रकार का कोई प्रमाण नही मिलता है। तत्कालीन तीन चार शताब्दियो मे खरतर० गणि जिनवल्लभ के अतिरिक्त किसी भी ऐसे व्यक्ति की उपलब्धि जैन साहित्य के इतिहास मे नही होती है जो पिण्डविशुद्धिकार हो सके। खरतरगच्छीय गुरु-परम्पराओ के अतिरिक्त इनके सम्बन्ध मे अन्यत्र कोई उल्लेख भी नही मिलता। अत यह सिद्ध है कि पिण्डविशुद्धिकार जिनवल्लभगणि कोई पृथक् आचार्य नही है किन्तु अभयदेवाचार्य के शिष्य खरतरगच्छीय ही है।

अध्याय : ४

ग्रन्थों का परिचय तथा वैशिष्ट्य

ग्रन्थ - रचना

गणिवरजी १२वी शती के सुप्रसिद्ध उद्भट विद्वानों मे से एक थे। इनका अलङ्कार-शास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, नाट्यशास्त्र, कामतन्त्र और सैद्धान्तिक विषयो पर एकाधिपत्य था। इन्होने अपने जीवनकाल मे विविध विषयों पर सैकडो ग्रन्थों की रचना की थी जिसका उल्लेख सुमतिगणि गणधरसार्द्धशतक की वृत्ति मे इस प्रकार करते हैं

'परमद्यापि भगवतामवदातचरितनिधीना श्रीमरुकोट्टसप्तवषप्रमितकृतनिवासपरिशीलितसमस्तागमाना समग्रगच्छादतसूक्ष्मार्थसिद्धान्तविचारसार-षडशीति-सार्द्धशतकाख्य-कर्मग्रन्थ-पिण्डविशुद्धि-पौषधविधि-प्रतिक्रमणसामाचारी-सङ्घपट्टक-धर्मशिक्षा-द्वादशकुलक-रूपप्रकरण- प्रश्नोत्तरशतक- शृङ्गारशतक- नानाप्रकारविचित्रचित्रकाव्य - शतसङ्ख्यस्तुति-स्तोत्रादिरूपकीर्त्तिपताका सकलं महीमण्डलं मण्डयन्ती विद्वज्जनमनांसि प्रमोदयति।"

किन्तु दैव-दुर्विपाक से बहुत से अमूल्य ग्रन्थ नष्ट हो गये और इस कारण से इस समय ४४ रचनाएँ ही प्राप्त हैं एव अन्य के केवल नामोलेख ही मिलते है। उपलब्ध ग्रन्थो की तालिका निम्ननिखित है:—

	ग्रन्थ नाम	विषय	भाषा	गाथा अथवा पद्य संख्या
१	सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार (सार्द्धशतक) प्रकरण	कर्म-सिद्धान्त	प्राकृत	१५२
२	आगमिकवस्तुविचारसार (षडशीति) प्रकरण	"	"	८६
३	पिण्डविशुद्धि प्रकरण	आचार	"	१०३
४.	सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव	कर्म-सिद्धान्त	"	८
५.	श्रावकव्रत कुलक	आचार	"	२८

मे कुछ प्रकृतिये पुद्गल-विपाकी, जीवविपाकी भावविपाकी और क्षेत्रविपाकी है, उसका कारण सहित इसमे उल्लेख है। पद्य ६४ से ७७ मे मूल कर्मप्रकृतियें और उत्तर कर्म-प्रकृतियो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रिरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा वतलाई गई है। पद्य ७८ से ८४ मे कर्मवन्ध होकर जब तक फलादेश शुरु नही होता–तव तक के समय को अवाधाकाल कहते है, इसका वर्णन ग्रन्थकार ने अच्छी तरह किया है। पचेन्द्रिय जीवो मे कर्म-स्थिति का अल्प-वहुत्व और जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति वन्ध के स्वामी, स्थिति का शुभाशुभत्व और उसके कारण का संक्षिप्त वणन है। पद्य ८५ से ८९ मे योग का स्थितिस्थान, योगवृद्धि, योगोदाहरण का स्वरूप-वर्णन है। पद्य ९० से १०१ मे शुभाशुभ रस वध मे क्या कारण है इसका और प्रकृतियो का स्वरूप, प्रदेश-वंध का स्वरूप तथा वर्गणा स्वरूप का वर्णन है। कर्मो और सर्वघाती प्रकृतियो का आश्रय कर प्रदेशविभाग का वर्णन किया गया है। पद्य १११ से ११३ मे योग, प्रकृति प्रदेश स्थितिवन्धाध्यवसाय, स्थितिस्थान, अनुभागवन्धाध्यवसाय अनुभाग और अनुभागस्थान तथा इनके अल्प-वहुत्व का वर्णन है। गोत्र और काल की सूक्ष्मता तथा स्थूलता भी वतलाई गई है। पद्य ११४ मे श्रेणीप्रतर, घन और लोक का प्रतिपादन किया गया है। ११५ से ११७ मे प्रकृति और स्थिति तथा इनके अध्यवसाय और अनुभागवन्धाध्यवसायो के असंख्यपन का वर्णन किया गया है। ११८ से १२२ मे कषायो के उदय मे अशुभ और शुभ, शुभ और अशुभलेश्याओ से अनुभागस्थानो के अल्पवहुत्व का वर्णन है। १२३ से १५१ मे सख्यात, असख्यात और अनतभेदो का स्वरूप कथन है तथा सख्यात, परितासख्यात, युक्तसख्यात, असख्यात, परितानत, युक्तानत और अनतानत के जघन्य, मध्यम एव उत्कृट के भेदो का कथन है। पद्य १५२ मे कवि ने स्वनाम सहित उपसहार किया है।

१५२ आर्याओ मे विवेचनीय अत्यधिक वस्तुओ का अति सक्षेप होने के कारण इसका प्रचार वहुत ही हुआ प्रतीत होता है। यही कारण है कि आज भी भडारो मे इसकी सैकडों की सख्या में प्रतिये प्राप्त है - और इस पर विवेचन ग्रन्थो का तो कहना ही क्या ?[1]

आगमिकवस्तुविचारसार-प्रकरण

इस ग्रन्थ मे कवि ने पूर्वापि प्रणीत आगमिक जीव, मार्गणा, गुणस्थान, उपयोग और लेश्या आदि विषो का विवेचन होने से इसका यथानुरूप आगमिकवस्तुविचारसार नामकरण किया है। इसका एक अपरनाम भी है, वह है 'षडशीति'। इस नामकरण का रहस्य यह है कि उपर्युक्त समग्र वस्तुओ का विवेचन केवल ८६ आर्याओ मे हो हुआ है। इसीलिये इस वृहन्नाम का लघु सस्करण हुआ है, जो विशेष प्रसिद्ध है। कवि की उक्तिलाघवता और छन्दयोजना के सम्वन्ध में तो यहाँ लिखना व्यर्थ हो है, क्योंकि इस विषय पर अन्यत्र हमने प्रकाश डाल दिया है। इसमे आदि से अन्त तक आर्यानामक वृत्त का ही अनुकरण हुआ है।

इसमे कवि प्रथम पद्य मे भगवान पार्श्वनाथ को नमस्कार कर, द्वितीय पद्य मे अपनी लघुता प्रदर्शित करता हुआ वक्ष्यमाण वस्तुओ का उल्लेख करता है। तृतीय पद्य मे

१ देखिये—टीकाग्रन्थ और टीकाकार

वर्ण्य जीवस्थान की १४ सख्याओ का निर्देश करता हुआ पद्य ४ से ११ तक जीवस्थानो मे गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, कर्मबन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का स्वरूप विस्तार से प्रगट करता है। पद्य १२ मे मार्गणा के गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञि और आहार इन १४ स्थानो-सख्याओ का निर्देश करता हुआ (१३–१७) तक अवान्तर भेदो का दिग्दर्शन कराता है और (१८ से ६४ तक) उपर्युक्त मार्गणा के १४ स्थानो मे प्रत्येक का जीवस्थानक, गुणस्थानक, योग, उपयोग लेश्या और अल्पबहुत्व का विवेचनीय स्वरूप दिखाता है। पद्य ६५ मे १४ गुणस्थानो का नाम निर्देश किया गया है। तदनन्तर (पद्य ६६ से ८५ तक) गुणस्थानक – मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र, अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशविरति, प्रमतसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय उपशान्तिकषाय, क्षीणकषाय, सयोगिकेवलि और अयोगि केवलि के प्रत्येक का जीव-स्थानक, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता और अल्पबहुत्व इस प्रकार १० वस्तुओ के साथ सम्बन्ध दिखाता हुआ प्रशस्य स्वरूप प्रकट करता है और अन्तिम पद्य ८६ मे उपसहार करता हुआ अपना नाम प्रकट करता है।

इस लघु-कायिक ग्रन्थ की उपयोगिता इतनी अधिक सिद्ध हुई कि समग्र गच्छवालो ने इसे आदृत किया। केवल आदृत ही नही किन्तु पठन-पाठन कर महत्ता सिद्ध की। यही कारण है कि आज भी इसकी सैकडो की संख्या मे लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं जो इसके प्रचार को प्रकट करती है। इसी षडशीति के अनुकरण पर तपागच्छीय श्री देवेन्द्रसूरि ने षडशीति नामक चतुर्थ कर्मग्रन्थ की रचना की है।

३. पिण्डविशुद्धि प्रकरण

आत्म साधना की दृष्टि से पिण्ड-भोजन की शुद्धि होना अत्यावश्यक है, अन्यथा जैसा 'खावे अन्न वैसा होवे मन्न' की उक्ति के अनुसार मानसिक शुद्धि नही हो सकती। इसी-लिये श्रमण-सस्कृति एव श्रमण परम्परा मे सयमी मुनियो के लिये शुद्ध अन्न का ग्रहण परमाव-श्यक समझा गया है। पूव मे श्रुतधर श्रीशय्यभवसूरि ने दसवैकालिक सूत्र मे और आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने पिण्डनिर्युक्ति मे इस विषय का बहुत ही विस्तृत और सुन्दर प्रतिपादन किया है। परन्तु वह विस्तृत होने के कारण कठस्थ करने मे अल्पबुद्धिवालो की असमर्थता देखकर आचार्य जिनवल्लभ ने पिण्डविशुद्धि नाम से इस प्रकरण की रचना की।

इस प्रकरण मे कुल १०३ पद्य है। १–१०२ तक आर्याछन्द मे हैं और अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित वृत्त मे। इसमे ग्रन्थकार ने प्रथम और द्वितीय पद्य मे नमस्कार और प्रयोजन कथन कर, ३, ४ पद्य मे गृहस्थाश्रित उत्पादन के १६ दोषो का नामोल्लेख मात्र किया है और गाथा ५ से ५७ तक मे इनका विस्तृत विवेचन किया है। गाथा ५८–५९ मे साधु आश्रित उद्गम के १६ दोषो का नामोल्लेख है और ६०–७६ तक इनका विस्तृत विवेचन है। इस प्रकार कुल गवेषणा और एषणा के मिलाकर ३२ दोषो का वर्णन यहाँ पूरा होता है। तदनन्तर ग्रहणैषणा के १० दोषो का ७७वे पद्य मे उल्लेखकर, ७८–९३ तक उनका विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् ९३वे पद्य मे भक्षण-ग्रासैषणा के पाच दोषो का उल्लेख और गाथा १०१ तक उनका विवेचन है। १०२वें पद्य मे शुद्धि का निर्जरा फल और अन्तिम

	ग्रन्थ नाम	विषय	भाषा	गाथा अथवा पद्य संख्या
६	पौषधविधि प्रकरण	विधि	प्राकृत	
७	प्रतिक्रमण समाचारी	विधि	,,	४०
८	द्वादश कुलक	औपदेशिक	,,	२३३
९	धर्मशिक्षा प्रकरण	,,	संस्कृत	४०
१०.	सङ्घपट्टक	आचार-विधान	,,	४०
११.	स्वप्नसप्ततिका	स्वप्न शास्त्र	प्राकृत	७१
१२.	अष्टसप्तति अपरनाम चित्रकूटीय-वीर-चैत्य-प्रशस्ति	प्रशस्तिकाव्य	संस्कृत	७८
१३	प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं	काव्य	,,	१६१
१४	शृङ्गारशतक	,,	,,	१२१
१५	आदिनाथ चरित्र	चरित्र	प्राकृत	२५
१६	शान्तिनाथ चरित्र	,,	,	३३
१७.	नेमिनाथ चरित्र	,,	,,	१५
१८.	पार्श्वनाथ चरित्र	,,	,,	१५
१९.	महावीर चरित्र	,,	,,	४४
२०.	वीर चरित्र (जय भववण०)	,,	,,	१५
२१.	चतुर्विंशति जिन स्तोत्राणि (भीमभव०)	स्तोत्र	,,	१४५
२२	चतुर्विंशति जिन स्तुति (मरुदेवि नाभितणय०)	स्तुति	,,	९६
२३.	पञ्च कल्याणक स्तव (सम्मं नमिऊण०)	स्तोत्र	,,	२६
२४.	सर्वजिन पञ्च कल्याणक स्तव (पणय सुर०)	,,	,,	८
२५	प्रथम जिन स्तव (सयल भुवणिक्क०)	,,	अपभ्रंश	३३
२६.	लघु अजित शान्ति स्तव (उल्लासिक्कम०)	,,	प्राकृत	१७
२७	स्तम्भन पार्श्वजिन स्तोत्र (सिरि भवण०)	,,	,,	११
२८	क्षुद्रोपद्रवहरपार्श्वजिन स्तोत्र (नमिर सुरासुर०)	,,	,,	२२
२९	महावीर विज्ञप्तिका (सुरनरवर०)	,,	,,	१२
३०	महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञविज्ञप्तिका (लोयालोय०)	,,	,,	३७
३१.	नन्दीश्वर चैत्य स्तव (वंदिय नंदिय०)	,,	,,	२५
३२	भावारिवारण स्तोत्र (भावारिवारण०)	,,	समसंस्कृत प्राकृत	३०
३३	पञ्चकल्याणक स्तोत्र (प्रीतद्वात्रिंश०)	,,	संस्कृत	१३
३४	कल्याणक स्तव (पुरन्दर पुर०)	,,	,,	८
३५.	सर्वजिन स्तोत्र (प्रीतिप्रसन्न०)	,,	,,	२३
३६.	पार्श्वजिन स्तोत्र (नमस्यद्गीर्वाण०)	,,	,,	३३
३७	,, (पावात्पार्श्व०)	,,	,,	९

ग्रन्थ नाम	विषय	भाषा	गाथा अथवा पद्य सख्या
३८. पार्श्व जिन स्तोत्र (देवाधीश०)	स्तोत्र	संस्कृत	१०
३९ ,, (समुद्यन्तो०)	,,	,,	२४
४० ,, (विनयविनमद्०)	,,	,,	१७
४१ ,, चित्रकाव्यात्मक (शक्तिशूलेपु०)	,,	,,	१०
४२ ,, चक्राष्टक (चक्रे यस्य नति)	,,	,,	८
४३ सरस्वती स्तोत्र (सरभसलसद्०)	,	,,	२५
४४ नवकार स्तव (किं किं कप्पतरु०)	,,	अपभ्रंश	१३

अनुपलब्ध ग्रन्थ—१ आगमोद्धार[1] तथा २ प्रचुरप्रशस्ति[2]

उक्त समस्त ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

१-सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-प्रकरण

इस ग्रन्थ मे कर्मप्रकृति, पंचसग्रह आदि कर्म-सिद्धान्त के विविध ग्रन्थो का आलोडन कर नवनीत की तरह संक्षेप मे कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, इसीलिये कवि ने इसका नाम सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-प्रकरण रखा है। इसका अपरनाम सार्द्ध शतक प्रकरण है जो इसकी ५२ पद्य-संख्या का सूचक है। इस लघुकायिक ग्रन्थ मे कर्म-प्रकृति के सिद्धान्त, मूल-उत्तरभेद, प्रकृति भेद, बन्ध, अल्पबहुत्व, स्थिति, योग, रस, उदय और गुणस्थान आदि का वैशिष्ट्य पूर्ण प्रतिपादन होने से सारोद्धार नाम सार्थक ही है जो कवि के सैद्धान्तिक ज्ञान की अगाधता और उक्ति-लाघव की ओर संकेत करता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि कर्मजेतृ महावीर को नमस्कार कर कर्मादि विचारो का सक्षेप मे वर्णन करूंगा—प्रतिज्ञा करता है। पद्य २ से २२ तक कर्म बन्ध के मूल कारण—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अतराय, मोहनीय, आयु गोत्र, वेदनीय और नाम कर्म का उल्लेख कर, प्रत्येक कर्म के भेद जो कुल १५८ होते हैं और उनका प्रकृति, स्थिति रस तथा प्रदेश से सम्बन्ध दिखाया है। पद्य २३ से ४० मे पचेन्द्रिय जीवो मे जिन प्रकृतियो का बन्ध नही होता उन प्रकृतियो को गिनाया है। कर्म प्रकृतियो मे कुछ प्रकृतियें ध्रुवोदय हैं और कुछ अध्रुवोदय हैं। ध्रुव और अध्रुव सत्तावाली कर्म-प्रकृतिया कौन-कौनसी है? यह गुणस्थानो की अपेक्षा बतलाया गया है। पद्य ४१ से ४८ मे घाती और अघाती प्रकृतिया अपने प्रतिपक्ष सहित बतलाई गई हैं और इन प्रकृतियो के कारण का उल्लेख भी किया गया है। कर्मप्रकृतियो मे कुछ प्रकृतिया शुभ हैं, कुछ अशुभ है और कुछ प्रकृतिया अपरावर्तमान भी है। पद्य ४९ से ६३

१. चर्चरी टीका पृष्ठ १९। श्री अगरचंदजी नाहटा की सूचनानुसार स्वप्नसप्ततिका और आगमोद्धार एक ही ग्रन्थ है।

२. चर्चरी टीका पृष्ठ १९।

पद्य मे ग्रन्थकार का नामोल्लेख है। इस प्रकार भोजन-शुद्धि के ४७ दोषो का अनेको भांगो सहित विवेचन १०३ श्लोक के छोटे से प्रकरण मे, वह भी आर्या जैसे लघु मात्रिक छन्द मे ग्रथित करना गणिजी का उक्तिलाघव और छन्दयोजना का चातुर्य प्रकट करता है।

उक्त प्रकरण मे प्रतिपादित ४७ दोष निम्नलिखित हैं; जिनमे गवेषणा के १६, एषणा १६, ग्रहणैषणा के १० और ग्रासैषणा के पाच, इस प्रकार कुल ४७ होते हैं। जिनमे गृहस्थाश्रित १६ गवेषणा के दोष इस प्रकार है:

१ आधाकर्म—साधु के निमित्त निष्पादित आहार आधा कर्म कहलाता है।
२ औद्देशिक— जिसका उद्देश करके बनाया गया हो वह औद्देशिक कहलाता है।
३ पूतिकर्म—पवित्र आहार मे आधा-कर्म आहार का एक भी कण मिल जाय तो वह पूतिकर्म कहलाता है।
४ मिश्रजात जो आहार साधु तथा अपने लिये सामिल बनाया गया हो।
५ स्थापना साधु के निमित्त रक्षित आहार जो दूसरो को नही दिया जाता।
६. प्राभृतिका—साधु के लिये अतिथि को आगे पीछे करना।
७. प्रादुष्करण—अन्धकारमय स्थान मे प्रकाश करके साधु को देना।
८. क्रीत—साधु के लिये वस्त्र, पात्र आदि वस्तुओ को खरीदना।
९. अपमित्य—साधु के लिये भोजन आदि उधार लाकर देना।
१० परिवर्तित—साधु को देने के लिये अपनी वस्तु का दूसरो से परिवर्तन कर, लाकर देना।
११ अभिहृत साधु के सामने जाकर आहारादि दान देना।
१२. उद्भिन्न वर्तन के मुख पर लगे हुए लेप को छुडाकर, उसमे से भोजनादि निकाल कर साधु को देना।
१३ मालापहृत—पीढा या सीढी लगाकर ऊपर नीचे अथवा तिरछी रखी हुई वस्तु को निकाल कर साधु को देना।
१४. आच्छेद्य— किसी दुर्बल से छीनकर साधु को आहार देना अथवा बलात्कार से दिलाना।
१५. अनिसृष्टि दो या अनेक मनुष्यो के भागीदारी की वस्तु किसी भागीदार की आज्ञा बिना देना।
१६ अध्यवपूरक साधुओ को नगर मे आये हुए जानकर बनाने में अधिक वस्तु डालना।

साध्वाश्रित एषणा के १६ दोष निम्न हैं.

. धात्री कर्म धाय माता का कार्य करके आहार लेना।
२ दूती कर्म—गृहस्थो के संदेशादि पहुँचाकर दौत्यकर्म द्वारा आहार ग्रहण करना।
३ निमित्त—त्रिकाल का लाभालाभ एवं जीवन मृत्यु आदि निमित्तशास्त्र बतलाकर आहार लेना।
४. आजीव—अपनी जाति कुल गोत्र आदि की प्रशंसा कर आहार लेना।
. वनीपक—दीनतापूर्वक याचना कर आहार लेना।
६ विचिकित्सा—औषधोपचार कर आहार लेना।
७. क्रोध क्रोधपूर्वक आहार लेना।

८ मान गर्व पूर्वक आहार लेना।
९ माया—प्रपंच पूर्वक आहार लेना।
१० लोभ लोभपूर्वक अथवा लोभ दिखाकर आहार लेना।
११ पूर्वपश्चात् मस्तव प्रारंभ में या अन्त में दाता की प्रशंसा करना।
१२ विद्या विद्या सिद्धि के बल से आहार लेना।
१३ मन्त्र मन्त्र प्रयोग पूर्वक आहार लेना।
१४ चूर्ण—चूर्णों का प्रयोग करना।
१५. योग लेपादि योग बतलाना।
१६, मूलकर्म गर्भपातादि के लिए औषध बतलाकर आहार लेना।

साधु एवं भक्ताश्रित ग्रहणैषणा के १० दोष निम्न है

१ शङ्कित साधु और गृहस्थ दोनों को ही आहार के विषय में शंका होने पर भी उस आहार को ग्रहण करना।
२ म्रक्षित—सचित्त जल से हाथ अथवा केश जिसके भीगे हैं उस गृहस्थ के हाथ से आहार ग्रहण करना।
३ निक्षिप्त अकल्प्य वस्तु पर रखी हुई कल्प्य वस्तु को ग्रहण करना।
४ पिहित सचित्त वस्तु से आच्छादित अचित वस्तु को ग्रहण करना।
५ संहृत अकल्प्य वस्तु वाले पात्र को खालीकर उस पात्र से लेना, अथवा जिस पात्र से लेने में पश्चात् कर्म की (कच्चे पानी से धोना आदि) संभावना हो उस से ग्रहण करना।
६ दायक—अयत्ना-अनुपयोग पूर्वक दिया हुआ आहार ग्रहण करना।
७ उन्मिश्र—अकल्प्य वस्तु से मिली हुई कल्प्य वस्तु को ग्रहण करना।
८ अपरिणत—अपरिपक्व वस्तु को ग्रहण करना।
९ लिप्त—तत्काल की लीपी हुई जमीन को लांघकर आहार ग्रहण करना।
१० छर्दित दान देते हुए आहारादि के छींटे नीचे पडे हो उस आहार को ग्रहण करना।

साधु को भक्षण करते समय लगने वाले ग्रासैषणा के ५ दोष निम्न हैं·

१ संयोजना—स्वाद के लिये अनेक वस्तुओं का संमिश्रण करना।
२ प्रमाण मर्यादा से अधिक भोजन करना।
३ इंगाल स्वादिष्ट भोजन की प्रशंसा करना।
४. धूम अरुचिकर आहार की निन्दा करना।
५. कारण—क्षुधा, वेदना, वैयावृत्य, संयम, सद्ध्यान और प्राणरक्षार्थ आदि कारणों के बिना भोजन करना।

४. सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव

भगवती (विवाह प्रज्ञप्ति) सूत्र के २५वें शतक के तृतीय उद्देशक का आधार लेकर प्राकृत भाषा में ८ आर्याओं में इसकी रचना की गई है। इसका वर्ण्य विषय है—सूक्ष्म,

वादर, अपर्याप्त, पर्याप्त, ज्येष्ठ, इतर के देह भेद, तथा पाचों ही निगोद, वायु, अग्नि, जल एव पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय देह की अवगाहना तथा इनका क्रमश अल्प-वहुत्व का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन। गणिजी ने इस सैद्धान्तिक एव मार्मिक विषय को भी सरलता से प्रतिपादन करने मे सफलता प्राप्त की है।

५. श्रावक व्रत कुलक

प्राकृत भाषा मे २८ आर्याओ मे रचित इस कुलक को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि युगप्रवरागम श्री अभयदेवसूरि के पास उपसम्पदा ग्रहण करने के पश्चात् किसी भक्त श्रावक ने आपके पास सम्यक्त्व सहित वारह व्रत ग्रहण किये थे। प्रस्तुत कुलक मे यह तो स्पष्ट नही है कि किस संवत् मे और किस श्रावक ने आपके पास व्रत ग्रहण किये थे? किन्तु यह तो स्पष्ट है कि लेने वाला श्रावक वाहडमेरु[1] (मारवाड) के आस-पास का निवासी था।

इसका नाम अन्य प्रति मे 'परिग्रहपरिमाण कुलक' भी लिखा मिलता है, किन्तु इसमे केवल एक परिग्रह का ही परिमाण नही है अपितु समग्रव्रतो का है। अत उपर्युक्त नाम उपयुक्त ही प्रतीत होता है। इसमे 'कुलक' के स्थान पर लेखक 'टिप्पनिका' नाम रखता तो अधिक उपयुक्त होता। क्योकि इसमे त्याज्य और मर्यादित वस्तुओ का ही टिप्पन के रूप मे लेखन किया है न कि वर्णन के रूप मे।

प्रारम्भ मे श्री महावीर को नमस्कार कर देव गुरु धर्म मूलक सम्यक्त्व सह गृहीधर्म स्वीकार करता हूँ। तृतीय पद्य में १२ व्रतो का नाम निर्देश इस प्रकार किया है.

पाच अणुव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

तीन गुणव्रत—दिक्परिमाण, भोगोपभोग, अनर्थदण्ड।

चार शिक्षाव्रत - सामायिक, देशावकासिक, पौषध अतिथिसविभाग।

पद्य ३, ४ मे स्थूल प्राणातिपात, असत्य, स्तेय तथा स्वपत्नी अतिरिक्त मैथुन का त्याग करता हूँ। पद्य ५वें मे वाह्य नवविध परिग्रह—धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, चादी, सुवर्ण, चतुष्पद (पशु, पक्षी), द्विपद (दास, दासी), कुप्य नाम निर्देश कर गाथा ६—८ तक इसकी मर्यादा-परिमाण का उल्लेख किया है। पद्य ९—२० मे दिशा का परिमाण एव भोग्य वस्तुओ को सीमित करता हुआ १४ नियमो को धारण कर अनर्थदण्ड का परिमाण करता है। गा० २० से २६ मे, प्रति वर्ष ६० सामायिक करने की प्रतिज्ञा करता हुआ देशावगासिक, पौषध, अतिथि सविभाग, जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा, वह भी जिनेश्वर देव के पाच कल्याणक दिवसो में विशेष रूप से करूंगा ऐसा कथना करता हुआ प्रतिज्ञा करता है तथा कहता है कि प्रमादवश व्रत में अतिचार (दोष) लग जाय तो एक हजार श्लोको का स्वाध्याय करूंगा एव सम्पूर्ण आस्रव द्वारो का त्रिकरण तथा त्रियोग द्वारा त्याग करता हूँ।

अन्त मे पद्य २७ मे कवि इसकी महत्ता दिखाता हुआ कहता है कि सम्यक्त्व जिसका मूल है, अणुव्रत जिसका स्कन्ध है, गुण व्रत और शिक्षाव्रत जिसकी शाखा और प्रशाखायें हैं ऐसे गृही-धर्मरूपी वृक्ष को श्रद्धारूपी जल से सिंचन करने पर मोक्ष फल प्राप्त होता है। पद्य २८वें मे कवि अपना नाम प्रदान करता हुआ उपसहार करता है।

१ वाहडमेरु माणे पद्य १२

गाथा १२ मे 'वाहडमेरु माण' शब्द से उस समय में प्रचलित वस्तु परिमाण–तौल सूचक का प्रयोग किया है । यह प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सभव है उस समय राजस्थान प्रदेश मे वाहडमेरो मान का प्रचार होगा ।

६. पौषधविधि प्रकरण

विधि पक्ष के अनुयायी श्रमण वग के लिये नूतन आचार-ग्रन्थ की कोई आवश्यकता ही नही थी, क्योकि आचार-ग्रन्थ के आगम मौजूद थे। अत उपासको को लक्ष्य मे रखकर पौषधविधि प्रकरण एव प्रतिक्रमण-समाचारी नामक दोनो ग्रन्थो की रचना की गई है। इसीलिये कवि को मगलाचरण मे यह वस्तु स्पष्ट करनी पडी है। कवि कहता है कि दसविध यतिधर्म का प्रकाशन करने वाले जिनेश्वर-देवो ने पौषधविधान की उपासको के लिये प्ररूपणा की है। जो उपासक ससार से विरत होकर आत्मिक सुख का अनुभव करना चाहता है तथा जो व्रत, प्रतिमा, सन्ध्याविधि, पूजा इत्यादि श्रावकीय धर्मकृत्यो द्वारा कल्याण पथ पर अग्रसर होना चाहता है उसे चतुर्दशी, अष्टमी, पर्युषणादि पर्व-दिवसो मे साधु के पास अथवा पौषधशाला या एकान्त गृहप्रदेश मे पौषध अवश्य करना चाहिये ।

तदनन्तर पौषध की समग्र विधि का आद्योपान्त वर्णन किया गया है जो आज भी खरतरगच्छ समाज मे प्रसिद्ध एव प्रचलित है। इसलिये इसका वर्णन न कर इसमे विशिष्ट विवेचनीय विषयो का उल्लेख कर रहा हूँ ।

पौषध दण्डक (मूलपाठ) तथा सामायिक दण्डक का शास्त्रीय विवेचन करता हुआ कवि त्रिविध-त्रिविध प्रत्याख्यान का अनेक भागो द्वारा स्थापना भी करता है जो पठनीय है। इसी प्रसग मे एक मत का उल्लेख है कि साधुओ के साथ श्रावको को प्रतिक्रमण करना योग्य नही है। इस मत का शास्त्रीय प्रमाणो तथा गीतार्थ-परम्परा द्वारा खडन कर यह स्थापना की है कि श्रावको को साधुगण के साथ प्रतिक्रमण करना चाहिये।

पौषधव्रत-धारी सभा के सन्मुख प्रवचन (व्याख्यान) दे या नही ? इस प्रसग को उठाकर निशीथ आदि आगमिक ग्रन्थो के उद्धरण के साथ यह प्रतिपादन किया है कि सभा में गीतार्थ श्रमणो को ही प्रवचन देने का अधिकार है। जहाँ सामान्य साधुओ के लिये भी सभा मे प्रवचन देने का प्रतिवन्ध हो वहा उपासको का स्थान ही कहा आ सकता है ? हा, वह पौषधव्रतधारी गीतार्थ श्रमण के अभाव मे वैसे उपदेश दे सकता है किन्तु सभा के सन्मुख प्रावचनिक पद्धति से नही । जो इस आज्ञा-धर्म का उल्लघन करता है उसके लिये कवि कहता है कि वह अनर्थभाषी और शासन-विराधक है।

चैत्य मे मध्याह्न-काल का देववन्दन करने के पश्चात् यदि उपासक 'आहार पोसही' हो तो जो प्रत्याख्यान एकासन, निवी, अथवा आयम्बिल का किया हो, वह पूर्ण करे । यहा 'आहार-पोसही' शब्द पर कई विपक्षियो ने खरतरगच्छ की वैधानिक-परम्परा को अवैधानिक ठहराने के लिये सेनप्रश्न–"पौषधविधिप्रकरणे श्राद्धाना पौषधमध्ये जेमनाक्षारदर्शनात्" (पृ० ४) का प्रमाण कर वातावरण को दूषित करने का जो प्रयत्न किया है वह वस्तुत गर्हणीय है। ये

लोग भूल जाते हैं कि लेखक ने पूर्व मे लिखा है—"पादोन पोरुपी व्यतीत होने पर पड़िलेहन करूं का आदेश लेकर, भण्डोपकरण अर्थात् थाली, कटोरा आदि पात्रो की प्रमार्जना करे।" उपधान-तप आदि वडी तपस्याओ मे ही भोजन पात्र रखे जाते हैं, सामान्य एक दिवस के पौषध मे नही। इसीलिये तो लेखक को पुन "जो पुण आहारपोसही देसओ" शब्द लिखने पडे। अत किसी लेखक के लिखित पूर्वापर वाक्यो को छोडकर स्वप्रयोजनीय शब्दो को ग्रहण करना और अपने झूठे मत का प्रतिपादन करना क्या विज्ञो के लिये योग्य कहा जा सकता है? क्या इन शब्दो से कही भी स्पष्ट है कि पर्वतिथि के अतिरिक्त दिवसो मे भी पौषध मे भोजन करना चाहिये?

पौषवव्रती राग और द्वेष की परिणति से रहित होकर शास्त्रीय नियमानुसार अपने घर पर अथवा पूर्व निश्चित स्थान पर जाकर भोजन करे। भोजन के लिये एकादश प्रतिमाधारक व्यक्तियो को छोडकर श्रमण की तरह भ्रमण न करे, क्योकि वह धर्म की लघुता करने वाला है तथा पिण्ड-विशुद्धि का ज्ञान न होने से एवं उपयोग का अभाव होने से शास्त्रो मे इसका पूर्णतया निषेध किया गया है।

सन्ध्याकालीन विधि पूर्ण होने पर रात्रि संस्तारक की विधि करके अनित्यादि भावनाओ द्वारा ससार, लक्ष्मी, यौवन तथा गर्व की नश्वरता पर विचार करता हुआ, सम्पूर्ण ऐहिक वस्तुओ का त्याग कर, जिनेश्वर का शरण स्वीकार कर शयन करे। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उठकर द प्रहर पूर्ण हो गये हो तो सामायिक ग्रहण कर स्वाध्याय ध्यान करे। पश्चात् प्राभातिक प्रतिक्रमण करे, प्रतिलेखन करे। पौषध पारने की इच्छा हो तो त्रिविधयोग से अनुष्ठान मे अतिचार लगा हो उसकी चिन्तवना करता हुआ 'भयव दसण्णभद्दो' के पाठ से पौषध की विधि पूर्ण करे।

तदनन्तर उपासक का यह नियम है कि पूज्य श्रमणो को आहार-भोजन का दान देकर स्वयं भोजन करे अन्यथा दोष का हेतु है। अत साधु समीप जाकर विनय विवेक पूर्वक उनको अपने साथ लेकर अपने घर पर आवे और भक्ति-पूर्वक उन्हे भोजन का दान देकर पारणा करे। यदि वहा सुविहित साधु न हो तो देशकालोचित कर्त्तव्य करे तथा मन मे यह विचार करता हुआ कि गीतार्थ साधु होते तो मेरा संसार से निस्तार हो जाता तथा मेरा जीवन कृतार्थ हो जाता

> सविग्गा सोवएसा गमनयनिउणा खित्तकालाणुरूवा-
> णुट्ठाणा सुद्धचित्ता परसमयविऊ मच्छरुच्छेयदच्छा।
> सम्म सुत्तुत्तजुत्तीजुयवयणहयातुच्छमिच्छत्तवाया,
> साहू मे एज्ज गेहे जह कइवि तओऽहं कयत्थो भविज्जा ॥

अन्त मे इसका मोक्षफल दिखलाते हुए कवि स्वय का नाम सूचित करता हुआ सुविहित पथ की पौषधविधि का उपसहार करता है।

७. प्रतिक्रमण-समाचारी

कवि देवेन्द्रवृन्दवन्दित श्रीमहावीर को नमस्कार कर प्रतिक्रमण-समाचारी प्रकट करता है। द्वितीय पद्य मे पचविध आचार की विशुद्धि के लिये साधु और श्रावक को सर्वदा गुरु

के साथ प्रतिक्रमण का विधान करता है। प्रतिक्रमण पाच प्रकार के होते हैं १ रात्रि २ दैवसिकी, ३ पाक्षिक ४ चातुर्मासिक और ५. सावत्सरिक। पद्य ३ से २४ तक कवि दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि का वर्णन करता है और पद्य २५-३३ मे रात्रि प्रतिक्रमण का। पद्य ३५-३६ तक मे अवशिष्ट तीनो प्रतिक्रमणो की विशिष्ट विधि का उल्लेख करता हुआ पद्य ४० मे अपना नाम देकर उपसंहार करता है।

कवि ने दैवसिक प्रतिक्रमण का विधान 'देवसिय प्रायश्चित कायोत्सर्ग' तक ही दिया है तथा रात्रि-प्रतिक्रमण का अन्तिम देववन्दन तक। स्पष्ट है कि वार्तमानिकी विशेष क्रियायें गुरु-परम्परा मात्र की ही बोधक हैं।

८. द्वादशकुलक

कवि ने अपना जीवन केवल वैधानिक-चर्चाओ और प्रौढ-साहित्यिक रचनाओ मे ही नही विताया है। वह धर्म प्रचार का लक्ष्य भी रखता है। इसीलिये उसने द्वादशकुलक और धर्मशिक्षा प्रभृति औपदेशिक ग्रन्थो का प्रणयन किया है। सर्वत्र स्थलो मे स्वय का विचरण असंभव है, स्वीकार कर अन्य प्रदेशो मे उपदेशो के साथ-साथ वैधानिक सुविहित-पथ का भी प्रचार हो इस दृष्टि को लक्ष्य मे रख कर, गणदेव नामक उपासक को साहित्य-प्रचारक बना कर, प्रस्तुत ग्रन्थ-निर्माण कर, वागड देश मे प्रचारार्थ भेजा। जैसा कि जिनपालोपाध्याय कहते हैं-

> धर्मोपदेशकुलकाङ्कितलेखसारैः, श्राद्धेन बन्धुरधिया गणदेवनाम्ना ।
> प्राबोधयत् सकलवाग्जदेशलोक, सूर्योऽरुणेन कमल किरणैरिव स्वै ॥
>
> (द्वादशकुलक वृत्ति म० १०)

इस ग्रन्थ मे कुल १२ कुलक हैं और ये सभी कुलक परस्पर सम्वद्ध होते हुए भी मौलिक काव्य की तरह स्वतंत्र भी है। इसीलिये कवि ने इस ग्रन्थ का नाम भी द्वादशकुलक रखा है। प्रस्तुत ग्रन्थ औपदेशिक होने पर भी कवि ने अपनी स्वाभाविक प्रतिभा से, लाक्षणिक दृष्टि से लिख कर इसे प्रासाद एवं माधुर्य गुणमय काव्य का रूप प्रदान कर दिया है। इसका पठन करने पर पाठको को उपदेश के साथ-साथ काव्य-गरिमा का आस्वादन भी होता है।

प्रत्येक कुलक भिन्न-भिन्न छन्दो मे है और पद्य संख्या भी सब की पृथक् पृथक् है जिसका वर्गीकरण निम्न प्रकार है —

कुलक संख्या	पद्य संख्या	छन्द
१	२१	१ २० उपजाति, २१वा मालिनी
२	२१	१ २० आर्या, २१वा मालिनी
३	१६	१, ३—११, १३ १५ शार्दूलविक्रीडित; २, १२ स्रग्धरा तथा १६वा आर्या
४.	२५	१ २५ आर्या
५.	३१	१, २, ५—११, १३—१६, १८—२३, २६—२८,

कुल संख्या	क्रम संख्या	छन्द
		३१ आर्या, ३ शार्दूलविक्रीडित, ४ मालिनी; १२ वसन्ततिलका, १७ मन्दाक्राता,
६	१०	आर्या
७.	१५	आर्या
८.	३३	आर्या
९.	२६	मालिनी
१०.	११	१-१० वसन्ततिलका; ११ शार्दूल विक्रीडित; अन्तिम पद्य संस्कृत मे ।
११.	८	१-७ मालिनी, ८ स्रग्धरा,
१२.	१६	आर्या

प्रथम कुलक. इसमे श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, गुणागार, धर्मोद्यत उपासकों को उपदेश दिया गया है। परन्तु सर्वप्रथम यह बताया गया है कि धर्मोपदेश श्रवण का अधिकारी कौन है ? अधिकारी का निर्णय करने के पश्चात् उसके आचरण करने योग्य धर्ममय औपदेशिक तत्त्वो का निदर्शन किया गया है।

द्वितीय कुलकः—कदली पत्र पर स्थित जलबिन्दु के समान जीवन धन, यौवन और स्वजन-संयोग क्षणिक समझकर, निपुणबुद्धि के साथ कुग्रह का त्याग कर, निर्वाण सुख के अनन्य कारणभूत भवनैर्गुण्य की विचारणा करे। वर्तमान समय मे श्रुतधरो का अभाव है, अत. तत्प्ररूपित आगमानुसार ही सद्गुरु की उपासना, धर्माराधन, जिनपूजन आदि सत्कृत्य करे; जिससे प्राप्त मानुष्यादि सामग्री का सदुपयोग हो और भवबन्धन का नाश हो।

तृतीय कुलक जन्म मृत्यु के आवर्तन से पूर्ण इस भवोदधि मे यौवन, जीवन, लावण्य लक्ष्मी, भोगसुख, कामिनी, राज्य परिवार आदि इहलौकिक समग्र वस्तुये जल बुद्-बुद् के समान नश्वर हैं तथा वियोग, शोक एवं दुःख के भंडार हैं। अत संविग्न-मार्गानुसार सम्यक्त्व युक्त पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत रूपी सद्धर्म कल्पवृक्ष को श्रद्धामय जल से सिंचन करे। त्रिकाल चैत्य-वन्दन, दान, इन्द्रियदमन, पचभावना, स्वधर्मी-वात्सल्य आदि सत्कृत्यो को निष्काम भाव से तथा मात्सर्य, मोह एवं लोभ रहित होकर करे, जिससे भव का नाश हो।

चतुर्थ कुलक राग और द्वेष रूपी भुजंगों से परिपूर्ण इस ससार समुद्र के भीतर चतुर्गतियो मे भ्रमण करते हुए, यह दश दृष्टान्तो से दुर्लभ मनुष्यभव तुझे प्राप्त हुआ है। अतः प्रमाद का त्याग कर। प्रमाद जीवन का एक महाशत्रु है जो तुझे इस ससार मे परिभ्रमण कराता है। कदाग्रह का त्याग करके विधि अनुसार आचरण करने वाले साधुजनो की सम्यक् प्रकार से सेवा-शुश्रुषा कर। चारित्र का पालन कर। अंतरंगशत्रु राग-द्वेष क्रोधादि कषायो का दमन कर। दाक्षिण्यादि भावनाओं का पालन कर। आयुष्य अत्यल्प है, आचरण अत्यधिक है अत सुसंयोगो से प्राप्त सद्गुरु की अध्यक्षता मे पूर्णरूपेण धर्माराधन कर, जिससे तेरा कल्याण हो।

पचम कुलक. निगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि ससार की समस्त योनियों

मे परिभ्रमण करते हुए तुझे यह मानुषभव प्राप्त हुआ। यह जीवन आशा, चिन्ता, रोग, शोक, वियोग, संताप आदि दु खो से भरा हुआ है। अनन्त सागरोपमो तक भ्रमण करते हुए पुण्य सञ्चय के कारण श्रेष्ठकुल, सद्गुरु आदि की तुझे प्राप्ति हुई है। अत अनिवृत्तिकरण द्वारा मिथ्यात्व की ग्रन्थि का छेदन करके गुणस्थानो की श्रेणि का आलवन लेकर आत्मसिद्धि कर। कुनयो और कदाग्रहो का त्याग कर, अन्यथा ग्रहण किया हुआ चारित्र भी प्रमाद और आश्रवो के कारण संसार मे परिभ्रमण का हेतु मात्र ही होगा। इसलिये शास्त्रमर्यादानुसार दान-शीलादि धर्म जो गीतार्थ-परम्परा द्वारा मान्य हैं वे सुगुरु के आदेशानुसार पालन कर, धर्माराधन कर, जिससे तुझे मोक्षलाभ हो।

षष्ठ कुलक · धनादि मे ममत्व ससार वृद्धि का हेतु है। अत. उस पर से ममत्व हटा कर उसका श्रेष्ठ कार्यो मे सदुपयोग कर, अन्यथा यह लक्ष्मी १८ पापस्थान की भूमिका होने के कारण तुझे दुर्गति प्राप्त करावेगी। शास्त्रसम्मत सम्पूर्ण श्रेष्ठ कार्य सुगुरु की अध्यक्षता मे राग रहित होकर आचरण कर जिससे मोक्षसुख का लाभ तुझे प्राप्त हो।

सप्तम कुलक अनतकाल तक ससार मे परिभ्रमण करते हुए त्रसत्व, नरत्व, श्रेष्ठ क्षेत्र, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, पूर्णायुष्य आदि अति दुर्लभ सामग्री अत्यन्त पुण्योदय से तुझे प्राप्त हुई है। इसलि, यदि तू साधुधम पालन करने मे अपने को असमर्थ समझता हो तो श्रावक-धर्म का पालन कर। विधिपूवक त्रिकाल चैत्यवन्दन, सुगुरु सेवा, धर्मश्रवण, जिनपूजा, सुपात्रदान, उपधान आदि तप तथा स्वाध्याय आदि उत्तम कृत्यो की आराधना कर। संसार की असारता का विचार करके आश्रव के कार्यो का त्याग कर। मोह-ममत्व का त्याग कर। हृदय मे जिनमत का शुद्ध स्वरूप देख; जिससे तेरा भवभ्रमण का चक्र समाप्त हो जाय।

अष्टम कुलक · मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद आदि कर्म-बधन एव भववंधन के हेतु हैं उनको तथा इनसे उपार्जित भयकर फलो को ज्ञान पूर्वक त्याग कर, अन्यथा तुझे प्राप्त सुगुरु की प्राप्ति आदि सारी उत्तम सामग्री व्यर्थ हो जायगी। इसलिये मार्गानुसारिता स्वीकार कर के अप्रमत्ततया धर्माचरण कर, जिससे तुझे शिवसुख प्राप्त हो।

नवम कुलक — हुण्डा अवसर्पिणी काल पचम आरक, भस्मराशि ग्रह आदि अनेक पापग्रहो के कारण जहा धर्म सामग्री का वीज ही मिलना दुष्कर है वहा तुझे जो उत्तम-उत्तम सामग्रियां प्राप्त हुई हैं उनका तू त्याग न कर। कुगुरुओ का भक्त न हो। उन्मार्ग का अनुयायी न वन। प्रमाद धारण न कर। गीतार्थ गुरुपरंपरा का त्याग न कर, अन्यथा चारो गति का भ्रमण पुन तुझे घसीटेगा और तू चिन्तामणी रत्न को यो ही खो देगा। इसलिये प्रमाद त्याग करके निष्ठा और श्रद्धा पूवक सुविहित पथ दर्शित सम्पूण विधि-विधानो का अनुष्ठान कर, जिससे तू अभय पद प्राप्त कर सके।

दशम-एकादश कुलक —यदि तू सुखाकाक्षी है और अक्षयपद प्राप्त करना चाहता है तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सद्गुरु-सेवा तथा गीताथ परपरा का पूर्णरूपेण पालन कर। दुर्गति के कारण भूत कुगुरु, उन्मार्ग आचरण, काम-क्रोधादि कषाय, मिथ्यात्व, कुतीर्थी-ससर्ग, शंका, विषय आदि जितने अंतरग जीवन के शत्रु हैं उनका पूर्णरूपेण दमन कर, जिससे तू अचिन्त्य मोक्षरूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त कर सके।

द्वादशम कुलक : काल की विचित्रता से श्रेष्ठ श्रुतधरों का अभाव होने से और अपने गुरुकर्मीपन से आज बहुत लोग जिनमत तथा साधु धर्म का ज्ञान होने पर भी एवं श्रेष्ठ धर्म अंगीकार कर लेने पर भी आजीविका के भय से कपायादि अन्तरंग शत्रुओं को प्रोत्साहन दे रहे हैं। धर्म के नाम पर स्वच्छंद आचरण कर रहे हैं। अपनी आत्मा को कपाय विष से नाश कर रहे हैं और गारव धारण कर रहे हैं। आह!!! ये सब महा मोह का प्रभाव है। इसलिये भव्य को सुबुद्धि पूर्वक शठभाव का त्याग कर, सिद्धान्त का परमार्थ जानकर, कपाय भावों का पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिए, जिससे तू बुद्धिमानों का पूज्य हो सके।

९. धर्म शिक्षा प्रकरण

कवि ने इस काव्य की सृष्टि भव्यजीवोपकारार्थ ही की है। यह श्लोक संख्या की अपेक्षा तो अत्यन्त ही लघु काव्य है किन्तु प्रसाद और ओज संयुक्त होने से इसकी कोमल-कान्त-पदावली, चैत्रिक गरिमा, अलंकारों का सम्मिश्रण तथा विविधतामयी छंद योजना इसको एक विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत काव्य में जीवन में आचरणीय १८ विषयों का प्रतिपादन बहुत ही मार्मिक शैली से किया गया है। प्रस्तुत अठारह विषयों में देव गुरु और धर्म तीनों की प्रमुखता बतलाते हुए इनकी आराधना-पद्धति, तज्जनित फल और सांसारिक पदार्थों की नश्वरता से उत्पन्न दुःख तथा उनके निवारण के हेतुओं का विवेचन बहुत ही सरल शब्दों में किया गया है। १८ विषय निम्नलिखित हैं :

> भक्तिश्चैत्येषु शक्तिस्तपसि गुणिजने सक्तिरर्थे विरक्ति,
> प्रीतिस्तत्त्वे प्रतीति शुभगुरुषु भवाद् भीतिरुद्दामनीतिः।
> क्षान्ति दान्तिः स्वशान्ति लहतिरबलावान्तिरभ्रान्तिराप्ते,
> नीप्सा दित्सा विधित्सा श्रुत-धन-विनयेष्वस्तु धि. पुस्तके च॥

इसमें कवि ने प्रथम पद्य में जिनेश्वर को नमस्कार कर काव्य कहने की प्रतिज्ञा की है। दूसरे पद्य में मानवभव की दुर्लभता बतलाते हुए महाकुलीन भव्यों को धार्मिक कर्त्तव्य करने का उपदेश दिया है। तीसरे पद्य में १८ प्रसंगों का नामोल्लेख कर पद्य ४ से ३९ तक में प्रत्येक विषय का दो-दो पद्यों में प्रतिपादन किया गया है। प्रथम और अन्तिम पद्य चक्रबन्ध काव्यरूप में हैं जिसमें कवि ने अपना नाम जिनवल्लभगणिवचनमिदम्' और 'गणिजिनवल्लभ-वचनमद.' सूचित किया है।

इस परिपाटी की रचना श्वेताम्बर-जैन साहित्य में सम्भवत सर्वप्रथम आचार्य जिनवल्लभ ने ही की है। इसके अनुकरण पर तो परवर्ती कवियों ने अनेक रचनाये की हैं जिनमें सोमप्रभाचार्य प्रणीत सिन्दूरप्रकर आदि मुख्य हैं।

१०. सङ्घ पट्टक

इस काव्य की रचना में गणिजी के जीवन का चरमोत्कर्ष निहित है। उपसम्पदा के पश्चात् आपने चैत्यवास का सक्रिय विरोध कर उसके आमूलोच्छेदन करने का प्रयत्न किया

और इस प्रयत्न मे इनको पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। गणिजी ने इस लघु काव्य मे तत्कालीन चैत्यवासी आचार्यों की शिथिलता, उनकी उन्मार्ग-प्ररूपणा और सुविहितपथप्रकाशक गुणिजनो के प्रति द्वेष इत्यादि विषय का सुन्दर चित्र उपस्थित करते हुए विधिपक्ष (खरतरगच्छ) के व्यावहारिक आचार का विवेचन किया है। सघ (विधिपक्ष) का पट्टक (विधानशास्त्र) होने से कवि ने इसका नाम भी संघपट्टक किया है।[1]

इस काव्य मे ४० पद्य हैं। उनमे प्रथम श्लोक मे श्री पार्श्वनाथ को नमस्कार कर 'विज्ञो को कुपथत्याग करने का' उपदेश देकर दूसरे पद्य मे श्रोताओ की योग्यता का निरूपण किया है। ३४ पद्य मे उपमाओ द्वारा चैत्यवासियो को 'जिनोक्तिप्रत्यर्थी' सिद्ध करते हुए पाचवें पद्य मे १ औद्देशिक भोजन, २ जिनगृह मे निवास, ३ वसतिवास के प्रति मात्सर्य, ४ द्रव्य संग्रह, ५ भक्तो के प्रति ममत्व, ६ चैत्य स्वीकार (चिन्ता), ७ गद्दी आदि का आसन, ८ सावद्य आचरण, ९ सिद्धान्तमार्ग की अवज्ञा और १० गुणियो के प्रति द्वेष का विवेचन किया है। इस प्रकार वक्ष्यमाण दस द्वारो[2] का उल्लेखकर पद्य ६ से ३३ तक इनका विशद विवेचन किया गया है। पद्य ३४ ३५ मे ग्रन्थ रचना का कारण कह कर पद्य ३६-३८ मे सुविहित साधुवृन्द के पवित्र आचार की प्रशसा की है। पद्य ३८ मे चित्रकाव्य द्वारा 'जिनवल्लभगणिनेद चक्रे' कहकर अपना चित्रालङ्कार प्रेम प्रदर्शित किया है। पद्य ३९ ४० मे चैत्यवास को भस्मकम्लेच्छसैन्य की उपमा प्रदान कर उसकी भर्त्सना करते हुए उपसहार किया गया है।

इस लघु काव्यात्मक वैधानिक एव चारित्रिक ग्रन्थ मे श्री गणिजी ने निदर्शना, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता, रूपक, उपमा, अनुप्रासादि अलकारो तथा स्रग्धरा आदि ८ प्रकार के छन्दो के प्रयोग द्वारा अपनी बहुमुखी प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। समग्र काव्य ओज गुण से परिपूर्ण होने के कारण पाठक के हृदय को पुलकित करता है। इसमे आये हुए छन्दो का वर्गीकरण इस प्रकार है

स्रग्धरा—१, ४, ७, ९, २१, ३०, ३५, ३७। शार्दूलविक्रीडित २, ५, ६, १०, १३-१७, २२-२६, ३१-३३, ३८,४०,। मालिनी ३, ११, ३६। द्विपदी—१८-२०। शिखरिणी—३६। मन्दाक्रान्ता—३४। पृथ्वी १२। वसन्ततिलका—८।

११. स्वप्न सप्तति

जिनपालोपाध्याय ने जिनवल्लभसूरि प्रणीत ग्रन्थो मे स्वप्नसप्तति का उल्लेख किया है किन्तु यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्राप्त था। शोध करते हुए सन् १९६७ मे इसकी एक टीका सहित पाण्डुलिपि राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, शाखा कार्यालय बीकानेर के श्रीपूज्य श्री जिन

१ सङ्घस्य पट्टकल्पं श्रीसङ्घराज्यपट्टकशास्त्रं चकार। (साधुकीर्त्ति अवचूरि)

२ यत्रौद्देशिकभोजन जिनगृहे वासो वसत्यक्षमा,
स्वीकारोऽर्थगृहस्थचैत्यसदनेऽव्यग्रेक्षिताद्यासनम्।
सावद्याचरितादर श्रुतपथाऽवज्ञा गुणिद्वेषधी,
धर्म कर्महरोऽत्र चेत्पथि भवेन्मेरुस्तदाब्धौ तरेत् ॥५॥

चारित्रसूरि संग्रह मे प्राप्त हुई। संग्रह का ग्रन्थाँक २६४ है और पत्रांक २३२ से २५६ तक स्वप्नसप्तति टीका का आलेखन है। प्रति का लेखन-काल स १४१८ है और यह प्रति श्री कीर्तिरत्नसूरिशिष्य श्री कल्याणचन्द्रोपाध्याय की है ऐसा पत्रांक १८५ पर उल्लेख मिलता है।

यह टीका तीन भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग मे, गाथा १ से गाथा ३६ तक मूल ग्रन्थ का प्रतीक देते हुए विस्तृत टीका दी गई है। दूसरे भाग मे, प्रारम्भ की ३६ गाथाओ मे से स्वप्नफलप्रतिपादक ८ वी गाथा से २६ वी गाथा तक, अर्थात १६ मूल ग्रन्थ की पूर्ण गाथायें देते हुए पुन उनकी टीका दी गई है और अन्त मे 'कृति श्रीजिनवल्लभसूरे.' का उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही जिनपालोपाध्याय प्रणीत २८ गाथाये देते हुए लिखा है - "इति गजादिस्वप्नाष्टकफलप्रतिपादकगाथासमस्तार्थ समाप्त । कृतिर्वा जिनपालगणिरिति।" इससे यह स्पष्ट है कि द्वितीय भाग की टीका जिनपालोपाध्याय प्रणीत है। तीसरे भाग मे, गाथा १ से ३५ तक, पूर्ण गाथायें देते हुए उनकी सक्षेप मे टीका दी गई है। अन्त मे 'स्वप्नसप्ततिटीका समाप्ता' लिखा है। टीकाकार का नाम नही दिया गया है।

प्रथम भाग की ३६ गाथायें और तीसरे भाग की ३५ गाथायें अर्थात् ७१ गाथाओ मे यह ग्रन्थ पूर्ण होता है जोकि नाम से स्पष्ट है। तीनो भागो की टीका-रचना शैली पृथक्-पृथक् होने से यह तो स्पष्ट है कि तीनो ही टीकाकार अलग-अलग हैं। प्रथम और तृतीय भाग के टीकाकार अज्ञात है एव दूसरे भाग के टीकाकार जिनपालोपाध्याय हैं। आश्चर्य है कि किसी भी टीकाकार ने टीका के प्रारम्भ मे या अन्त मे कोई मगलाचरण या प्रशस्ति नही दी है। टीकाकारो ने टीका का प्रारम्भ भी अनूठे ढग से किया है, मानो किसी अन्य ग्रन्थ की टीका करते हुए प्रसगवश इसकी भी टीका कर रहे हो, यथा 'अधुना क्रियाविकलस्यापि भावस्य प्राधान्य दर्शयन् दृष्टान्तमाह।'

आचार्य जिनवल्लभ ने सार्द्धशतक, षडशीति, अष्टसप्ततिका, प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकादि ग्रन्थो के समान ही ७१ गाथा के इस ग्रन्थ का नाम भी स्वप्नसप्तति या स्वप्नैकसप्तति रखा है। श्री अगरचन्दजी नाहटा की सूचनानुसार इसका नाम 'आगमोद्धार' भी है।

जिनवल्लभ के प्राय समस्त ग्रन्थो मे, प्रारम्भ मे मगलाचरणात्मक तीर्थंकरो को नमस्कार और ग्रन्थान्त मे स्वयं का नाम प्राप्त होता है, किन्तु स्वप्नसप्तति मे इन दोनो का अभाव है।

ग्रन्थ का सारांश

दुषम काल मे पूर्ण चारित्र धर्म के अभाव मे भी सम्यक् (सुविहित) मार्ग पर चल कर, यथाशक्ति अनुष्ठान करने वाले भव्यजीव सिद्धान्तक्रिया से मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

भगवान् महावीर ने कहा है कि दुषमकाल के अन्तिम समय मे, श्री दुप्पसहसूरि तक छेदोपस्थान चारित्र रहेगा। अत इस दुषमकाल मे उक्त चारित्र का अभाव मानना व्यामोह मात्र है। तीर्थंकरो की विद्यमानता मे भी आज्ञाबाह्य एव जिनवचन-विराधको को उक्त चारित्र कदापि नही होता है! अत भव्यो को चारित्र के प्रति यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिये और व्यामोहित गतानुगतिकमार्ग का त्याग कर, जिनाज्ञा एव आगमसम्मत चारित्र धर्म का विचार,

प्रमाणीकरण तथा उस पर स्थिरता करनी चाहिये।

शिथिलाचारियो का आगमविरुद्ध आचरण और व्यवहार बहुजन-सम्मत होने पर भी तिरस्करणीय है। यह प्रवृत्ति निन्द्य होने पर भी कतिपय आगम के जानकार आचार्यों ने इसका विरोध या निषेध क्यो नही किया है? इसका समाधान पूर्वाचार्यों द्वारा शास्त्रो मे दर्शित इस प्रसंग (कथानक) से किया है।

दुषम सुषम नामक चौथे आरे के अन्त मे किसी राजा (पुण्यपाल) ने आठ स्वप्न देखे और समवसरण मे जाकर श्रमण भगवान् महावीर से इन स्वप्नो का फल पूछा। आठ स्वप्न निम्नांकित है

१ जीर्ण-शीर्ण शाला मे स्थित हाथी, २ चपलता करता हुआ बन्दर, ३ कण्टको से व्याप्त क्षीरवृक्ष, ४ कौआ, ५ सिंह मृत होने पर भी भयदायक, ६. अशुचिभूमि में उत्पन्न कमल, ७ ऊषर क्षेत्र में बीजवपन, और ८ म्लान स्वर्णकलश।

भगवान् महावीर ने इन स्वप्नो का फल अनिष्टकारक बतलाते हुये कहा कि काल के प्रभाव से भविष्य म देव मन्दिरो में शिथिलाचारी निवास करेंगे। वे विकथा करेंगे, आयतन विधि का त्याग कर अविधिमार्ग का अवलम्बन ग्रहण करेंगे, भग्न परिणाम वाले होंगे, और आगमज्ञ विरल साधुओ का समादर नही होगा।

चपल बन्दर के समान अल्प सत्व वाले एव चलितबुद्धि वाले सहयोगियो से प्रेरित होकर बहुत से गच्छवासी आचार्य भी निन्द्य कर्मानुष्ठान करने लगेंगे और उनकी अनुचित प्रवृत्ति से प्रवचन की हमी होगी। उद्यत विहारी साधुओ की वे पार्श्वस्थ निन्दा करेंगे जिससे कि आगमज्ञ या तो निन्द्यानुष्ठान का आचरण करे या गच्छ को त्याग कर चले जावें।

आगमज्ञ सुसाधुओ के विचरण योग्य सत्क्षेत्रो का अभाव सा हो जाने पर, अधिक त्रस्त होकर वे जनरंजन का मार्ग ग्रहण कर लेंगे। कलहकारी पार्श्वस्थो की वृद्धि होगी, अर्थात् कल्पवृक्षरूपी धर्म का स्थान बबूल-कण्टक वृक्ष ग्रहण करेगा।

कौए के समान अतीव वक्र बुद्धि वालो से व्याप्त होने पर, शुद्ध प्रज्ञा वाले भी मूढ हो जायेंगे और उनके सम्पर्क से अधर्माचरण की ओर प्रवृत्त होंगे।

सिंह के समान जिन-प्रवचन भी कुतीर्थिक एव शिथिलाचारी श्वापदो के आघातो से व्याकुल होकर निष्प्राण-सा हो जायगा। ऐसे समय मे प्रवचनप्रत्यनीक कीडे सियार आदि इसे नोच नोच कर खायेंगे। इस प्रकार के विकट समय मे भी कतिपय आगमज्ञ क्रियाधारियो से ये अधम सियार सहमते रहेंगे।

कमलोत्पत्ति तुल्य धर्मक्षेत्र एवं शुद्ध कुल वाले भी दुराचारियो की संगति से अपना स्वरूप त्याग देंगे। अधर्मरूपी क्षेत्र तथा नीचकुलीय निन्द्य व्यक्तियो की प्रतिष्ठा बढेगी।

श्रद्धालु उपासक भी कुसमय और पार्श्वस्थो की सगति से, अधर्माचारियो को सुपात्र समझ कर दानादि देंगे।

ज्ञान एव चारित्र धारक भी दुस्संग के कारण बहुलता से हीनाचारी हो जायेंगे।

प्रसगोपरान्त ग्रन्थकार का मन्तव्य है कि

विशुद्ध रत्नों के समान सर्वज्ञ प्रणीत शुद्ध धर्म के ग्राहक एवं पालक अल्प ही होते हैं, अतः श्रमण एवं उपासकों को शिथिलाचारियों एवं कुतीर्थिकों के धर्म का त्याग करना चाहिये। इस काल में शुद्धधर्म का पालन अति दुष्कर है – ऐसा उन्हें नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत संसार-दुःखनाशन हेतु शुद्धधर्म का अप्रमत्त होकर आराधन करना चाहिये। इसी से भविष्य में मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अन्यथा विपरीत आचरण करने से चैत्यद्रव्योपयोगी सकाश श्रावक एवं चैत्यवासी देवसाधु की तरह अनन्तकाल तक भव-भ्रमण करना पड़ेगा।

अतः भव्य श्रद्धालुओं को जिन-गृहों में थूकना, ताम्बूल खाना, विकथा करना, आसन-पाट पर बैठना, सोना, खाना-पीना, हंसी मजाक करना, स्त्रियों के साथ नर्मालाप करना, देवद्रव्य का स्वयं के कार्यों में उपभोग करना, रात्रि में नाचगान करवाना आदि निषिद्ध क्रियाओं का तथा आशातनाओं त्याग का कर शास्त्रोक्त पूजा-अर्चनादि करनी चाहिये जिससे कि कल्याण हो।

कृति के उत्तरार्द्ध भाग (पद्य ३७–७०) में कवि का लेखन है कि—

इस हुण्डावसर्पिणी काल में दशम आश्चर्य रूप असंयत पूजा और भस्म राशि ग्रह के प्रभाव से शास्त्रोक्त क्रिया एवं आचार का पालन करने वाले सुसाधुजन अत्यल्प होंगे और वेषधारी पार्श्वस्थ-कुशील आदिकों की बहुलता रहेगी। ये लोग जिनशासन और प्रवचन के लिये असमाधिकारक होंगे और स्वयं के लिये वे कलहकारी एवं डमरकारी होंगे। ये पार्श्वस्थ शास्त्रों की आड़ में मन्दिरों में निवास की उपयोगिता बताते हुए सिद्धान्त विपरीत आचरण करेंगे और समाज को भी उसी गड्ढे में धकेलेंगे, इससे इनके भवभ्रमण की वृद्धि होगी। इस प्रकार चैत्यवासी-शिथिलाचारियों की मान्यता और प्ररूपणा को शास्त्रविरुद्ध होने से त्याज्य, निन्द्य, गर्हणीय कहकर, मखौल उड़ाते हुये सुविहित धर्म की ओर भव्यों को आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। अन्त में श्रद्धालुओं को उपदेश देते हुये कहा है—

जिनेन्द्रभाषित श्रेष्ठ अनुष्ठान जो तुम्हारे लिये शक्य है उसे पूर्णशक्ति एवं पराक्रम के साथ पालन करो और जो विशिष्ट धैर्य-संहनन आदि के कारण अशक्य है तो उसके प्रति हृदय में श्रद्धा एवं बहुमान रखो तथा शुद्ध प्ररूपणा करो, जिससे तुम्हें सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हो।

१२. अष्ट सप्तति : चित्रकूटीय वीर-चैत्य-प्रशस्ति

इस कृति में कुल ७८ पद्य होने से इसका नाम आचार्यश्री ने स्वप्रणीत षडशीति, सार्द्धशतक, स्वप्नसप्तति, प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक आदि ग्रन्थों के समान ही अष्टसप्तति रखा है या प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। प्राप्त ग्रन्थ की पुष्पिका में 'प्रशस्तिजिनवल्लभीति' लिखा हैं एवं श्रीजिनपालोपाध्याय ने भी 'चर्चरी' पद्य ४ की टीका में, जिनवल्लभ प्रणीत ग्रन्थनामों में 'प्रशस्तिप्रभृतिकम्' का उल्लेख किया है। आचार्य श्रीजिनपतिसूरिने चित्तकूट में नवनिर्मापित महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध प्रशस्ति होने से इसका नाम 'चित्रकूट-वीर-चैत्यप्रशस्ति' माना है.

'अतएव लिङ्गिपरिगृहीतचैत्यानां युगप्रवर-जिनवल्लभसूरिदेशनावशादनायतनत्वं निर्णीय श्रीचित्रकूटे प्रभुभक्तश्रावकै श्रीमहावीरजिननिकेतन विधिचैत्यं विधिपथप्रचिकाशयिषया निर्मापयाम्बभूवे। तथा चैतदर्थसत्यापिका तत्रत्या प्रशस्ति'।"

[संघपट्टक पद्य ३३ की टीका]

यह प्रशस्ति शिलापट्ट पर उत्कीर्ण कर वि० सं० ११६३ मे चित्तौड मे नवनिर्मापित महावीर विधि चैत्य में लगाई गई थी। दैव दुर्विपाक से चित्तौड में न तो आज महावीर चैत्य के ध्वंसावशेष ही प्राप्त हैं और न शिलापट्ट के अवशेष ही। शिलापट्ट नष्ट होने से पूर्व ही किसी अज्ञात नामा इतिहास और साहित्यप्रिय विद्वान् ने इसकी प्रतिलिपि की थी, वही एक मात्र प्रति के रूप मे, लालभाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद मे उपलब्ध है। यह कोई ग्रन्थ होता तो, कही न कही भंडारो मे इसकी अन्य प्रतिया अवश्य प्राप्त होती, किन्तु मन्दिर की प्रशस्ति होने के कारण अन्य प्रति की सभावना नही के समान है।

प्रशस्ति का सार—इस प्रशस्ति के आरम्भ मे कवि ने त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), महावीर, आदिनाथ, पार्श्वनाथ और सरस्वती देवी को नमस्कार किया है (पद्य १-५)। परमारवंशीय महाराजा भोज (पद्य ६-१४), मालव्यभूरुद्धारक उदयादित्य (पद्य १५-२०) और चित्रकूटाधिपति नरवर्म (पद्य २१-२८) का यशोगान एव मेदपाट देश की राजधानी चित्रकूट (पद्य २९-३५) की शोभाश्री का सालकारिक सुन्दरतम वर्णन करते हुये तत्रस्थ अम्बक, केहिल आदि श्रेष्ठियो का (पद्य ३६-३८) उल्लेख किया है।

चन्द्रकुलीय वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि (पद्य ३९-४४) और नवाङ्गी टीकाकार श्रीअभयदेवसूरि (पद्य ४५-५१) के प्रशस्य गुणो का कीर्त्तन करते हुए (पद्य ५२ से ६४ मे) कवि ने अपनी सक्षिप्त आत्मकथा और चित्तौड़ मे स्वप्रतिबोधित श्रेष्ठियो के नामो का आलेखन किया है।

पद्य ६५ से ७२ में अनेक जिन मन्दिरो से मण्डित चित्रकूट मे नवीन विधि चैत्य के निर्माण का उद्देश्य, निर्माण कार्य मे विघ्न, तथा कार्य की समाप्ति, महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा और उपासको की धार्मिक प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुये नृपति नरवर्म द्वारा प्रति रवि-सक्रान्ति पर पारुत्थ-द्वय देने का सकेत किया है।

पद्य ७३-७४ मे विधिपक्षीय चैत्यो की मान्यता के आदेश हैं और पद्य ७६-७८ तक कवि ने अपना नाम और प्रशस्ति का रचनाकाल ११६३ देते हुये प्रशस्ति टंकनकार सूत्रधार रामदेव का नाम दिया है।

कवि ने इस प्रशस्ति मे मात्रिक छन्दो में आर्या (३, २३, ३६, ३९, ७३), उपगीति (१६) और वर्णिक छन्दो मे अनुष्टुप् (८, ५४, ५६, ५७), इन्द्रवज्रा (६४), इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के भेदो मे प्रेमा (२१, २५), आर्द्रा (६१), शाला (६२), बाला (६३), वशस्थविला (१), वसन्ततिलका (४, २९, ४०, ५२, ६५), मालिनी (६९, ७४), पृथ्वी (३३, ४५), शिखरिणी (९), मन्दाक्रान्ता (३१), हरिणी (६, २७), शार्दूलविक्रीडित (२, ११, १३, १४, १५, १७, १८, २०, २४, ३०, ३५, ४२, ४३, ४४, ४८, ५०, ५५, ५८, ६०, ६६,

६७, ७०, ७१, ७२, ७५, ७६, ७८), स्रग्धरा (५, ७, १०, १२, १८, २२, २६, २८, ३२, ३४, ३७, ३८, ४१, ४६, ४७, ४९, ५१, ५३, ५९, ६८, ७७) का प्रयोग किया है।

आचार्य जिनवल्लभसूरि वि० सं० ११६७ मे चित्तौड मे आचार्य पदारूढ हुए और ११६७ मे ही चित्तौड मे उनका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गारोहण के ४ वर्ष पूर्व ही अर्थात् ११६३ मे उन्होने इस प्रशस्ति की रचना की। रचना मे प्रौढता, प्राञ्जलता लाक्षणिकता, चित्रात्मकता आदि काव्य के समस्तगुण पद-पद पर प्राप्त होते है। कवि का चित्रकाव्य प्रेम भी पद्य ७६ पर द्रष्टव्य है।

वैशिष्ट्य — वि० सं० ११६३ मे चित्रकूट पर परमारवंशीय महाराजा नरवर्मा का आधिपत्य, तत्कालीन चित्तौड के विधिपक्षीय प्रमुख श्रेष्ठि, और कवि जिनवल्लभ की स्वलेखिनी से अंकित आत्मकथा आदि होने से इस प्रशस्ति का ऐतिहासिक सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। आत्मकथा का ऐतिहासिक साराश पूर्व परिच्छेद जीवन-चरित्र मे दिया जा चुका है।

इस प्रशस्ति की रचना मेदपाट देश (मेवाड) की राजधानी चित्रकूट (चित्तौड) में परमारवंशी महाराजा श्री नरवर्मा के राज्यकाल मे हुई है। महाराजा नरवर्मा का परिचय देते हुये कवि ने उनके पूर्वज विश्व प्रसिद्ध धाराधीश भोजनृपति का और महाराजा उदयादित्य का भी कीर्त्तिगान किया है। महाराजा भोज का यशोगान करते हुये कवि कहता है कि वाग्देवता ने वेदाभ्यास से कुण्ठित बुद्धि वाले पुराण-पुरुष ब्रह्मा का त्याग कर भोज का वरण कर लिया है। यही कारण है कि भोज ने स्रष्टा के समान ही तर्क, व्याकरण, इतिहास, गणित आदि सस्कृति के प्रधान वाङ्मयो की रचना की है।

कवि ने उदयादित्य के लिये 'महावराहवपुषा' विशेषण का प्रयोग करते हुये उसे मालव्यभूमि का उद्धारक बतलाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाराजा भोज के पश्चात् मालव प्रदेश पर गुजरात के भीम और चेदि के कर्ण ने अधिकार कर लिया होगा। उस समय आदिवराह के समान ही उदयादित्य ने विपक्षी नरेशो के चगुल से छुडाकर मालवा पर पुनः अधिकार किया होगा।

कवि ने नरवर्मा[1] को प्रबल प्रतापी दुर्धर्ष योद्धा बुद्धिमान, धर्मप्रेमी, महानीतिज्ञ और समर विजयी कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि मेवाड़ पर नरवर्मा ने ही अधिकार किया था।

१. कोटा स्टेट म्युजियम मे नरवर्म राज्य काल के दो मूर्त्तिलेख प्राप्त हैं —

१ ६०॥ सवत् ११६५ ज्येष्ठ सुदी ६ पंडित श्री मल्लोकनन्दि धात्रेण सुभकर पुत्रेण सौवर्णिक सहदेवेन कर्म्मक्षयनिमित्तेन कारायित। श्री नरवर्मदेवराज्ये

२ श्री नरवर्म्मदेवराज्ये सवत ११८० (?) आषाढ वदि १ अग्रवालान्वय साधु जिनपालसुत यमदेव पु…………

१४. शृङ्गार-शतम्

कवि की साहित्यिक कृतियो मे शृङ्गार शतक का विशिष्ट स्थान है। उपाध्याय जिनपाल और सुमति गणि ने इस शतक का प्रबन्ध काव्य के रूप मे उल्लेख किया है। अद्यावधि यह कृति अप्राप्य ही थी किन्तु अनुसंधान और खोज करते हुए, सन् १९५४ मे कोटा से बम्बई का पैदल प्रवास करते हुए श्रीजिनकृपाचन्द्रसूरि ज्ञान भंडार इन्दौर मे स० १५०७ की लिखित एकमात्र प्रति मुझे प्राप्त हुई। इस प्रति मे कतिपय लेखन-त्रुटिया हैं, तो कतिपय स्थानो पर पद्यो की पंक्तिया ही गायब हैं। अस्तु

कवि की यह रचना आचार्य अभयदेव के पास उपसम्पदा ग्रहण करने के पूर्व की है। 'तत्काव्यदीक्षागुरु' वाक्योल्लेख से स्पष्ट है कि कूर्चपुरीय आचार्य जिनेश्वर की ओर इनका सकेत है। उ० जिनपाल और सुमति गणि ने भी स्वीकार किया है कि व्याकरण, साहित्य, अलकार, छंद, न्याय, दर्शन, आदि का अध्ययन और दीक्षा आचार्य जिनेश्वर से ही कवि ने प्राप्त की थी और जैनागमो का अभ्यास तथा उपसम्पदा आचार्य अभयदेव से ग्रहण की थी।

कवि ने भरत का नाट्यशास्त्र और कामतन्त्र का अध्ययन कर इस शतक की रचना की है। इस शतक मे कुल १२१ पद्य हैं। वियोगिनी अनुष्टुप्, वसन्ततिलका, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, हरिणी, शिखरिणी पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा आदि छन्दो का प्रयोग कवि ने स्वतन्त्रता से किया है। अलकारो का प्रयोग भी इसमे सुन्दर ढग से हुआ है।

प्रथम पद्य में कवि ने जगदीश्वर की स्तुति की है। द्वितीय पद्य मे सरस्वती और तृतीय पद्य मे कवि-वाणी की प्रशसा है। पद्य ४, ५, ६, ७, मे सज्जन-दुर्जन का उल्लेख है और पद्य ८ से ११९ तक भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभावो के साथ लीलाविलसित नायिका के अगोपांगो का तथा सभोग शृङ्गार का उत्कट स्वरूप वर्णित किया है, जो पठनीय है। पद्य १२० और १२१ मे रचना का कारण और पूर्व कवि तथा उनके ग्रन्थों का उपजीव्य हूँ कहकर स्वनामोल्लेख किया है। इसका विशेष वर्णन कवि-प्रतिभा मे द्रष्टव्य है।

१५-२०. चरित्र-षट्क

इस चरित्र षट्क मे १ आदिनाथ, २ शान्तिनाथ, ३ नेमिनाथ, ४ पार्श्वनाथ और ५, ६ महावीर देव इन छ चरित्रो का सक्षिप्त समावेश है। इसमे पद्यो की सख्या क्रमश इस प्रकार है २५, ३३, १५, १५, ४४ और १५। ये छहो चरित्र प्राकृत भाषा मे हैं और सभी चरित्रों मे कवि ने आर्या छन्द का ही प्रयोग किया है। केवल ५वें महावीर-चरित्र मे प्रथम पद्य मालिनी वृत्त और अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित वृत्त मे है। चरित्रो मे घटना बाहुल्य होने के कारण अलंकारो का समावेश इनमे नही के समान ही है किन्तु विशेषणो मे कहीं-कहीं रूपक और उपमा अलकार अवश्य ही प्राप्त हो जाते है। छहो चरित्रो का साराश इस प्रकार है।

चरित्रों की सामान्य घटनायें

	आदिनाथ	शान्तिनाथ	नेमिनाथ	पार्श्वनाथ	महावीर	महावीर
भवसंख्या	१३	१२	९	१०	२७	
च्यवनस्थान	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	अपराजित	प्राणत	प्राणत	प्राणत
च्यवनस्थान स्थिति	३३ सागरोपम	३३ सागरोपम	३२ सागरोपम	२० सागरोपम	२० सागरोपम	
च्यवनतिथि	आषा कृ ४	भा कृ ७	का कृ १२	चै कृ ४	आषा शु ६	आ शु.६
च्यवननक्षत्र	उत्तराषाढा	भरणी	चित्रा	विशाखा	उत्तराफाल्गुनी	
१४ स्वप्न	प्रथम वृषभ	प्रथम गज	प्रथम गज वि अग्निचन्द्र	प्रथम गज	प्रथम सिंह	
गर्भपरिवर्तन तिथि					आश्विन कृ १३	आश्विन कृ १३
गर्भपरिवर्तन नक्षत्र					उत्तराफाल्गुनी	
जन्मभूमि	इक्ष्वाकु, विनीता	हस्तिनापुर	सौरिपुर	बनारस	क्षत्रियकुण्ड	
जन्मतिथि	चै कृ ८	ज्ये कृ.१३	श्रा.शु ५	पौ कृ १३	चै शु १३	चै शु १३
जन्मनक्षत्र	उत्तराषाढा	भरणी	चित्रा	विशाखा	उत्तराफाल्गुनी	
राशि	धनु	मेष	कन्या	तुला	कन्या	
पितृनाम	नाभि	विश्वसेन	समुद्रविजय	अश्वसेन	सिद्धार्थ (ऋषभदत्त)	सिद्धार्थ (ऋषभदत्त)
मातृनाम	मरुदेवी	अचिरा	शिवा	वामा	त्रिशला (देवानंदा)	त्रिशला (देवानंदा)
वंशनाम	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	हरिवंश	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	
गोत्र	काश्यप	काश्यप	गौतम	काश्यप	ज्ञात	
शरीरवर्ण	सुवर्णवर्ण	सुवर्णवर्ण	कृष्णवर्ण	नीलवर्ण	सुवर्णवर्ण	
शरीरपरिमाण	५०० धनुष	४० धनुष	१० धनुष	९ हाथ	७ हाथ	
लाञ्छन	वृषभ	मृग	शंख	सर्प	सिंह	
कुमारकाल	२० लाख पूर्व	२५ हजार वर्ष	३०० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
राज्यकाल	६३ लाख पूर्व	२५ हजार वर्ष मंडलीक और २५ हजार वर्ष चक्रवर्तीराज्य	×	×	×	×
दीक्षा तप	दो उपवास	दो उपवास	दो उपवास	३ उपवास	२ उपवास	
दीक्षा-तिथि	चै कृ ८	ज्ये कृ १४	श्रा शु ६	पौ कृ ११	मार्ग कृ १०	मार्ग कृ १०
दीक्षा-नक्षत्र	उत्तराषाढा	भरणी	चित्रा	विशाखा	उत्तराफाल्गुनी	
दीक्षा-परिवार	४०००	१०००	१०००	३००	एकाकी	
दीक्षा-शिविका	सुदर्शना	सर्वार्थ	उत्तरकुरु	विशाला	चन्द्रप्रभा	
दीक्षा-वन	सिद्धार्थ	सहसाम्र	रैवतगिरि सहसाम्र	आश्रम जनपद	ज्ञातखंडवन	
दीक्षा-वृक्ष	अशोक	अशोक	अशोक	अशोक	अशोक	
प्रथम पारणक	श्रेयांसकुमार	सुमित्र	वरदिन्न	धन्य	बल	
पारणक नगरी	गजपुर		द्वारिका	कोपकडपुर	कोल्लागसन्निवेश	
पारणक भोज्य	इक्षुरस	क्षीर	क्षीर	क्षीर	क्षीर	

	आदिनाथ	शान्तिनाथ	नेमिनाथ	पार्श्वनाथ	महावीर	महावीर
छद्मस्थकाल	१००० वर्ष	१ वर्ष	५४ दिवस	८४ दिवस	१२½वर्ष१पक्ष	१२½वर्ष१पक्ष
ज्ञाननगरी	पुरिमताल, प्रयाग	हस्तिनापुर	गिरिनार	बनारस	जृम्भिकानगरी ऋजुवालुका नदीतट	
ज्ञान वन	शकटमुख	सहसाम्र				
केवलज्ञान-वृक्ष	वट	नन्दि	वेतस	धात्री	साल	
केवलज्ञान-तप	३ उपवास	२ उपवास	३ उपवास	३ उपवास	२ उपवास	
केवलज्ञान-तिथि	फा कृ ११	पो शु ९	आ कृ १५	चै कृ ४	वै शु १०	वै शु १०
केवलज्ञान-नक्षत्र	उत्तराषाढा	भरणी	चित्रा	विशाखा	उत्तराफाल्गुनी	
महाव्रत	५	४	४	४	५	
गणधर संख्या	८४	३६	१८	१०	११	
गण संख्या	८४	३६	१८	१०	९	
साधु संख्या	८४ हजार	६२ हजार	१८०००	१६०००	१४०००	
साध्वी संख्या	३०००००	६१६००	४००००	३८०००	३६०००	
श्रावक संख्या	३०५०००	१९००००	१६९०००	१६४०००	१५९०००	
श्राविका संख्या	५५४०००	३९३०००	३३६०००	३३९०००	३१८०००	
१४ पूर्वी संख्या	४७५०	८००	४००	७५०	३००	
अवधिज्ञानी संख्या	९०००	३०००	१५००	३०००	१३००	
केवलज्ञानी संख्या	२००००	४३००	१५००	१०००	७००	
वैक्रियलब्धि धारी संख्या	२०६००	६०००	१५००	११००	७००	
वादी संख्या	१२६५०	२४००	८००	६००	४००	
मनपर्यवी संख्या	१२६५०	४०००	१०००	७५०	५००	
अनुत्तरोपपातिक गमन-गामी संख्या	३२९००		१६००	१२००	८००	
प्रमुख उपासक	भरत	[चक्रायुध]	कृष्ण	अश्वसेन	श्रेणिक	
यक्ष	[गोमुख]	कन्दर्प (गरुड)	[गोमेध]	[पार्श्व]	मातंग	
यक्षिणी	[चक्रेश्वरी]	[निर्वाणी]	[अम्बिका]	[पद्मावती]	सिद्धायिका	
श्रमणवर्ष पर्याय	१ लाख पूर्व	२५ हजार वर्ष	७०० वर्ष	७० वर्ष	४२ वर्ष	
आयुष्य	८४ लाख पूर्व	१ लाख वर्ष	१००० वर्ष	१०० वर्ष	७२ वर्ष	
मोक्षपरिवार	१००००	९००	५३६	३३	एकाकी	
मोक्ष संलेखना	६ उपवास	एकमास	एकमास	एकमास	२ उपवास	
निर्वाण तिथि	माघ कृ १३	ज्यै कृ १३	आषाढ शु ८	श्रा शु ८	का कृ १५	का.कृ १५
निर्वाण नक्षत्र	अभीची	भरणी	चित्रा	विशाखा	स्वाति	
निर्वाण स्थान	अष्टापद	सम्मेतशिखर	गिरनार	सम्मेतशिखर	मध्यपापा (पावापुरी)	

भगवान् आदिनाथ के तेरह भव

भवसंख्या	नाम	नगरी	भवसंख्या	देवलोक	नाम
१	धन		२	उत्तरकुरु	युगलिक
४	महाबल	अपरविदेह	३	सौधर्म	देव
६	वज्रजंघ	पूर्वविदेह	५.	श्रीप्रभविमान	ललिताङ्ग देव
७	युगलिक	उत्तरकुरु	८.	सौधर्म	देव
९	वैद्यसुत जीवानंद	द्वादशम-विजय	१०	अच्युत	"
११.	वज्रनाभ चक्री अष्टम	विजय	१२.	सर्वार्थसिद्ध	"
१३.	आदिनाथ	विनीता			

भगवान् शान्तिनाथ के १२ भव

१	श्रीषेण	रत्नपुर	२.	सौधर्म	देव
३	युगलिक	उत्तरकुरु	५.	प्राणत	"
४.	खेचरेन्द्र-अमिततेज	रथनूपुर-चक्रवाल	७.	अच्युत	इन्द्र
६.	अपराजित	सुभगापुरी	९.	नवमग्रैवेयक	देव
८	वज्रायुध चक्री	रत्नसंचया	११.	सर्वार्थसिद्ध	देव
१०.	मेघरथ	पुण्डरीकिणि	१२.	शान्तिनाथ	

भगवान् नेमिनाथ के ९ भव

१	धनकुमार	अचलपुर	२.	सौधर्म	देव
३.	चित्रगति	सूरतेजनगर	४.	माहेन्द्र	"
५.	अपराजित	सिंहपुर	६.	आरण्य	"
७.	शंखकुमार	हस्तिनापुर	८.	अपराजित	"
९	नेमिनाथ				

भगवान् पार्श्वनाथ के १० भव

१	मरुभूति	पोतनपुर	३.	अष्टम देवलोक	देव
२	हस्ति	विन्ध्याटवी	५.	अच्युत	देव
४	किरणवेग	तिलकानगरी	७.	ग्रैवेयक	"
६	वज्रनाभ	शुभकरानगरी	९.	प्राणत	"
८.	चक्री सुवर्णबाहु	पुराणपुर	१०.	पार्श्वनाथ	

भगवान् महावीर के २७ भव

१	नयसार कणधारी,	प्रतिष्ठान पुर	२.	प्रथम देवलोक	देव
३	मरीचि, भरतपुत्र	अयोध्या	४	पंचम देवलोक	,,
५	ब्राह्मण		६.	देवलोक	,,
७	,,		८.	,,	,,
९.	,,		१०.	,,	,,
११	,,		१२.	,,	,,
१३	,,		१४.	,,	,,
१५	,,		१६.	,,	,,
१७	विश्वभूति	राजगृही	१८.	,,	,,
१९	त्रिपृष्ठ वासुदेव	पोतनपुर	२०.	सप्तम नरक	
२१	सिंह		२२.	चतुर्थ नरक	
२३	प्रियमित्र चक्रवर्ती	मूकानगरी	२४.	सप्तम देवलोक	देव
२५	नन्दन	छत्राग्रापुरी	२६.	दसम देवलोक	देव
२७.	महावीर देव				

प्रत्येक चरित्र की पृथक्-पृथक् विशेषतायें:

आदिनाथ चरित्रः—प्रथम और द्वितीय पद्य मे भगवान् आदिनाथ को नमस्कार कर 'चरित' कहने की कवि प्रतिज्ञा करता है और अन्तिम २५ वें पद्य मे कवि अपना नाम देता हुआ परमपद प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट करता है। तृतीय पद्य मे पूर्वभव के वर्णन मे धन नामक सार्थवाह मुनि को दान देने के प्रताप से सम्यक्त्व (बोधिलाभ) प्राप्त करता है। पाचवें पद्य में साधु की चिकित्सा से वह 'चक्रवर्ती' नाम कर्म उपार्जन करता है। छठे पद्य मे वीसस्थानक[1] सेवन से तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित करता है और १२ वें पद्य मे इक्ष्वाकुवश की उत्पत्ति का कारण बताया है।

शान्तिनाथ चरित्र—प्रथम और द्वितीय पद्य में १६ वें तीर्थंकर और पचम चक्रवर्ती भगवान् शान्तिनाथ को नमस्कार कर शान्तिनाथ का सक्षेप मे जीवन चरित कहने की प्रतिज्ञा है और अन्तिम पद्य मे मोक्षपद की याचना की गई है। १२ वें पद्य मे 'गुप्तगर्भ' का उल्लेख है और पद्य १७ से २२ तक मे चक्रवर्ति ऋद्धि का उल्लेख इस प्रकार किया गया है.

[1] वीसस्थानक निम्नलिखित हैं—अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय, साधु ज्ञान दर्शन, विनय, चारित्र, ब्रह्मचर्य, क्रिया, तप, सुपात्रदान, वैयावृत्य, समाधि, अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति, प्रवचनप्रभावना।

करना, वर्षीदान देना तथा दीक्षा पश्चात् देवदूष्य वस्त्र धारण करना आदि समग्र कृत्य तीर्थंकरो के लिये होते ही हैं। अतः उनका वर्णन सभी चरित्रो मे किया गया है।

२१. चतुर्विंशति-जिन-स्तोत्राणि

इसमे कवि ने प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन के १५ प्रसंगो का उल्लेख बड़ी सफलतापूर्वक किया है। पद्यो की कुल सख्या १४५ है, जिसमें अन्तिम पद्य कविनाम गर्भित उपसंहार का है। इसकी भाषा प्राकृत और छन्द आर्या है।

वस्तुतः चरित्र पट्कान्तर्गत ६३ प्रसंगों और इस स्तोत्र के अन्तर्गत विषयों का आश्रय लेकर परवर्ती कवियो ने 'सप्ततिशतस्थानक प्रकरण' आदि ग्रन्थो की रचना की है। श्वेताम्बर जैन-साहित्य मे इस प्रकार की तथा पचकल्याणक गर्भित स्तोत्रादि कृतियो के प्रादुर्भाव का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य जिनवल्लभ को ही है।

इस स्तोत्र मे वर्णित विषय को निम्नलिखित ढग से दिखाया जा सकता है

क्रमाङ्क	तीर्थङ्कर नाम	च्यवन स्थान	च्यवन तिथि	जन्म भूमि
१	श्री आदिनाथ	सर्वार्थसिद्ध	आषाढ कृ० ४	विनीता
२	" अजितनाथ	विजय	वैशाख शु० १३	"
३	" सभवनाथ	सप्तम ग्रैवेयक	फाल्गुन शु० ८	श्रावस्ती
४	" अभिनन्दन	जयन्त	वै० शु० ४	विनीता
५.	" सुमतिनाथ	जयन्त	श्रा० शु० २	कोशल
६	" पद्मप्रभ	नवम ग्रैवेयक	माघ कृ० ६	कौशाम्बी
७.	" सुपार्श्वनाथ	षष्ठ० ग्रैवेयक	भा० कृ० ८	वाराणसी
८	" चन्द्रप्रभ	वैजयन्त	चै० कृ० ५	चन्द्रपुरी
९.	" सुविधिनाथ	प्राणत	फा० कृ० ९	काकदी
१०	" शीतलनाथ	प्राणत	वै० कृ० ६	भद्दिलपुर
११.	" श्रेयांसनाथ	अच्युत	ज्ये० कृ० ६	सिंहपुरी
१२.	" वासुपूज्य	प्राणत	ज्ये० शु० ९	चम्पापुरी
१३.	" विमलनाथ	सहस्रार	वै० शु० १२	कम्पिलपुर
४	" अनन्तनाथ	प्राणत	श्रा० कृ० ७	अयोध्या
१५.	" धर्मनाथ	विजय	वै० शु० ७	रत्नपुरी
१६	" शान्तिनाथ	सर्वार्थसिद्ध	भा० कृ० ७	हस्तिनापुर
१७.	" कुन्थुनाथ	"	श्रा० कृ० ९	"
१८	" अरनाथ	"	फा० शु० २	"
१९	" मल्लिनाथ	जयन्त	फा० शु० ४	मिथिला
२०.	" मुनिसुव्रत	अपराजित	श्रा० शु० १५	राजग्रही
२१	" नमिनाथ	प्राणत	आश्विन शु० १५	मिथिला
२२.	" नेमिनाथ	अपराजित	का० कृ० १२	शौरीपुर
२३.	" पार्श्वनाथ	प्राणत	चै० कृ० ४	वाराणसी
२४.	" महावीर	प्राणत	आषाढ शु० ६	क्षत्रियकुण्ड

जन्मतिथि	शरीरवर्ण	राशि	दीक्षातप	दीक्षापरिवार	छद्मस्थकाल	ज्ञाननगरी
चै० कृ० ८	स्वर्णवर्ण	धनु	दो उपवास	४०००	१००० वर्ष	पुरिमताल (प्रयाग)
मा० शु० ८	,,	वृष	,,	१०००	१२ वर्ष	सहसाम्रवन (अयोध्या)
मार्गशीर्ष शु० १४	,,	मिथुन	,,	१०००	१४ ,,	,, (श्रावस्ती)
मा० शु० २	,,	,,	,,	१०००	१८ ,,	,, (अयोध्या)
वै० शु० ८	,,	सिंह	नित्यभक्त	१०००	२० ,,	,, (कौशाम्बी)
का० कृ० १२	रक्तवर्ण	कन्या	दो उपवास	१०००	६ महीने	,, (वाराणसी)
ज्ये० शु० ४	स्वर्णवर्ण	तुला	,,	१०००	९ महीने	,, (चन्द्रपुरी)
पौ० कृ० १२	श्वेतवर्ण	वृश्चिक	,,	१०००	३ ,,	,, (काकदी)
मार्ग० कृ० ५	श्वेतवर्ण	धनु	,,	१०००	४ ,,	,, (भद्दिलपुर)
मा० कृ० १२	स्वर्णवर्ण	,,	,,	१०००	३ ,,	,, (सिंहपुरी)
फा० कृ० १२	,,	मकर	,,	१०००	२ वर्ष	विहारगृह(चम्पापुरी)
फा० कृ० १२	रक्तवर्ण	कुम्भ	चतुर्थभक्त	६००	१ ,,	सहसाम्रवन (कम्पिलपुर)
मा० शु० ३	स्वर्णवर्ण	मीन	दो उपवास	१०००	२ ,,	,, (अयोध्या)
वै० कृ० १३	,,	मीन	,,	१०००	३ ,,	वप्पगाए (रत्नपुरी)
मा० शु० ३	,,	कर्क	,,	१०००	२ ,,	सहसाम्रवन (हस्तिनापुर)
ज्ये० कृ० १३	,,	मेष	,,	१०००	१ ,,	,, (हस्तिनापुर)
वै० कृ० १४	,,	वृष	,,	१०००	१६ ,,	,, (हस्तिनापुर)
मार्ग० शु० १०	,,	मीन	,,	१०००	३ ,,	,, (मिथिला)
मार्ग० शु० ११	नीलवर्ण	मेष	३ उपवास	३००	अहोरात्र	,, (राजगृह)
ज्ये० कृ० ८	कृष्णवर्ण	मकर	दो उपवास	१०००	११ मास	,, (राजगृह)
श्रा० कृ० ८	स्वर्णवर्ण	मेष	,,	१०००	९ मास	गिरनार
श्रा० शु० ५	कृष्णवर्ण	मिथुन	,,	१०००	५४ दिवस	वाराणसी
पौ० कृ० १०	नीलवर्ण	तुला	३ उपवास	३००	८४ दिवस	ऋजुवालिका नदी
चै० शु० १३	स्वर्णवर्ण	कन्या	दो उपवास	एकाकी	१२½ वर्ष १ पक्ष	

ज्ञानतिथि	दीक्षा पर्याय	आयुष्य	निर्वाणतिथि	निर्वाणस्थान
फा० कृ० ११	१ लाख पूर्व	८४ लाख पूर्व	माघ० कृ० १३	अष्टापद
पौ० शु० ११	,,	७२ ,, ,,	चै० शु० ५	सम्मेतशिखर
का० कृ० ५	,,	६० ,, ,,	चै० शु० ५	,,
पौ० शु० १४	,,	५० ,, ,,	वै० शु० ८	,,
चै० शु० ११	,,	४० ,, ,,	चै० शु० ९	,,
चै० शु० १५	,,	३० ,, ,,	मार्ग० कृ० ११	,,
फा० कृ० ६	,,	२० ,, ,,	फा० कृ० ७	,,
फा० कृ० ७	,,	१० ,, ,,	भा० कृ० ७	,,
का० शु० ३	५० हजार पूर्व	२ ,, ,,	भा० शु० ९	,,
पौ० कृ० १४	२५ हजार पूर्व	१ ,, ,,	वै० कृ० २	,,
मा० कृ० १५		८४ लाख वर्ष	श्रा० कृ० ३	,,
मा० शु० २		७२ ,, ,,	आ० शु० १४	चम्पापुरी
पौ० शु० ६		६० ,, ,,	आ० कृ० ७	सम्मेतशिखर
वै० कृ० १४		३० ,, ,,	चै० शु० ५	,,

निधान	९	संवाह	१४०००
यक्ष	१६०००	खेटक	१६०००
राजा	३२०००	आगर	२००००
रानी	६४०००	पुर	७२०००
ग्राम	९६००००००	द्रोणमुख	९९०००
सेना [पैदल]	९६००००००	मडंब	८४०००
हाथी	८४०००००	कब्बड	८४०००
घोडा	८४०००००	पत्तन	१६८०००
रथ	८४०००००	रत्न	१४
नाटक	३२		

नेमिनाथ चरित्र —प्रथम पद्य में भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार कर उनका संक्षेप में जीवन चरित्र कहने की कवि प्रतिज्ञा करता है और अन्तिम १५ वें पद्य में कल्याण की अभिलाषा करता है। चौथे पद्य में यदुवंशीय नेमिनाथ द्वारा 'राजीमती'[1] को त्याग कर दीक्षा ग्रहण किये जाने का उल्लेख

पार्श्वनाथ चरित्र —जिनके मस्तक पर सर्पराज की फणायें रक्षक की तरह सुशोभित हो रही हैं उन पार्श्वनाथ को नमस्कार करके चरित्र का प्रारम्भ होता है। पाचवें पद्य में कमठ नामक तापस को प्रतिबोध देने का उल्लेख सामान्य घटनाओं के साथ-साथ किया गया है।

महावीर चरित्र —प्रथम पद्य में पापरूपी रेणु का नाश करने में वायु सदृश, मोह-रूपी कर्दम को क्षालन करने में जल सदृश, कामदेव पर विजय प्राप्त करने वाले जिनेश्वर महावीर को नमस्कार करके उन्हीं का संक्षेप जीवन-वृत्त कहने की कवि प्रतिज्ञा करता है और अन्तिम पद्य में पुण्यानुबंधिगुणप्रदान करने के लिये जिनदेव के चरणों में अञ्जलि प्रस्तुत की गई है। तृतीय पद्य में बतलाया गया है कि भगवान् आदिनाथ के मुख से अपने गौरवमय भविष्य का समाचार पाकर गर्वोत्फुल्ल होने से, मरीचि ने एक कोटाकोटि सागरोपम की भव-वृद्धि किस प्रकार उपार्जित की। इसी कारण कवि ११ वें से १३ वें पद्य में कहता है कि इस अशुभ बंधन के कारण ही महावीर का जीव ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। ८२ दिवस व्यतीत होने पर इन्द्र की आज्ञा से हरिनैगमेषि नामक देव ने गर्भ परिवर्तन कर ज्ञातवंशीय सिद्धार्थ की पत्नी तथा महाराजा चेटक की भगिनी त्रिशला की कुक्षि में संचार किया। ७ वें पद्य में नन्दन राजर्षि के भव में प्रव्रज्या ग्रहण करने पर एक लाख वर्ष पर्यन्त चारित्र का आपने पालन किया था। इस अवधि में आपने सर्वदा मास-क्षमण की तपस्या की थी।

१५ वें और १६ वें पद्य में कवि नामकरण का रहस्य बतलाता है। वह कहता है कि आपके उत्पन्न होने से ज्ञात कुल में धन, धान्य आदि समग्रवस्तुओं की वृद्धि हुई इसीलिये

१ भोजवंशीय महाराजा उग्रसेन की पुत्री।

मात-पिता ने वर्धमान और जन्मोत्सव के समय आपके माहात्म्य को देखकर इन्द्रादि देवताओं ने आपका महावीर नाम रक्खा।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् महावीर को जो जो प्रमुख उपसर्ग हुए और आपने कष्टदाताओ के प्रति जो प्रेम भाव रखा तथा कष्टो पर जिस अनुपम आत्मिक बल से विजय प्राप्त की उस सब का वर्णन २१ वे से २६ वे पद्य तक किया गया है। इन उपसर्गो मे १ कुमार ग्राम के बाहर गोपालक, २ तरुण, तरुणियो, भ्रमरो आदि, ३ शूलपाणी यक्ष, ४. चण्डकौशिक सर्प तथा ५ संगम देव द्वारा किये गये उपसर्गो के अतिरिक्त एक रात्रि मे २० प्रकार के अन्य भयङ्कर उपसर्ग तथा गोप द्वारा उनके कानो म कासे की शलाका डालने की घटना का समावेश किया गया है।

पद्य २७ से ३० तक भगवान् की उग्र तपश्चर्या का वर्णन किया गया है जिसके अनुसार १ छमासी, ६ चातुर्मासी, ३ तीन मासी, ६ दो मासी, १२ एक मासी, ७२ अर्धमासी, २ अढीमासी, भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, और सर्वतोभद्रप्रतिमा (जो आपने एक साथ ही की थी), १२ तीन अहोरात्रि प्रतिमा तथा ५ मास २५ दिवस की तपस्या (जिसका पारणक चम्पानगरीय दधिवाहन की पुत्री चन्दनबाला के हाथ से कौशाम्बी मे हुआ था) को लेकर भगवान की १२ वर्ष ६ मास एक पक्ष की उस दीर्घ तपस्या का वर्णन किया गया है जिसमे आपने केवल २४८ दिवस ही भोजन ग्रहण किया था।

३२ वें से ३३ वे पद्य तक केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर तथा प्रथम देशना निष्फल होने पर उसी रात्रि को १२ योजन विहार करके पावापुरी नगरी के महसेन उद्यान मे भगवान् के पधारने तथा चतुर्विध सघ की स्थापना का उल्लेख है।

पद्य ३९ और ४० मे भगवान् की प्रशसा करता हुआ, भवितव्यता वश गोशालक द्वारा होने वाले उपसर्ग का वर्णन किया गया है। यही भगवान् की परोपकारिता का उल्लेख करते हुए विप्र ऋषभदत्त और देवानन्दा को मुक्तिप्रदान करने का भी उल्लेख है।

वीर चरित.— इस चरित्र मे ८ से ११ तक के केवल चार पद्य ही बड़े महत्त्व के हैं जिनमे कवि ने कर्म की विचित्र गति का सुन्दर चित्र दिखाया है

देवेन्द्र स्तुत त्रिजगत्प्रभु तथा त्रिभुवन के अनन्यमल्ल होने पर भी आपको मरीचि के भव मे उपार्जित पाप का लवलेश रहने के कारण गोपादि से अनेक प्रकार की कदर्थना सहन करनी पडी। आह! कर्मगति विचित्र है कि स्त्री, गाय, ब्राह्मण तथा बालक की हत्या और महापाप करने वाले दृढप्रहारी आदि पुरुष तो उसी भव मे सिद्ध हो गये किन्तु आपको १२॥ वर्ष एक पक्ष तक कष्ट सहन करने के पश्चात् ही कैवल्य पद प्राप्त हुआ।

सामान्य-प्रसंग

तीर्थंकर के भव से तीसरे पूर्वभव मे बीस स्थानक तप की आराधना करना, कुक्षि मे उत्पन्न होने पर माता द्वारा १४ स्वप्न देखना और उसी दिवस से घर मे समग्र वस्तुओ की वृद्धि होना, जन्म होने पर ५६ दिक्कुमारियो और ६४ इन्द्रो द्वारा मेरु पर्वत पर जन्मोत्सव मनाना, जन्म से ही तीन ज्ञान सयुक्त होना, प्रव्रज्या पूर्व लोकान्तिक देवो द्वारा बोध प्राप्त

ज्ञानतिथि	आयुष्य	निर्वाणतिथि	निर्वाणस्थान
पौ० शु० १५	१० लाख वर्ष	ज्ये० शु० ५	सम्मेतशिखर
पौ० शु० ६	१ ,, ,,	ज्ये० शु० १३	,,
चै० शु० ३	९५ हजार ,,	वै० कृ० १	,,
का० शु० १२	८४ ,, ,,	मार्ग० शु० १०	,,
मार्ग० शु० ११	५५ ,, ,,	फा० शु० १२	,,
फा० कृ० १२	३० ,, ,,	ज्ये० कृ० ९	,,
मार्ग० शु० ११	१० ,, ,,	वै० कृ० १०	,,
आश्विन कृ० १५	१ ,, ,,	आ० शु० ८	गिरनार
चै० कृ० ४	सौ वर्ष	श्रा० शु० ८	सम्मेतशिखर
वै० शु० १०	७२ वर्ष	का० कृ० १५	पावापुरी

२२. चतुर्विंशति-जिन-स्तुतयः

स्तुति 'थुई' की परम्परानुसार प्रथम पद्य में नाम विशेष तीर्थंकर की, द्वितीय पद्य में सामान्य जिनेश्वरों के गुणों की तृतीय पद्य में जिनागम-जिनवाणी की और चतुर्थ पद्य में श्रुतदेवता या तीर्थंकर के शासन देवता की स्तवना की जाती है। इस मान्यता के अनुसार स्तुति-साहित्य के सर्वप्रथम सर्जकों में संस्कृत भाषा में रचना करने वाले महाकवि धनपाल के अनुज श्री शोभनमुनि और प्राकृत भाषा में गुम्फन करने वाले आचार्य जिनवल्लभ हैं। परवर्ती स्तुतिकार कवियों के प्रेरक ये दोनों आचार्य ही हैं।

९६ वें गाथा की 'चतुर्विंशति-जिन-स्तुतय' नामक लघु कृति में ४-४ गाथाओं में प्रत्येक तीर्थङ्कर की स्तुति की गई है। इन २४ स्तुतियों में उक्त परम्परा का पालन तो किया ही गया है। साथ ही प्रत्येक स्तुति के प्रथम पद्य में तीर्थंकर-नाम के साथ, छह अन्य वर्ण्य-विषयों का भी समावेश किया गया है, जो इन स्तुतियों का वैशिष्ट्य है। ये ६ वर्ण्य-विषय निम्न हैं १ तीर्थंकर की माता का नाम, २ पिता का नाम, ३ लक्षण, ४ शरीर का देहमान, ५ जिस देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में आये उस देवलोक का नाम और ६. जिस नक्षत्र में देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में आये उस नक्षत्र का नाम

तीर्थंकरनाम	मातृनाम	पितृनाम	लक्षण	धनुष्काय	देवलोक	च्यवन नक्षत्र	श्रुत देवता
ऋषभ	मरुदेवी	नाभि	वृषभ	५००	सर्वार्थसिद्ध	उत्तराषाढा	सरस्वती
अजित	विजया	जितशत्रु	गज	४५०	विजय	रोहिणी	रोहिणी
सम्भव	सेना	जितारि	हय	४००	ग्रैवेयक	मृगशिरा	प्रज्ञप्ति
अभिनन्दन	सिद्धार्था	सवर	कपि	३५०	जयन्त	पुनर्वसु	वज्रशृङ्खला
सुमति	मङ्गला	मेघ	क्रौंच	३००	,,	मघा	वज्राकुशी
पद्मप्रभ	सुसीमा	धर	कमल	२५०	ग्रैवेयक	चित्रा	अप्रतिचक्रा
सुपार्श्व	पृथिवी	प्रतिष्ठ	स्वस्तिक	२००	,,	विशाखा	पुरुषदत्ता
चन्द्रप्रभ	लक्ष्मणा	महसेन	चन्द्र	१५०	वैजयन्त	अनुराधा	काली

तीर्थंकरनाम	मातृनाम	पितृनाम	लक्षण	धनुष्काय	देवलोक	च्यवन नक्षत्र	श्रुत देवता
सुविधि	रामा	सुग्रीव	मकर	१००	आनत	मूल	महाकाली
शीतल	नन्दा	दढरथ	श्रीवत्स	९०	प्राणत	पूर्वाषाढा	गौरी
श्रेयांस	विष्णु	विष्णु	गेण्डा ?	८०	अच्युत	श्रवण	गान्धारी
वासुपूज्य	जया	वसुपूज्य	महिष	७०	प्राणत	शतभिषा	सर्वास्त्रमहा-ज्वाला
विमल	श्यामा	कृतवर्म	वराह	६०	सहस्रार	उत्तरभाद्रपद	मानवी
अनन्त	सुयशा	सिंहसेन	श्येन	५०	प्राणत	रेवती	फणिराजजाया ?
धर्म	सुव्रता	भानु	वज्र	४५	विजय	पुष्य	अच्छुप्ता
शान्ति	अचिरा	विश्वसेन	हरिण	४०	सर्वार्थ	भरणी	मानसी
कुन्थु	श्री	सूर	छाग	३५	,	कृतिका	महामानसी
अर	देवी	सुदर्शन	नन्दावर्त्त	३०	,,	रेवती	शान्ति
मल्लि	प्रभावती	कुम्भ	कलश	२५	जयन्त	अश्विनी	ब्रह्मशान्ति
मुनिसुव्रत	पद्मावती	सुमित्र	कूर्म	२०	आनत	श्रवण	अम्बा
नमि	वप्रा	विजय	उत्पल	१५	प्राणत	अश्विनी	?
नेमि	शिवा	समुद्रविजय	शंख	१०	अपराजित	चित्रा	अम्बा
पार्श्व	वामा	अश्वसेन	सर्प	९ हाथ	प्राणत	विशाखा	सरस्वती
वीर	त्रिशला	सिद्धार्थ	सिंह	७ हाथ	प्राणत	हस्तोत्तरा	?

२३. सर्वजिनपञ्चकल्याणक-स्तोत्र

इस स्तोत्र मे कवि ने २४ तीर्थंकरो के पाचो कल्याणको के समय का वर्णन मास-तिथि आदि पूर्वक २६ आर्याओ मे किया है। जिसमे प्रथम पद्य मे जिनेश्वर को नमस्कार करके चौवीस तीर्थंकर के प्रत्येक के च्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण का वर्णन कहने की प्रतिज्ञा की गई है और २से २६ पद्यो तक मास, तिथि, तीर्थंकर-नाम और कल्याणक का उल्लेख करते हुए "यह पद प्रणतजनो (जिनवल्लभ) को प्राप्त हो" कहकर स्तोत्र पूर्ण किया गया है। स्तोत्र के विषयो का क्रमश वर्गीकरण इस प्रकार है

कार्तिक	कृष्णा	५	संभवनाथ	केवलज्ञान
,,	,,	१२	पद्मप्रभ	जन्म
,,	,,	१२	नेमिनाथ	च्यवन
,,	,,	१३	पद्मप्रभ	दीक्षा
,,	,,	१५	महावीर	निर्वाण
,,	शुक्ला	३	सुविधिनाथ	केवलज्ञान
,,	,,	१२	अरनाथ	,,
मार्गशीर्ष	कृष्णा	५	सुविधिनाथ	जन्म
,,	,,	६	,,	दीक्षा

मार्गशीर्ष	कृष्णा	१०	महावीर	दीक्षा
,,	,,	११	पद्मप्रभ	निर्वाण
,,	शुक्ला	१०	अरनाथ	जन्म
,,	,,	,,	,,	निर्वाण
,,	,,	११	,,	दीक्षा
,,	,,	,,	मल्लिनाथ	जन्म
		११	मल्लिनाथ	दीक्षा
,,	,,	,,	,,	केवलज्ञान
,,	,,	,,	नमिनाथ	,,
,,	,,	१४	संभवनाथ	जन्म
,,	,,	१५	,,	दीक्षा
पौष	कृष्णा	१०	पार्श्वनाथ	जन्म
,,	,,	११	,,	दीक्षा
,,	,,	१२	चन्द्रप्रभ	जन्म
,,	,,	१३	,,	दीक्षा
,,	,,	१४	शीतलनाथ	केवलज्ञान
पौष	शुक्ला	६	विमलनाथ	केवलज्ञान
,,	,,	९	शान्तिनाथ	,,
,,	,,	११	अजितनाथ	,,
,,	,,	१४	अभिनन्दन	,,
,,	,,	१५	धर्मनाथ	,,
माघ	कृष्णा	६	पद्मप्रभ	च्यवन
,,	,,	१२	शीतलनाथ	जन्म
,,	,,	१२	,,	दीक्षा
,,	,,	१३	आदिनाथ	निर्वाण
,,	,,	१५	श्रेयासनाथ	केवलज्ञान
माघ	शुक्ला	२	अभिनन्दन	जन्म
,,	,,	२	वासुपूज्य	केवलज्ञान
,,	,,	३	धर्मनाथ	जन्म
,,	,,	३	विमलनाथ	जन्म
,,	,,	४	,,	दीक्षा
,,	,,	८	अजितनाथ	जन्म
,,	,,	९	,,	दीक्षा
,,	,,	१२	अभिनन्दन	,,
,,	,,	१३	धर्मनाथ	,,

फाल्गुन	कृष्णा	६	सुपार्श्वनाथ	केवलज्ञान
"	"	७	"	मोक्ष
"	"	७	चन्द्रप्रभ	केवलज्ञान
"	"	९	सुविधिनाथ	च्यवन
"	"	११	आदिनाथ	केवलज्ञान
"	"	१२	श्रेयांसनाथ	जन्म
"	"	१२	मुनिसुव्रत	केवलज्ञान
"	"	१३	श्रेयांसनाथ	दीक्षा
"	"	१४	वासुपूज्य	जन्म
"	"	१५	"	दीक्षा
"	शुक्ला	२	अरनाथ	च्यवन
"	"	४	मल्लिनाथ	"
"	"	८	संभवनाथ	"
"	"	१२	मल्लिनाथ	मोक्ष
"	"	१२	मुनिसुव्रत	दीक्षा
चैत्र	कृष्णा	४	पार्श्वनाथ	च्यवन
"	"	४	"	केवलज्ञान
"	"	५	चन्द्रप्रभ	च्यवन
"	"	८	आदिनाथ	जन्म
"	"	८	"	दीक्षा
"	शुक्ला	३	कुन्थुनाथ	केवलज्ञान
"	"	५	अजितनाथ	निर्वाण
"	"	५	अनन्तनाथ	"
"	"	५	संभवनाथ	"
"	"	९	सुमतिनाथ	"
"	"	११	"	केवलज्ञान
"	"	१३	महावीर	जन्म
"	"	१५	पद्मप्रभ	केवलज्ञान
वैशाख	कृष्णा	१	कुन्थुनाथ	मोक्ष
"	"	२	शीतलनाथ	"
"	"	५	कुन्थुनाथ	दीक्षा
"	"	६	शीतलनाथ	च्यवन
"	"	१०	नमिनाथ	निर्वाण
"	"	१३	अनन्तनाथ	जन्म
"	"	१४	"	दीक्षा
"	"	"	"	केवलज्ञान
"	"	"	कुन्थुनाथ	जन्म

वैशाख	शुक्ला	४	अभिनन्दन	च्यवन
"	"	७	धर्मनाथ	"
"	"	८	अभिनन्दन	निर्वाण
"	"	८	सुमतिनाथ	जन्म
"	"	९	सुमतिनाथ	दीक्षा
"	"	१०	महावीर	केवलज्ञान
"	"	१२	विमलनाथ	च्यवन
"	"	१३	अजितनाथ	च्यवन
ज्येष्ठ	कृष्णा	६	श्रेयांसनाथ	"
"	"	८	मुनिसुव्रत	जन्म
"	"	९	"	निर्वाण
"	"	१३	शान्तिनाथ	जन्म
"	"	१३	"	निर्वाण
"	"	१४	"	दीक्षा
"	शुक्ला	५	धर्मनाथ	निर्वाण
"	"	९	वासुपूज्य	च्यवन
"	"	१२	सुपार्श्वनाथ	जन्म
"	"	१३	"	दीक्षा
आषाढ	कृष्णा	४	आदिनाथ	च्यवन
"	"	७	विमलनाथ	निर्वाण
"	"	९	नमिनाथ	दीक्षा
"	शुक्ला	६	महावीर	च्यवन
"	"	८	नेमिनाथ	निर्वाण
"	"	१४	वासुपूज्य	"
श्रावण	कृष्णा	३	श्रेयांसनाथ	"
"	"	७	अनन्तनाथ	च्यवन
"	"	८	नमिनाथ	जन्म
"	"	९	कुन्थुनाथ	च्यवन
"	शुक्ला	२	सुमतिनाथ	"
"	"	५	नेमिनाथ	जन्म
"	"	६	"	दीक्षा
"	"	८	पार्श्वनाथ	निर्वाण
"	"	१५	मुनिसुव्रत	च्यवन
भाद्रपद	कृष्णा	७	शान्तिनाथ	"
"	"	७	चन्द्रप्रभ	निर्वाण
"	"	८	सुपार्श्वनाथ	च्यवन

भाद्रपद	शुक्ला	९	सुविधिनाथ	निर्वाण
आश्विन	कृष्णा	१५	नेमिनाथ	केवलज्ञान
"	शुक्ला	१५	नमिनाथ	च्यवन

२४. सर्वजिनपञ्चकल्याणक स्तोत्र

मदनावतार नामक मात्रिक छन्द मे ग्रथित सामान्य रूप से (अर्थात् जिसमे किसी तीर्थंकर विशेष का नाम न लिया गया हो उसे सामान्य कहते हैं) समग्र तीर्थंकरो के च्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण इन पाच कल्याणकों का गुणगौरव और अतिशयो का वर्णन इसमे किया गया है। नामानुरूप मदनावतार की गेयता इसमे परिपूर्णरूप से लक्षित होती है।

२५. प्रथमजिन स्तव

३३ पद्यात्मक इस स्तोत्र मे यथासामान्य प्रथम तीर्थपति श्रीआदिनाथ के गुणो की स्तवना और स्वय की लघुता प्रदर्शित की गई है।

स्तवना की अपेक्षा भी तद्देशीय प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के छन्दो की विविधता के कारण इसका महत्त्व विशेष है। इसमे दोहा, पद्धटिका, पादाकुलक, वस्तुवदन, मदनावतार, द्विपदी, मात्रा पचपदी, एकावली, क्रीडनक, हक्का, षट्पदी आदि छन्दो का कवि ने स्वतत्रता से प्रयोग किया है। तत्कालीन प्राकृत-अपभ्रंश स्तोत्र साहित्य मे छन्द वैविध्य की दृष्टि से यह रचना संभवत अजितशान्ति स्तोत्र के बाद सर्वप्रथम ही हो। परवर्ती काल मे इन प्राकृत छन्दो का अपभ्र श एव प्राचीन हिन्दी मे प्रचुरता से उपयोग हुआ है।

२६. लघु अजित-शान्तिस्तव

इस स्तोत्र का प्रसिद्ध और अपरनाम 'उल्लासि' है। इसमे द्वितीय जिनेश्वर अजितनाथ और सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ की स्तुति की गई है। श्वेताम्बर जैन-स्तोत्र-साहित्य मे प्रसिद्धतम 'अजितशान्तिस्तव' के अनुकरण पर कवि ने इसकी रचना की है। कोमल-कान्त-पदावली का जो लालित्य और सगीत अजितशान्ति स्तव मे है, उससे कुछ अधिक ही इसमे प्राप्त हो सकती है। जिन पदो मे दोनो तीर्थङ्करो की स्तुति एक साथ की गई हैं, उनमे कवि की शब्द-योजना तथा भाषासौष्ठव देखते ही बनता है।

आचार्य जिनवल्लभ-प्रणीत समग्र प्राकृत स्तोत्रो मे यह सर्वश्रेष्ठ है।

इस स्तोत्र का आज भी खरतरगच्छ समाज मे त्रयोदशी एवं विहार के दिवसो मे पठन-पाठन प्रचलित है और दैनिक सस्मरणीय सप्तस्मरण स्तोत्रो मे इसका द्वितीय स्थान है। इसकी लोकप्रियता और प्रभावोत्पादकता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है!

२७-२९. क्षुद्रोपद्रवहर-पार्श्वनाथ स्तोत्र, स्तम्भनपार्श्वनाथ स्तोत्र एवं महावीर विज्ञप्तिका

क्षुद्रोपद्रवहर पार्श्वनाथ स्तोत्र २२ आर्याओ में ग्रथित है। इस स्तोत्र मे भगवद्गुण-

कीर्तन के साथ भगवन्नाम-माहात्म्य से समस्त प्रकार के आधि-व्याधि उपद्रवों के नाश होने का प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है।

स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र (आर्या छन्द ११) में स्तम्भनपुर के प्रसिद्ध तीर्थपति पार्श्वनाथ की एवं महावीर विज्ञप्तिका (आर्या छन्द १२) में श्रमण भगवान् महावीर की सुन्दर और सुललित पदों में स्तवना की गई है। भाषा प्राकृत और छंद आर्या ही है।

३०. महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञविज्ञप्तिका

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें सर्वज्ञ-जिनेश्वरों की सेवा में कवि ने अत्यन्त ही भक्ति से ओतप्रोत एक विज्ञप्ति की है। कवि सांसारिक भव-बन्धनों से, जन्म, जरा, मरण, दुःख, शोक आदि से त्रस्त होकर सर्वज्ञ-जिनेश्वरों के अपरिमित एवं अनन्त गुणों का संस्मरण करता हुआ तथा उनके सन्मुख अपने अवगुणों की स्पष्ट रूप से निन्दा, गर्हा और प्रायश्चित्त करता हुआ दृष्टिगत होता है। उसकी प्रार्थना है कि भगवान् उसे सम्यक्त्व (बोधि) प्रदान करते हुए शिवनगरी का मार्ग शीघ्र बतायें। इस विज्ञप्ति में ३७ आर्याओं के अतिरिक्त अन्तिम छन्द वसन्ततिलका है।

३१. नन्दीश्वर चैत्य स्तव

नन्दीश्वर नामक अष्टमद्वीप में स्थित शाश्वत ५२ जिनालयों और उनमें प्रत्येक चैत्यालयों में स्थित १२४ जिन-प्रतिमाओं का कवि ने भक्ति पुरस्सर वन्दन करते हुए अपनी लघुयोजना शैली द्वारा पच्चीस आर्याओं में आकर्षक वर्णन किया है।

कवि के वर्णनानुसार प्रत्येक दिशा में अंजनगिरि (कृष्णवर्ण वाले) पर्वत हैं, जिनके नाम हैं—देवरमण, नित्योद्योत, स्वयंप्रभ और रमणीय। प्रत्येक अंजनगिरि के चारों दिशाओं में चार-चार पुष्करिणियां हैं अर्थात् चार अंजनगिरि के चारों तरफ १६ पुष्करिणीयें हैं जो नन्दिषेणा, अमोघा, गोस्तूपा, सुदर्शना, नन्दोत्तरा, नन्दा, सुनन्दा, नन्दिवर्धना, भद्रा, विशाला, कुमुदा, पुण्डरीकिनी, विजया, वैजयन्ती, जयन्ति और अपराजिता के नाम से जानी जाती हैं। प्रत्येक पुष्करिणी के चारों दिशाओं में एक-एक वन खंड हैं जो अशोक वन खण्ड, सप्तपर्ण वन खण्ड, चम्पक वन खण्ड और आम्रवन खण्ड के नाम से विख्यात हैं। अतः कुल ६४ वन खण्ड हुये। प्रत्येक पुष्करिणी के मध्य में एक दधिमुख (श्वेत) गिरि पर्वत होने से कुल १६ दधिमुख पर्वत हैं। प्रत्येक दधिमुखपर्वत के अन्तराल में दो-दो पुष्करिणीयें हैं और प्रत्येक पुष्करिणी के मध्य में दो-दो रतिकर (लालवर्ण) नाम के पर्वत हैं। इस प्रकार कुल ३२ रतिकर पर्वत होते हैं। इस प्रकार समग्र ५२ पर्वत हुए।

प्रत्येक पर्वत के ऊपर एक-एक जिनचैत्य हैं, जिनके प्रत्येक दिशा में चार-चार दरवाजे हैं, जो प्रत्येक में देवद्वार, असुरद्वार, नागद्वार तथा सुपर्णद्वार कहलाते हैं। इन द्वारों से चैत्यालय में देवादि अपने-अपने द्वार से प्रवेश करते हैं। प्रत्येक चैत्य में पांच सौ धनुष प्रमाणोपेत १२० प्रतिमायें हैं। प्रत्येक चैत्य में एक मणिमय वेदिका है और उस पर ऋषभानन, चन्द्रानन, वारिषेण और वर्धमान शाश्वत नामधारक तीर्थंकरों की प्रतिमायें हैं। प्रत्येक प्रतिमा के परिकर में ६ ६ प्रतिमायें अवस्थित हैं।

ये प्रत्येक चैत्य तोरण, ध्वजा, अष्टमगल तथा पूजादि की समग्र सामग्रियो से आकलित हैं। इन चैत्यो मे कल्याणक दिवसो, पर्वतिथि तथा पर्वों मे समग्र प्रकार के देवता आकर द्रव्य और भाव पूजन के साथ भक्ति करते है।

नंदीश्वर द्वीप के अन्तर्मध्य मे ४ रतिकर नामक पर्वत विशेष हैं। इनकी प्रत्येक दिशा मे एक-एक राजधानी होने से कुल १६ राजधानिये हैं, जिनमे ८ सौधर्मेन्द्र की इन्द्राणियो की और ८ ईशानेन्द्र की इन्द्राणियो की हैं, जिनके नाम है—देवकुरा, उत्तरकुरा, नन्दोत्तरा, नन्दायणा, भूता, भूतावसन्ता, मातारमा, अग्निमालिनी, सोमनसा, सुसीमा, सुदर्शना, अमोघा, रत्नप्रभा, रत्ना, सवरत्ना और रत्नसचया। ये सम्पूर्ण नगरिया राजधानीवत् समग्र वस्तुओ से परिपूर्ण हैं। इनमे देवी-देवता निवास करते हैं और क्रीडा पूर्वक अपना समय व्यतीत करते हैं।

प्रत्येक राजधानी मे एक-एक जिनचैत्य (मतान्तरापेक्षया दो-दो) पूर्ववर्णित प्रतिभावो और सामग्रियो से पूर्ण है। केवल इनके ३ दरवाजे होते हैं और शाश्वत नामधारक ४ प्रतिमाओ के अभाव मे १२० प्रतिमाये होती हैं।

इसमे प्रत्येक पर्वत, पुष्करिणी वनखण्ड, नगरी आदि की उच्चता, पृथुता, अधोभाग इत्यादि के परिमाण का उल्लेख किया गया है।

अन्त मे कवि उपसहार करता हुआ सूत्रो के अनुसार २०, वृत्तियो की दृष्टि से ५२, राजधानियो के विचार से १६ तथा मतान्तर से ३२, जिनेश्वरो को नमस्कार करता है जो नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यो मे विराजमान बतलाये गये हैं।

३२. भावारिवारण स्तोत्र

समसंस्कृत प्राकृत भाषा मे साहित्य-सर्जन करना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है, क्योकि दोनो भाषाओ पर जिसका समान अधिकार हो और प्रतिभा हो वही इस शैली का अनुसरण कर सकता है। भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से ऐसे साहित्य की विशेष महत्ता है। इस प्रकार की कृति हमे सवप्रथम याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि की 'ससारदावा' स्तुति मिलती है। प्रस्तुत महावीर स्तोत्र अपरनाम भावारिवारण भी इसी कोटि की सुन्दरतम रचना है।

भक्तामर, कल्याणमन्दिर, सिन्दूरप्रकर की तरह ही 'भावारिवारण' इसका आदि पद होने से यह महावीर स्तोत्र भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार के नाम पडने से यह स्पष्ट ही है कि यह स्तोत्र जनता मे बहुत लोकप्रिय होने से अत्यधिक पढा जाता था। अपनी आलंकारिक योजना, प्रसादगुणवैभव, माधुर्य प्रचुरता, छन्द की गेयता, तथा भावानुकूल शब्द-योजना आदि के कारण इसमे आकर्षण और प्रभाव अधिक है। इस स्तोत्र को साहित्यिक स्तोत्र-साहित्य मे भक्तामर और कल्याणमदिर की कोटि मे सरलता से रखा जा सकता है। स्तोत्र का लक्ष्य भगवान् की गुणगरिमा का गान करके संगीत लहरियो द्वारा आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करना है।

३३. पञ्च कल्याणक स्तोत्र

इसमें स्रग्धरावृत्त मे समग्र जिनेश्वरो के पाचो कल्याणकों के अतिशयो का वर्णन है। प्रत्येक दो-दो श्लोको मे एक-एक कल्याणक का वर्णन है और अन्तिम दो पद्यो मे इन सब का महत्त्व। इसकी रचना अलकार पूर्ण और ओजमयी शैली मे हुई है। इसमे समासो की जटिलता अधिक होते हुए भी सरलता होना ही इसकी विशिष्टता है। इसकी भाषा संस्कृत है।

३४. कल्याणक स्तोत्र

इसमें श्लोक २ से ६ तक एक-एक श्लोक मे एक-एक कल्याणक का वर्णन है और प्रथम तथा अन्तिम पद्य मे इनकी महत्ता वर्णित है। इसमे केवल अनुष्टुप् छन्द का ही कवि ने प्रयोग किया है।

३५-४२. अष्ट स्तोत्र

सर्वजिनेश्वर स्तोत्र और पार्श्वनाथ स्तोत्र सं ३६ से ४२ मे से प्रत्येक स्तोत्र संस्कृत भाषा मे है। इन सब मे न केवल कवि की शब्दचयन शक्ति, उक्ति-वैचित्र्य चित्र-काव्यात्मकता और अलंकार-प्रयोग का तो हमे ज्ञान होता ही है अपितु इसके साथ-साथ ओज के साथ प्रसाद गुण, समास जटिलता के साथ सरलता और व्याकरण के साथ दर्शन का भी सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उपमा, रूपक, अनुप्रास, श्लेप, यमक, निदर्शना, विभावना विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति आदि अलंकार तो इन स्तोत्रों मे इधर-उधर विखरी हुई मणिराजी के समान विखरे हुए दीख पडते है। इन आठो की पृथक्-पृथक् विशिष्टता निम्नलिखित है

३५ सर्वजिन स्तोत्रः—सम्पूर्ण जिनेश्वरो की वसन्ततिलका वृत्त द्वारा २३ पद्यो मे स्तुति की गई है।

३६. पार्श्वजिन स्तोत्र.—तैवीसवें तीर्थंकर आश्वसेनीय पार्श्वनाथ की स्तवना की गई है। कुल श्लोक ३३ है। शिखरिणी, मालिनी, वसन्ततिलका और हरिणी छन्दों के चार अष्टकों मे रचना की गई। अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित मे उपसंहार का है।

इस आद्यस्तोत्र मे उपसंहार के पद्य मे कवि की उस प्रतिभा के वीज का हमे भली भांति दर्शन हो जाता है जो आगे जाकर अंकुरित-पल्लवित और पुष्पित होती हुई नाना रूप ग्रहण करके कवि की यशश्री को वढाती है। प्रथम रचना मे होने वाले गुणापकर्ष के प्रति कवि स्वय सजग है। जैसा कि उसने स्वयं लिखा है.

'अज्ञानाद् भणिति स्थितेः प्रथमकाभ्यासात् कवित्वस्य यत्'

३७ यह पार्श्वस्तोत्र स्रग्धरा छन्द मे ग्रथित है और उपसहार का ९ वां पद्य वसन्ततिलका मे है।

३८ यह पार्श्वनाथ स्तोत्र स्रग्धरा छन्द मे है और इसमे १० श्लोक हैं।

३९ इसके २४ श्लोक हैं। जिनमे २३ श्लोक शिखरिणी और अन्तिम श्लोक शार्दूलविक्रीडित मे है।

४० इसमे १६ मालिनी और १७ वा हरिणी छन्द है।

४१ यह स्तम्भनाधीश पार्श्वजिन स्तोत्र चित्र-काव्यमय है। १० पद्य है। १-९ पद्य अनुष्टुप् हैं और १० वां १५ मात्रिक" "छन्द है। प्रथम पद्य मे चित्र-काव्यो के नाम है और २ से ९ मे शक्ति, शूल, शर, मुसल, हल, वज्र, असि, धनुः चित्रकाव्यो मे गुणवर्णनात्मक जिन स्तुति है। १० वा पद्य उपसहारात्मक है। चित्रकाव्यत्व की दृष्टि से यह लघु रचना आचार्य-श्री की सर्वोत्तम कृति है।

४२ यह स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र चक्रबन्ध काव्यात्मक अष्टक स्तोत्र है। प्रत्येक श्लोक पडारक चक्रबन्ध चित्रकाव्य मे गुंफित है। अष्टम पद्य मे धर्मशिक्षा, सघपट्टक के समान कवि ने 'जिनवल्लभ गणिना' स्वनाम भी अंकित किया है। छन्द शार्दूलविक्रीडित है।

४३ भारती स्तोत्र

जैन-साहित्य मे जिनेश्वर देव की वाणी ही श्रुतदेवता या सरस्वती कहलाती है। वह अन्य देवियो की तरह कोई स्वतन्त्र शक्ति नही है। यही कारण है कि स्वतन्त्र रूप से 'सरस्वती' पर स्तोत्र-साहित्य नही मिलता। प्राचीन जैन ग्रन्थकारो ने ग्रन्थारंभ मे प्राय. सरस्वती का स्मरण अवश्य किया है किन्तु जिनवाणी के रूप मे ही।

आचार्य जिनवल्लभ ने इसी सरस्वती को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार कर इस स्तोत्र की रचना की है। इन्ही के चरण-चिह्नो पर चल कर परवर्ती कवियो ने इसको सरस्वती देवी के रूप मे स्वीकार किया है। इसी के पश्चात् सरस्वती देवी की मूर्तियो का निर्माण भी प्रारंभ हुआ। युगप्रवरागम जिनपतिसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने स १३१७ मे भीमपलासी स्थान पर ५१ अगुल परिमाण की मूर्ति की प्रतिष्ठा[1] की ही थी। कुछ विद्वानो के मतानुसार सरस्वती की प्राचीनतम प्रतिमाये जैनो द्वारा ही स्थापित हुई है।

हरिणीवृत्त मे ग्रथित यह भारती स्तोत्र २५ श्लोको मे है। रचना की शैली सदा की भाति ही सालंकारिक, सुललितपदा तथा विदग्धमनोहरा है। सरस्वती का स्वतन्त्र स्वरूप स्थापित करते हुए भी कवि ने उसका जिनवाणीरूप दृष्टि से ओझल नही होने दिया है। इसी-लिये वह भारती से 'परमविरतं' की याचना करता है।

४४. नवकार स्तोत्र

नवकार मत्र समस्त जैन सम्प्रदायो मे सर्वश्रेष्ठ मन्त्र माना जाता है। इसे १४ पूर्वो का सार स्वीकार करते हुए जैन सम्प्रदाय इसकी महत्ता के सम्मुख चिन्तामणिरत्न, कल्पवृक्ष, चित्रावेली, रत्नराशि तथा कामकुम्भ को भी तुच्छ गिनता है। शत्रुञ्जय तीर्थ के समान ही इस मन्त्र को प्रमुखता प्रदान की गई है।

इस नवकार मन्त्र मे अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओ को पच परमेष्ठि रूप मे स्वीकार किया गया है। उसके आराधक को 'सर्वपाप विनिर्मुक्त' होने का

१ युगप्रधानाचार्य गुर्वावली पृ० ५१

फल प्राप्त होता माना जाता है। इस स्तोत्र में भी प्रथम और दूसरे पद्य में इसकी महत्ता का निर्देश है। तीसरे से आठवें तक पंच परमेष्ठि का स्वरूप और ध्यान तथा आराधन की विधि है तथा ९ से १३ तक इसके आराधन से फल प्राप्त करने वाले कतिपय आराधकों के नाम तथा इससे होने वाले अनेक प्रकार के फलों और सिद्धियों का वर्णन है। अन्तिम पद्य में अपने नाम के साथ इस मंत्र के आराधन की शिक्षा देते हुए उपसंहार किया गया है।

इस स्तोत्र की भाषा अपभ्रंश है और इसका छन्द वस्तुवदन और दूहा मिश्रित 'द्विभंगी' है। कतिपय प्रतियों में 'गुरु जिणवल्लहसूरि भणइ' के स्थान पर 'गुरु जिणप्पहसूरि भणइ' भी मिलता है। भाषा की दृष्टि से देखते हुए यह स्तोत्र जिनप्रभसूरि प्रणीत भी हो सकता है जैसा कि कुछ प्रतियों में उल्लेख है। परन्तु जिनप्रभसूरि की शिष्यपरंपरा द्वारा लिखित सोलहवीं शती के एक गुटके में भी 'जिनवल्लभसूरि' नाम ही लिखा है।

अध्याय : ५

कवि-प्रतिभा

जिनवल्लभसूरि को कविरूप मे उच्च आदर प्राप्त हुआ था। कहा जाता[1] है कि उस युग के लब्धप्रसिद्ध कवियो द्वारा भी ये पूज्यभाव से देखे जाते थे। उनके अपने पट्टधर युगप्रधान जिनदत्तसूरि द्वारा जिनवल्लभसूरि को माघ, कालिदास तथा वाक्पतिराज[2] से भी बढकर कहा जाना चाहे स्नेह-श्रद्धा का पक्षपात लगे, परन्तु इसमे सन्देह नही कि सत्काव्य के जो मान मध्ययुगीय समाज मे समादृत थे उनके अनुसार आचार्य जिनवल्लभ एक उच्च-कोटि के कवि थे। जैन-परंपरा[3] के अनुसार इनका काव्य नवरसो से पूर्ण और अपूर्व था। यद्यपि उपलब्ध कृतियो से इस मत की पूर्णतया पुष्टि नही हो पाती परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रचुरप्रशस्ति आदि जो अनेक काव्य[4] अभी तक अनुपलब्ध हैं वे, काव्य की दृष्टि से अधिक महत्त्व के थे।

काव्य शैली

कवि जिनवल्लभ को काव्य शैली के मूल्याकन के लिये हमे उनकी समस्त कृतियो पर दृष्टि रखनी होगी। उनकी कुल मिलाकर ४४ कृतिया प्राप्त हैं। प्राप्त रचनाओ मे विषय,

१ लब्धप्रसिद्धिभि सुकविभि सादर यो महित । चर्चरी पृष्ठ ४

२. सुकवि माघ ते प्रशसन्ति ये तस्य शुभगुगे,
साधु न जानतेऽज्ञा मतिजितसुरगुरो ।
कालिदास कविरासीद् यो लोकैर्वर्ण्यते,
तावद् यावद् जिनवल्लभ कविर्नाकर्ण्यते ॥

० ० ०

सुकविविशेषितवचनो यो वाक्पतिराजकवि
सोपि जिनवल्लभपुरतो न प्राप्नोति कीर्त्ति काञ्चिद् । चर्चरी पृष्ठ ५

३. काव्यमपूर्वं यो विरचयति नवरसभरसहितम् । जिनदत्तसूरि
नवरसरुचिर काव्य् । जिनपालोपाध्याय

४. तु० 'महाप्रबन्धरूप-प्रश्नोत्तरशतक-शृङ्गारशतक प्रचुरप्रशस्तिप्रभृतिक यो विरचयति नवरसभरसहितम्
(जिनपालोपाध्याय)

वर्णन, विचार तथा भाव की दृष्टि से जो विविधता मिलती है उससे कवि की प्रतिभा का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। कर्मसिद्धान्त, तत्त्वज्ञान, कर्मकाण्ड तथा आचारशास्त्र के ग्रन्थो मे हमे गभीर विवेचन के अनुरूप जो शैली मिलती है वही खंडनात्मक 'संघपट्टक' मे आकर विषयानुकूल-तीक्ष्णता को अपना लेती है और साहित्यिक ग्रन्थो मे सरसता और रोचकता। वह चरित-काव्यो मे समास-प्रधान है तो स्तोत्रो मे व्यास प्रधान, संस्कृत काव्यो मे समास-बहुला है। इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है विविधता; जो सर्वत्र प्रकट होती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित भाषाओ का प्रयोग, ३० से ऊपर छन्दो मे लिखना और कभी-कभी एक ही स्तोत्र मे अनेक छन्दो[1] अथवा विविध भाषाओ[2] को लाना तो उनके वैविध्य प्रेम के द्योतक है ही, परन्तु प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतम् मे उनकी यह विशेषता चरमसीमा तक पहुची हुई प्रतीत होती है। अतः यहा पर इस कृति का संक्षिप्त परिचय समीचीन होगा।

प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतम्

यह एक श्लोकबद्ध प्रश्नावली[3] है। इसकी रचना जैसा कि प्रारभ[4] मे ही कहा गया है बुधजनो के बोध के लिये ही की गई है। इस प्रश्नावली मे जो प्रश्न एकत्र किये गये हैं उससे स्पष्ट है कि उस समय की पण्डित-मण्डली कैसे उच्चकोटि के बौद्धिक मनोविनोदों की अपेक्षा रखती थी, क्योंकि इसमे जहा व्याकरण,[5] निरुक्त,[6] पुराण,[7] दर्शन,[8] तथा व्यवहार[9] आदि विविध विषयों को लेकर प्रत्युत्पत्ति तथा प्रतिभाकी परीक्षा करने वाली पहेलिया हैं, वहां सुरुचि, सदाचार तथा सद्धर्म की भी कही उपेक्षा नहीं की गई है। कवि के प्रकाण्ड-पाण्डित्य एव ज्ञान-गाभीर्य को प्रकट करने वाली विषयो की विविधता के साथ-साथ प्रश्नो मे शैलीभेद से होने वाले प्रकारो को भी इसमे भलीभाति दिखाया गया है; जैसा कि निम्नलिखित सूची से भी पता चलेगा:

१ अष्टदलकमलम्	४ गतागतचतुर्गत-
२ गतागता:	५ चतुर्गत
३ गतागतद्विर्गत:	६ चतु समस्त:

१ देखिये 'प्रथमजिनस्तव' जिसमे ११ छंद हैं।
२ देखिये 'भावारिवारण स्तोत्र' मे संस्कृत और प्राकृत
३ इस प्रश्नकाव्य मे अन्त प्रश्न, बहि प्रश्न, अन्त बहि प्रश्न, जातिप्रश्न, पृष्ठप्रश्न और उत्तरप्रश्नों का प्रयोग किया गया है। लक्षणो के लिये देखें, 'सरस्वतीकंठाभरण' द्वितीय परि० प्रश्नोत्तरलक्षण पृ ३०३-३०४
४. कतिचिद् बुधबुद्ध्यै वच्म्यह प्रश्नभेदान्
५ प्र. १२२; ७४, ६४, ५६, इत्यादि
६ प्र. ८; १८, १२; २६, १२४, १२५; इत्यादि
७ प्र २४; ३५, ३६, ३, इत्यादि
८ प्र. ४, ६, ५; १३, २०; इत्यादि
९ प्र , ६, १४, १३१, १२७, इत्यादि

७ चलद्विन्दुजाति
८ त्रिगतजाति
९ त्रि समस्तजाति
१० त्रिसमस्तसूत्रोत्तरजाति
११ द्विगतजाति
१२ द्वि समस्तजाति
१३ द्विर्व्यस्तसमस्तजाति
१४ द्वादशपत्र पद्मम्
१५ द्विगतभाषाचित्रक
१६. नामाख्यातजाति
१७ पद्मजाति
१८ पद्मान्तरजाति
१९ पादोत्तरजाति
२० भाषाचित्रजाति
२१ भाषाचित्रकद्विगतजाति
२२. भाषाचित्रकसमवर्णजाति
२३. मञ्जरीसनाथजाति
२४ मन्थानजाति
२५ मन्थानान्तरजाति
२६ वर्धमानाक्षरजाति
२७ व्यस्तकमलाष्टदलजाति
२८ व्यस्तसमस्तजाति
२९ वाक्योत्तरजाति
३० विपरीताष्टदलजाति
३१ विपरीतमंजरीसनाथजाति
३२ विषमजाति
३३. श्लोकमध्यस्थितसमवर्णप्रश्नोत्तरजाति
३४ शृंखलाजाति
३५. समवर्णप्रश्नोत्तरजाति
३६ समस्तव्यस्तजाति

प्रश्नो मे विषय-भेद और शैलीभेद के अतिरिक्त भाषाभेद भी मनोरजनकारी है। अधिकाश पद्य शुद्ध सस्कृत मे होते हुये भी कही-कही शुद्धप्राकृत[1] या मिश्रभाषा[2] का प्रयोग भी हुआ है। कुल १६१ पद्यो के छोटे से काव्य मे भी २० छन्दो का प्रयोग, काव्यगत अन्य विविताओ को देखते हुए कवि के वैविध्यप्रेम का सूचक है। परन्तु इतनी विभिन्नता तथा विविधता होते हुए भी, इस काव्य मे भी वे गुण न्यूनाधिक रूप मे देखे जा सकते हैं जो कवि के अन्य काव्यो मे पाये जाते हैं। इस काव्य की सब से बडी विशेषता है इसका चित्रकाव्यत्व। जैसा कि परिशिष्ट से ज्ञात होगा। इसमे कुल मिलाकर २८ चित्रो की योजना है, परन्तु यहा भी कवि-वैविध्य-प्रेम उसे ८ प्रकार के चित्रो का समावेश करने को बाधित करता है। सामान्य-सरलता और सुबोधता होते हुए भी इस काव्य मे कही-कही चित्रकाव्य सुलभ क्लिष्टता भी आ गई है, जिसके लिये कवि बडे विनम्र शब्दो मे काव्य उपसहार करते हुए कहता है

> किमपि यदिहाश्लिष्ट क्लिष्ट तथा चिरसत्कवि-
> प्रकटितमथानिष्ट शिष्ट मया मतिदोषतः।
> तदमलधिया बोध्य शोध्य सुबुद्धिधनैमन
> प्रणयविशद कृत्वा धृत्वा प्रसादलव मयि॥

उनकी शैली की दूसरी प्रमुख विशेषता है चमत्कार प्रेम। यो तो विविधता मे भी चमत्कार है और वस्तुतः उनका वैविध्यप्रेम चमत्कार-प्रेम का पोषक होकर ही आया हुआ

१. प्र १०९, ११५,
२. प्र १८, ८८; ७९;

प्रतीत होता है, परन्तु उनके चमत्कार प्रेम का सबसे बडा प्रमाण हमें उनके चित्रकाव्यों मे मिलता है। खेद है कि उनके कई चित्रकाव्य (षट्चक्रिका, सप्तचक्रिका, गजबन्धरूप, गोमूत्रिका और गुप्तक्रिया) आज प्राप्त नही हैं, परन्तु, यदि नाम से वस्तु का कुछ भी संकेत मिल सकता है, तो श्रीजिनदत्तसूरिजी के इस कथन से अवश्य सहमत होना पडेगा कि—

जिण कयनाणा चित्तइं चित्तु हरंति लहु
तसु दंसणु विणु पुन्निहि कउ लब्भइ दुलहु

यद्यपि कवि की चित्रकाव्य-श्री की पूर्ण छटा से आज हम वंचित है, परन्तु फिर भी धर्मशिक्षा, संघपट्टक, प्रश्नोत्तरैकषष्टिगत तथा स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र-द्वय मे जो कुछ उदाहरण प्राप्त हैं उनसे जिनवल्लभ की चित्रकाव्य-प्रतिभा का पर्याप्त आभास मिल जाता है। अत इनका सामान्य परिचय एक चित्र द्वारा यहा दिया जा रहा है। विशेष परिचय के लिये आरम्भ मे 'चित्र-परिचय' द्रष्टव्य है।

मन्थानानान्तरजाति

कालिदासकविना, नाविकसदालिका, तामरसविदम,
मदविसरमता, सरकविदामविदलिता नाम का,
प्र० १४३

शृङ्गार-शतक

जिनवल्लभ के काव्य की अपूर्वता उनके शृंगार-काव्य मे है। साधु-समुदाय के लिये शृंगार तो अंगार के समान अस्पर्श्य माना जाता है, और फिर कहा तो नीरस तथा विरक्त साधु-जीवन और कहा रसराज शृंगार! परन्तु शृंगार वर्णन के साथ साधु-जीवन की इस सर्वमान्य असंगति को जिनवल्लभ भली भांति समझते थे। अतएव अपने शृंगारशतक के अंतिम पद्य मे उन्होने जहां एक ओर 'अंगार-शृंगार' की दाहकता का व्यंग्योल्लेख किया है

वहा दूसरी ओर उन्होने अपने इस काव्य को 'वाचालता-चापल' कहकर सुकवियो से सहन कर लेने के लिये भी कहा है.

"भेदो विद्यत एव दाहकतया नाऽङ्गारशृंगारयो-
रित्युक्त न यदस्मदच्यचरणं सार्वैस्तदेवाधुना ।
दाक्षिण्यात् किल नीरसेन रचित किञ्चिन्मयाऽपीति यद्,
बालस्येव सहन्तु मे सुकवयो वाचालताचापलम् ॥१२१॥"

एक बाल-ब्रह्मचारी के लिये शृंगार के रहस्यो को जानना और कहना कठिन होने के साथ ही एक अपूर्व साहस का भी काम है। परन्तु आचार्य ने न केवल शृंगार-काव्य की निर्भीकता पूर्वक रचना की अपितु उस रचना के लिये अपेक्षित अनुभव की कमी को पूरा करने के लिये उन्होने अनेक शृंगार-काव्यो का परिचय प्राप्त किया और भरत के नाट्यशास्त्र तथा कामसूत्र का भी अध्ययन किया, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक मे उन्होने स्वयं कहा है –

"वाच. काश्चिदधीत्य पूर्वसुधिया तत्काव्यदीक्षागुरु,
वीक्ष्य श्रीभरत च सत्ररुचिर श्रीकामतन्त्र च तत् ।
साहित्याम्बुधिबिन्दुनिन्दुरपि सत्यद्य विधित्सुर्मना-
गस्यास जिनवल्लभोऽहमदिमा शृंगारसारा गिरः ॥१२०॥"

आचार्य जिनवल्लभ के लिये यह शृंगार-काव्य कोई मनोविनोद की सामग्री अथवा वाणी-विलास मात्र नही था। त्याग और तपस्या के जीवन को अपना कर तत्त्वनिर्णय करना ही उनका चरम लक्ष्य था और यह शृंगार-काव्य-साधना भी उनको इस लक्ष्य-सिद्धि में आवश्यक सी प्रतीत हुई, क्योकि, जैसा कि मंगलाचरण मे उन्होने स्वयं कहा है—एकान्तत तत्त्वनिश्चय समव नही हो सकने के कारण ही कभी-कभी असत् वस्तु का भी आश्रय लिया जाता है.—

सन्तोऽसदपि कुर्वन्ति भूषण दूषण परे ।
एकान्ततस्ततश्चेह कुतस्त्यस्तत्त्वनिश्चय. ॥४॥

सैद्धान्तिक-दृष्टि से तत्त्वज्ञान के लिये विरक्तो को शृंगार-ज्ञान की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी आचार्य जिनवल्लभ को इस काव्य की संभावित आलोचना अथवा निन्दा का पूर्वाभास रहा प्रतीत होता है। इसीलिये इन्होने मगलाचरण के पश्चात् स्पष्ट कहा है कि, जो सज्जन है वह खलवचनो से आकुल होने पर भी अपने सहज आर्य-आचार को नही छोड सकता

"लक्ष्मीमुक्तोऽपि दैवादुदितविपदपि स्पष्टदृष्टान्यदोषो-
प्यज्ञाधज्ञाहतोऽपि क्षयभृदपि खलालीकवाक्याकुलोऽपि ।
नैव त्यक्त्वाऽऽर्यचर्यां कथमपि सहजां सज्जनोऽसज्जन स्यात्,
किं कौम्भ शातकौम्भः क्वचिदपि भवति त्रापुषो जातुषो वा ॥५॥"

इसी दृष्टि से कोई व्यक्ति उन दुष्टो के वचनो पर कोई ध्यान नही देता जो बिना किसी निमित्त के ही संपूर्ण जगत् का अहित करने मे रत रहते हैं और सज्जनो के दोषो की घोषणा करने मे ही प्रसन्न होते हैं.

"नास्ते मालिन्यमीतेरखिलगुणगण' सन्निधानेऽपि येषां,
येषां सन्तोषपोषः सततमपि सतां दूषणोद्घोषणेन।
तेषामाशीविषाणामिव सकलजगन्निर्निमित्ताऽहिताना
कर्णे कर्णेजपानां विषमिव वचन क सकर्ण करोति ।।६।।"

वस्तुत शृंगार को पाप कहकर छुट्टी नही ली जा सकती। शृगार नर-नारी सम्बन्ध का एक अमिट सत्य है और वह कितना भी कटु, कठिन अथवा घोर सत्य क्यो न हो, परन्तु किसी तत्त्वज्ञानी के लिये उसके सामने आख मूद लेने से काम नही चल सकता। आचार्य जिनवल्लभ शृंगार के इस महत्त्व को समझते थे और वे जानते थे, उन 'पुण्यपण्यापण' दम्भियो को जो शृगार की व्यापक सार्वभौमता की उपेक्षा करने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं। अत शृंगारशतक के प्रारभ में ही कवि ने स्पष्टतया इस बात को स्वीकार किया है —

"कोऽय दर्पकरूपदर्पदलन क पुण्यपण्यापणः,
कस्त्रैलोक्यमलङ्करोति कतमः सौभाग्यलक्ष्म्यावृतः।
सोत्कण्ठ तव कण्ठकाण्डकुहरे कुण्ठ. पर पञ्चमो
मुग्धे यस्य कृते करे च विलुठत्यापाण्डुगण्डस्थलम् ।।७।।"

अत आचार्य जिनवल्लभ ने अपने शतक मे शृंगार का जो साँगोपाग चित्रण किया वह किसी प्रकार भी साधु-जीवन का अतिक्रमण नही करता। उन्होने शृगार के सभी स्वरूपो का वणन किया और समस्त हाव, भाव, विभाव, अनुभाव और सचारीभावो का परिचित्रण किया, परन्तु उनके मन मे न कोई भय था और न थी कोई शका अथवा जुगुप्सा। शृंगार-काव्य की साधना उनकी दृष्टि मे उसी निर्मल मन से की जा सकती है जिससे कि तत्त्वज्ञान का उहापोह अथवा स्तोत्र-साहित्य का सृजन या चरित-काव्य का गायन। इतिहास मे जनक जैसे गृहस्थ राजा तो सुने गये हैं जो शृगार और वैराग्य दोनो को एक साथ लेकर चले हो, परन्तु वचपन से ही वैराग्यवृत्ति को लेकर मुनि-जीवन मे दीक्षित होने वाले और नन्ही बालिका तक को भी स्पर्श न करने वाले साधुओ मे शान्त तथा शृंगार के बीच काव्यगत समन्वय स्थापित करने वाले आचार्य जिनवल्लभ अद्वितीय है। भर्तृहरि ने अवश्य ही वैराग्यशतक और शृंगारशतक लिखकर ऐसा ही प्रयत्न किया था, परन्तु इस विषय मे हम यह नही भूल सकते कि भर्तृहरि विरक्त होने से पहिले शृगार का पूर्ण अनुभव भी राजमहलो मे कर चुके थे। परन्तु आचार्य जिनवल्लभ का शृगारशतक एक प्रकार से एक अलौकिक प्रयत्न नही तो अपूर्व प्रयत्न अवश्य है, क्योकि उन्हे शृगार का साक्षात् अनुभव बाल-ब्रह्मचारी होने से कभी नही हुआ था। अमरुशतक लिये कहा जाता है कि बाल-ब्रह्मचारी शंकराचार्य ने उसे तब लिखा, जब वे परकायप्रवेश करके शृगार का साक्षात् अनुभव कर सके, पर जिनवल्लभ को इसकी भी आवश्यकता नही पडी। उन्होने केवल शृगार-साहित्य का अध्ययन करके ही अपने शृगारशतक की रचना कर डाली।

फिर भी शृंगारशतक को पढने से कही भी कोई रिक्तता या कमी नही दिखाई पडती है। भाषा मे प्रवाह है और शब्द-योजना भावानुकुल है। मानिनि के कुटिल-भ्रूभंग, दन्तदंशन तथा हुकार भी युवको के मन को प्रसन्न करने वाला है—इस बात को प्रकट करने

के लिये जिस समन्वित शब्द-योजना का प्रयोग किया है उसे निम्नलिखित पद्य मे देखिये:

"मानिन्याः कुटिलोत्कटभ्रु सहसा सन्दष्टदन्तच्छदा,
स्वेदातङ्कमयेन मोचनकृते हुङ्कारगर्भं मुखम्।
काम केलिकलौ दृढाङ्गघटनानिष्पेषपीडोत्त्रस-
त्तियग्मानकृतार्त्तनादवदिव प्रीणाति यूनां मनः ।।१३।।"

इसी प्रकार कुपिता नायिका के मुखसौन्दर्य का वर्णन भी उल्लेखनीय है

"भुग्नभ्रुस्फुटरक्तगण्डफलक प्रस्यन्दि दन्तच्छद,
लोलल्लोहितचक्षुरुद्गिरदिव प्रौढानुरागं हृद.।
सर्वाकारमनोहर सुतनु! ते कोपेऽपि पश्यन्मुख,
दूयेनाऽस्मि यतस्ततोयमधुना मानानुबन्धेन ते ।।८५।।"

लक्षणा और व्यञ्जना के सहारे घोर से घोर शृंगार को भी शिष्टता की मर्यादा का उल्लघन किये विना ही किस प्रकार काव्य मे चित्रित किया जा सकता है उसका ज्वलन्त उदाहरण उस वर्णन मे देखा जा सकता है, जो उन्होने सभोगशृगार के विस्तृत वर्णन मे किया है। संभोग के पश्चात् नायक और नायिका की जो विलक्षण अवस्था हो जाती है, उसका सजीव चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है

कृत्वा रागवदुद्धतं रतमथो मीलद्दृश नि सहां,
श्रोणीपार्श्वसमस्तहस्तवितताधातेप्यसज्ञामिव।
दृष्ट्वा मां सखि मूर्छिता किमु मृता सुप्ता नु भीतायवे-
त्याकूताकुलधीरिव द्रुतमभूत् सोऽपि प्रियोऽस्मत् सम ।।१११।।"

ये तो रही सभोगोपरान्त शरीर को अवस्था, परन्तु उस समय की अनिर्वचनीय रसानुभूति का चित्रण भी जिनवल्लभ ने चित्रित करने का प्रयत्न किया है

"कान्ते! कल्पितकान्तमोहनविधावाऽऽनन्दसान्द्रद्रव-
द्रागावेगनिमीलिताक्षियुगला वीक्षेत तं यद्यपि।
नेत्रानन्दकर तथापि सखि मे तच्चुम्बनालिङ्गन-
प्राक् संक्रान्त इव स्फुरत्यनुपम कश्चिद् रसश्चेतसि ।।११२।।"

शृगार-शतक मे नारी के सौन्दर्य का वर्णन भी यत्र तत्र विशद तथा सहजरूप मे मिलता है। नायिका की कटाक्षछटा दूध के समान श्वेत तथा तरल है और उसकी दन्त-ज्योत्स्ना आकाश मे मडलाकार फैलती हुई सपूण विश्व को अपनी श्वेतिमा से आप्लावित कर रही है। फिर वह अभिसार के लिये चन्द्रोदय की प्रतीक्षा क्यो करे.—

"मुग्धे! दुग्धैरिवाशा रचयति तरला ते कटाक्षच्छटाली,
दन्तज्योत्स्नापि विश्व विशदयति वियन्मण्डल विस्फुरन्ती।
उत्फुल्लद् गडपाली विपुलपरिलसत् पाण्डिमाडम्बरेण,
क्षिप्तेन्दो कान्तमद्धामिसर सरभस किं तवेन्दूदयेन ।।७६।।"

एक साथ ही प्रसादन और मारण मे दक्ष नायिका के लोचन भी कितने विचित्र हैं,

इसकी व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है.

"शके सुभ्रु ! सुधारसैर्विरचितं ते कालकूटच्छटा-
गर्भे मौक्तिकदामवन्मरकतश्रीरोचनं लोचनम् ।
यन्मामन्तरचारिभृंगसुनगश्वेताब्जपत्रप्रभा-
विक्षेपोदमनङ्गसङ्गि सर्वदि प्रीणाति मोनाति च ॥१०१॥"

और नायिका की प्रेम-द्रव से आर्द्र तथा लाजभरी दृष्टि युवकों के लिये तो न मालूम कौनसा काम कर बैठती है; इस विषय में कवि की उक्ति कितनी विलक्षण है:

"साकूतोत्कलिकाः सकौतुककरणाः प्रेमद्रवार्द्रास्तव,
क्रीडन्त्यस्तरलाक्षि दिक्षु निविडव्रीडा जडा दृष्टयः ।
चेतश्चञ्चलयन्ति कायलतिकामुत्कम्पयन्ति क्षणात्,
चक्षुः शीतलयन्ति किं तदथवा यूनां न यत् कुर्वते ॥१०२॥"

जिनवल्लभ की कविता प्रायः प्रसाद गुण सम्पन्न है। कहीं-कहीं तो भाषा की सरलता ने इस काव्य-गुण को बहुत ही आकर्षक बना दिया है। इसका सब से अच्छा उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में देखा जा सकता है.—

"न ता काश्चिद्वाचः क्वचन न च ता काश्चन कला,
स नोपायः प्रायः स्फुरति न तदस्त्यक्षरमपि ।
यतोऽन्योन्यं यूनां विरहभवभावव्यतिकरं,
परं वक्तुं शक्तः कथमपि कदापि क्वचिदपि ॥११५॥"

शृंगारशतक में अलंकारों का प्रयोग भी अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक हुआ है। शब्दालंकारों में यों तो श्लेष और यमक का प्रयोग भी प्रचुरमात्रा में मिलता है परन्तु अनुप्रास का प्रयोग बहुत ही मनोरम हुआ है। "पीत पीतमयो सितं सितमिति" में जो स्वाभाविकता है वही आप "प्रेमप्रसन्न. प्रिय." में देख सकते हैं। विषय की अनुकूलता तथा स्वाभाविक सरलता को ध्यान में रखते हुए कवि ने जो अनुप्रास प्रयुक्त किये हैं उनका एक अच्छा उदाहरण निम्नलिखित पद्य में देखा जा सकता है:—

"भ्रमद्भ्रमरविभ्रमोद्भटकटाक्षलक्ष्माङ्किता,
दृशामसदृशोत्सवाश्चतुरकुञ्चितभ्रूलता ।
स्फुरत्तरुणिमद्रुमोल्लसदनल्पपुष्पश्रियो,
हरन्ति हरिणीदृशां कमपि हन्त ! हेलोदया ॥५०॥"

अर्थालङ्कारों में भी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति आदि का बहुत ही सुन्दर और सफल प्रयोग किया गया है। कहीं "संफुल्लशेफालिका" कुसुम के समान "नीविग्रन्थि" सरक जाती है और कहीं कोई 'पुण्डरीकवदना लीलानिमीलित" नयना होकर दिखाई पडती है। कामदेव के प्रताप से वस्तुओं का जो स्वभाव-विपर्यय हो जाता है उसका वर्णन कवि की अलंकारयुक्त वाणी से निम्नलिखित पद्य में देखिये

"यत्कान्तेऽवनतेप्यहं स्मरगुरुर्दिष्टं सखी प्रार्थितं,
कोपान्नकरव तदेतदुदित पाप स्फुट यत्नत ।
कर्पूरोऽसिकणायते मृगमदश्री कालकूटायते,
शीतांशुर्दहनायते कुवलयस्रक् कालपाशायते ॥४७॥"

कही-कही पर काव्य के प्रागण मे भी पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रलोभन का संवरण नही किया जा सका है। निम्नलिखित पद्य मे अलकारो की सुन्दर छटा के साथ-साथ कवि की इसी प्रवृत्ति का एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत है :

"सत्य सव्यविकल्पदृक् क्षणिकधीर्नष्टायक सौगत',
प्रामाण्येन न योऽब्रवीत्यवितथज्ञाने विकल्पस्मृती ।
यस्मादस्मि विकल्पतल्पशयित प्रेयासमङ्गस्पृश,
स्मृत्वा केलिकलां च तां रतिफल विन्दामि निन्दामि च ॥३३॥"

स्तोत्र-साहित्य

कवित्व की दृष्टि से स्तोत्र-साहित्य मे आचार्य जिनवल्लभ का मन सब से अधिक रमा हुआ जान पडता है। स्तोत्रो मे जैसा उक्ति वैचित्र्य, अलकार-वैविध्य तथा छद-बाहुल्य मिलता है वैसा अन्यत्र नही। जैसा कवि ने स्वयं कहा है, अपनी कवि-प्रतिभा को व्यक्त करने के लिये उसने जो सर्वप्रथम माध्यम चुना वह एक स्तोत्र ही था। अपने इष्ट श्री पार्श्वनाथ के इस स्तवन मे उन्होने अपने जिस भक्त हृदय का परिचय दिया है, उससे इस रहस्य का पता सहज ही चल सकता है कि वे स्तोत्र-साहित्य मे इतने क्यो सफल हुए हैं:

'न नृपपदवीं नार्थावाप्ति न भोगसुख न वा,
सुरपतिपद त्वां याचेऽह न वा शिवसम्पदाम् ।
अहनि निशि च स्वप्ने बोधे स्थिते चलिते वने,
सदसि हृदये भक्त्यद्वैत ममास्तु पर त्वयि ॥३१॥"

उन्हे न अर्थ चाहिये और न भोग न इहलोक का राज्य चाहिये न त्रैलोक्य का। वे तो रात-दिन, सोते-जागते, चलते-फिरते, सर्वत्र और सर्वदा अपने भगवान् की अनन्य भक्ति मे ही रत रहना चाहते हैं क्योकि वे जानते हैं कि ससार मे फसने का क्या परिणाम होता है, एक वा अनेक भवो मे भ्रमण करने के पश्चात् अब उनका मन श्रीजिनेश्वर के चरणो का चचरीक बन पाया है —

"गतोऽह ससारे नर-नरक-तिर्यक्-सुरभवे-
ष्वनेकेष्वेव त्वा जिनमलभमान क्वचिदपि ।
इदानीं यौष्माक चरणकमल सश्रितवतो,
द्विरेफस्येवामुन्मनसि परमा निर्वृतिरत. ॥४॥"

कवि जिनवल्लभ के लिये भगवान् ही माता है और भगवान् ही बन्धु, पिता, मित्र, स्वामी, वैद्य तथा गुरु हैं। अधिक क्या कहा जाय वही उनके सर्वस्व हैं। इसलिये वे सदैव उन्ही की शरण मे रक्षा के लिये जाते हैं —

"त्वमम्बा त्वं बन्धुस्त्वमसि जनकस्त्व प्रियसुहृत्,
त्वमीशस्त्व वैद्यस्त्वमसि च गुरुस्त्वं शुभगति.।
त्वमक्षि त्व रक्षा त्वमसव इति त्वं मम न किं,
ततो मां त्रासीष्ठा कठिनगदवृन्दार्दिततनुम् ॥२१॥"

भगवान् के चरणकमलो से अलग होकर क्या-क्या दु ख नही भोगने पडते ? अत' वे गुरुकृपा से पुन भगवच्चरण की शरण मे आकर अपने सम्पूर्ण दारिद्रय और दैन्य को जानते हुए भी अपने को धन्य मानते हैं

"धिया हीनो दीन कुकृतशतलीन सुकृपणो,
गुणैर्वान्तिस्तान्तस्तत नवमहावर्त्तपतित: ।
विलग्नो भग्नोऽहं तव पदयुगे तद्गुरुकृपा-
कृपाणी कृत्तान्त करणशरण त्वं मम परम् । ७।."

जिनवल्लभ के स्तोत्रो मे सर्वत्याग की भावना के साथ-साथ दैन्यप्रदर्शन, आत्म-निवेदन तथा भक्तहृदय का करुणक्रन्दन मिलता है। भवसागर के अनेक संकटों और क्लेशों की विभीषिका से पीडित जीव के लिये त्राण पाने और शान्तिलाभ प्राप्त करने के लिये एकमात्र शरण्य प्रभुचरण ही है। अत. भक्त अपने भगवान् को सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता के सामने अपने को अत्यन्त दीन-हीन और मलीन पाकर, अपने हृदय की चीत्कार को जब छुपाने मे विवश हो जाता है, तो उसके हृदय से जो वाणी निकलती है वह किस पाषाण हृदय को द्रवीभूत न कर देगी ? इस दृष्टि मे जिनवल्लभ की भक्ति का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप संभवतः महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञविज्ञप्तिका मे देखा जा सकता है। भगवान् और भक्त मे, सर्वज्ञ और अज्ञ मे जो भेद है उसको प्रकट करते हुए वे कैसे सरल शब्दो मे कहते हैं

तुह जिण अणंत अणुवम गुणथुणणे जडमई असत्तोहं ।
किंतु दुहत्तो किर तवखवाय नियदुक्कथं कहिमो ॥२॥

o o o o

इय पुणरुत्तमरणंत दुरंतभवचक्कगो किलिस्संतो ।
लोए पइक्खपएसु जाओ य मओ य बहुसोहं ॥१३॥

कवि को पूर्ण विश्वास है कि वह कितना ही वाम, पामर या पतित क्यो न हो, परन्तु भगवच्चरण मे ऐसी शक्ति है जिससे कि सब का उद्धार नि सदेह हो सकता है। इसीलिये वह भव-निवारण के लिये पुनःपुन' भगवान् के सामने पुकार करता है:

तुह दंसण निवारइ कारइ सव्वत्थवत्थुवच्चासं ।
चरणकरणम्मि सड्ढि विद्धसइ दंसइ कुमग्गं ॥३३॥
ईसा-विसाय मच्छर-हरिसा मरिसाइविविहरूवेहिं ।
फुरमिह जालिओ इव वामोऽहं इम जिणिंद तओ ॥३४॥
मोहमहारिपरवस जयवधव रक्ख म खमाविजओ ।
पिच्छंता न हु पहुणो भिच्चमुवेहं तिवसणगय ॥३५॥

स्तोत्र-साहित्य मे कवि ने सभवत: अपने सभी चमत्कार दिखा देने का प्रयत्न किया है। भाषा चमत्कार की दृष्टि से कवि ने न केवल संस्कृत और प्राकृत मे पृथक्-पृथक् स्तोत्र लिखे अपितु एक स्तोत्र अपभ्रंश मे भी लिखा है और एक मे संस्कृत और प्राकृत दोनो का ही एक साथ प्रयोग किया है। अपभ्रंश का स्तोत्र जहा अन्य गुणो के लिये महत्त्वपूर्ण है वहा भाषा-प्रवाह भी दर्शनीय है। इसकी भाषा का महत्त्व हिन्दी भाषा के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से भी आका जा सकता है। नवकार मत्र की शक्ति का व्याख्यान करते हुए कवि कहते है

"चोर धाडि संकट टलइ राजा वसि होई
तित्थकर सो हुवइ लक्खगुण विधि सजोई
साइणि डाइणि भूत प्रेत वेयाल न पहवइ
आधि व्याधि ग्रह गणह पीड ते किमइ न होई
कुट्ठ जलोदर रोग सवे नासइ एणइ मति।
मयणासुंदरि तणी परि नवपद झाण करति ॥११॥"

छंदो की विविधता की दृष्टि से भी कवि ने अपना चमत्कार स्तोत्र-साहित्य मे ही दिखलाया है। प्रथम जिनस्तवन मे न केवल विविध छंदो का प्रयोग ही किया गया है अपितु दोहा जैसे संस्कृत और प्राकृत मे अज्ञात तथा अप्रसिद्ध छदो का प्रयोग भी किया गया है। निम्नलिखित दोहे को प्रमाणस्वरूप रखा जा सकता है

"इय जाणतु विभत्तिभर तरलिउ किंपि भणामि ।
दुक्करु सुक्करु निरुत्तमण जेण वियारिहि सामि ॥३॥"

भावारिवारण स्तोत्र न केवल संस्कृत और प्राकृत के एक साथ प्रयोग किये जाने की दृष्टि से चमत्कार पूर्ण है, अपितु काव्य-गुणो की दृष्टि से भी यह स्तोत्र बहुत समृद्ध है। कवि का जो अनुप्रास प्रेम उसके सारे साहित्य मे दिखाई पडता है, उसको यहा भी प्रचुर परिमाण मे देखा जा सकता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पद्य देखिये:—

"निस्सग! नि समर! नि सम! निःसहाय!
नीराग! नीरमण! नीरस! नीरिरस!
हे वीर! घोरिमनिवारनिरुद्धघोर-
ससारचार! जय जीवसमूहबन्धो! ॥२१॥"

जिनवल्लभ के काव्य मे सगीतात्मकता के लिये जो सर्वत्र आग्रह दिखाई पडता है वह किसी भी पाठक से छिपा नही रह सकता। अन्य काव्यगुणा के साथ-साथ सगीतात्मकता की दृष्टि से लघु अजित शान्ति-स्तव सभवत यहा पर उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। अनु-नासिक वर्णों की बहुलता तथा विविध वर्णों के अनुप्रास से उत्पन्न होने वाली सगीतात्मकता के लिये निम्नलिखित छंद देखिये

अडविनिवडियाणं पत्थिवुत्तासियाणं,
जलहिलहरिहीरंताण गुत्तिट्ठियाण।
जलियजलणजालालिंगियाण च झाणं,
जणयइ लहु संति संतिनाहाजियाणं ॥१२॥"

इसी प्रकार 'क्ष' कार की छटा का कोमल-वर्णों की सन्निधि मे जो अनुपम चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न कवि ने सर्व जिनेश्वर स्तोत्र मे किया है, उसका अनूठा उदाहरण निम्न-लिखित श्लोक मे देखा जा सकता है

"क्षुण्णक्षयक्षिपितमोक्षविपक्षलक्ष- क्षीणक्षदक्षुभितपक्ष्मलदक्षकटाक्षं ।
क्षान्तिक्षत-क्षमजिताक्ष-सदक्षमक्षु, रक्ष क्षणं क्षतकमक्षनिरीक्षणान् माम् ॥२१॥"

एक पार्श्वनाथ स्तोत्र मे सभी छदो मे एक-एक ऐसा वर्ण या वर्णसमुदाय चुना गया है जो उस मालिनी के छंद की प्रत्येक यति पर आता है। इस प्रकार कही "ठ" की आवृत्ति है तो कही "आर" की और कही पर "क्ष" या "हार" की। उदाहरण के लिये स्तोत्र के प्रथम छद मे "द्र" की आवृत्ति देखिये

"विनयविनमदिन्द्र मन्मनोम्भोधिचन्द्रं, हितकृतिगततन्द्रं प्राणिषु प्रीतिसान्द्रम् ।
वचसि जलदमन्द्रं सस्तुवे पार्श्वचन्द्रं, त्रिजगदवितथेन्द्र धैर्यधूताचलेन्द्रम् ॥१॥"

इस प्रकार जिनवल्लभ की काव्यकला मे उक्ति-वैचित्र्य, पदलालित्य तथा प्रयोग-वैलक्षण्य के साथ-साथ लक्षणा और व्यजना तथा अलंकार और रस की दृष्टि से जो समृद्धि एव सफलता दिखलाई पडती है वह कवि की भक्ति-भावना तथा सहृदयता के कारण अत्यन्त हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी हो गई है। उनके काव्य मे जो सौन्दर्य, अलकरण तथा चमत्कार मिलता है, उस सब से अधिक यदि कोई भी एक गुण सर्वोपरि तथा सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है तो, वह है जिनवल्लभ की मानवता, निश्छल, निष्कपट, उदार तथा आडम्बरहीन एवं अकृत्रिम मानवता। सत् और असत्, पुण्य और पाप, उच्च और नीच तथा पावन और पतित के द्वन्द्व को एक साथ लेकर चलने वाली जीवन-यात्रा मे मिथ्यात्व से क्रमश उठते हुए अर्हत् पद-प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील होने का नाम ही तो मानवता है। यद्यपि इस दृष्टि से जैन-धर्म की भाति सभी धर्म मानवता के पर्यायवाची कहे जायेंगे, परन्तु कितने है ऐसे धर्मध्वजी, साधुत्व का ढिढोरा पीटने वाले तथा परोपदेशकुशल प्रचारक और गुरु मन्य लोग; जो अपने दंभ, पाखड और आडवर को छोडकर आचार्य जिनवल्लभ के चरण-चिह्नो पर चलकर अपने भगवान् के सामने हृदय के नग्नरूप को रखकर कह सकें कि

"उल्लासितारतरलामलहारिहारा ।।रीगणा बहुविलासरसालसा मे ।
संसारसरणसभवभीनिमित्त, चित्र हरन्ति मण कि करवाणि देव ॥२२॥"

अत: निर्भीक मानव जिनवल्लभ रससिद्ध कवीश्वर जिनवल्लभ से कही ऊपर है, अथवा यों कहे, प्रथम द्वितीय का जनक होने से उसमें अनुस्यूत है। इसीलिये द्वितीय महिमामय है। आचार्य जिनवल्लभ का व्यक्तित्व एक अद्भुत व्यक्तित्व है, जिसमे एक विक्रान्त-क्रान्तिकारी, प्रवलसुधारक, तपस्वी आचार्य तथा विलक्षण कवि का समन्वय मिलता है, परन्तु इन सब रूपों को प्रकाशित और उद्भासित करने वाला जिनवल्लभ के व्यक्तित्व का जो स्वरूप है वह सही वीर-मानव का स्वरूप है। अतः महावीर चरणरत इस परमवीर मानव को मेरा शत-शत प्रणाम अर्पित है।

अध्याय : ६

जिनवल्लभ की साहित्य-परम्परा

टीका-ग्रन्थ और टीकाकार

आचार्य जिनवल्लभसूरि के ज्ञान गाभीर्य्य तथा सुधार-कार्य का जो सुदृढ और स्थायी प्रभाव विद्वन्मण्डली पर पडा उसका सब से बडा प्रमाण उनके ग्रन्थो पर लिखी गई अनेक टीकायें हैं। उनकी मृत्यु के लगभग तीन वर्ष उपरान्त से लेकर शताब्दियो पर्यन्त तक इनके ग्रन्थो पर जितनी टीकाये लिखी गई उतनी सभवत किसी भी जैनाचार्य की कृतियो पर नही। इन टीकाओ की सब से बडी विशेषता यह है कि इनके रचयिता प्राय खरतर-गच्छेतर विद्वान् साधु ही थे। अतः इनकी रचना न केवल जिनवल्लभसूरि के ग्रन्थो का साहित्यिक, धार्मिक एव सामाजिक महत्त्व प्रकट करती है, अपितु यह भी प्रमाणित करती है कि ये ग्रन्थ संप्रदाय के सीमित क्षेत्र से ऊपर उठ कर सर्वमान्यता तथा सर्वग्राह्यता प्राप्त कर चुके थे। उनके ग्रन्थो मे सब से अधिक गौरव इस दृष्टि से जिनको प्राप्त हुआ वे सार्द्ध शतक, षडशीति एव पिण्डविशुद्धि हैं। इन पर टीका लिखने वालो मे धनेश्वराचार्य, हरिभद्राचार्य, मुनिचन्द्राचार्य, श्रीचन्द्राचाय, यशोदेवाचार्य तथा मलयगिरि आचार्य जैसे बडे-बडे दिग्गज विद्वानो के भी नाम हैं जो अपने पाण्डित्य तथा गाभीर्य्य के लिये जैन इतिहास मे प्रसिद्ध हो चुके हैं और जिनका टीका लिखना ही मूलग्रन्थो की महत्ता को प्रकट करने के लिये पर्याप्त है।

अत यहां पर टीकाओ और टीकाकारो का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है

ग्रन्थों पर टीकायें

सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार (सार्द्ध शतक)

भाष्य[1]	
टिप्पण	रामदेवगणि
चूर्णि	मुनिचन्द्रसूरि

१ लीवडी, वडोदा और पाटण के भडारो मे है। सम्भवत प्रकाशित नही हुआ है। इसके कर्त्ता कौन हैं ? निश्चित नही कहा जा सकता। इसका आद्यन्त भाग इस प्रकार है —

(आ०) नियहेउसम्भवे वि हु भयणिज्जो जाण होइ पयडीण। ववो वा अधुवा "अभयणिज्ज बधाओ ।१।

(अ०) तिरिगइसमणुज्जोय इगजाइसम तु आयवे वधे। परधा उस्सासाण पज्जेण सम भवे वधो ।१०९।

वृत्ति	धनेश्वराचार्य
"	महेश्वराचार्य[1]
"	हरिभद्रसूरि[2]
"	चक्रेश्वराचार्य[3]
प्राकृत वृत्ति	अज्ञातकर्तृक[4]
टिप्पणक	"[5]

आगमिकवस्तुविचारसार (षडशीति)

भाष्य[6]	
"[7]	
टिप्पण	रामदेव गणि
वृत्ति	हरिभद्रसूरि
"	मलयगिरि
"	यशोभद्रसूरि
विवरण	मेरु वाचक[8]
टीका	अज्ञातकर्तृक[9]
अवचूरि	अज्ञातकर्तृक[10]
"	"[11]
उद्धार	"[12]

१. महेश्वराचार्य की टीका कान्तिविजयजी संग्रह बडोदा मे है।
आ० महेश्वर अनेक हुए हैं। आप का समय इत्यादि के संबंध मे प्रति के अभाव मे मैं कहने मे असमर्थ हू।

२ इस टीका की नोंध बृहट्टिप्पनिका के आधार से की गई है। अत. इसकी प्रति प्राप्त है या नही ? नही कह सकता।

३. इस टीका की प्रतियें पाटण के भडारो मे है। चक्रेश्वराचार्य अनेक हुए है। अत आप का समय क्या था, प्रति के अभाव मे नही कह सकता। परन्तु धनेश्वराचार्य विरचित वृत्ति का आपने संशोधन किया है। ऐसा उल्लेख आचार्य धनेश्वर स्वय करते हैं। अत मेरी मान्यतानुसार इनकी स्वय की वृत्ति नहीं होगी।

४ संभवत मुनिचन्द्रसूरि रचित चूर्णि ही हो क्योंकि चूर्णी प्राकृत मे ही है।

५ संभवत' रामदेव गणि का ही हो, इसकी प्रति जयपुर भडार मे है।

६ यह 'सटीकाश्चत्वार प्राचीनकर्मग्रन्था' मे प्रकाशित हो चुका है।

७ यह २३ गाथा का अपूर्ण मुनि श्री चतुरविजय जी को प्राप्त है। इसमे कर्त्ता का उल्लेख नही है।

८. इसकी प्रति अहमदावाद चचलवाना भडार मे है। पत्र ३२ हैं। ये मेरु वाचक कौन हैं ? प्रति के सन्मुख न होने से नही कह सकता।

९ इसकी प्रति बगाल एसियाटिक सोसायटी मे है।

१०. १२ अवचूरि और उद्धार दोनो प्रतियें खमात जैन शाला के भण्डार में है। अवचूरि ७०० श्लोक परिमाण की है और उद्धार १६०० श्लोक परिमाण का। इन दोनो के कर्त्ता कौन हैं? कह नहीं सकता।

११ इसकी एक प्रति कान्तिविजयजी संग्रह वडोदा में १६ वीं शती लिखित प्राप्त है।

पिण्डविशुद्धि—	वृत्ति	श्रीचन्द्रसूरि
	लघुवृत्ति	यशोदेवसूरि
	दीपिका	उदयसिंहसूरि
	टीका	अजितदेवसूरि[1]
	दीपिका[2] (लघुवृत्तिरूपा)	
	अवचूरि	अज्ञातकर्तृक
	"	"[3]
	पञ्जिका	"[4]
	अवचूरि	श्रीचन्द्र[5]
	टीका	अज्ञातकर्तृक[6]
	"	कनककुशल[7]
	बालावबोध	संवेगदेवगणि
पौषधविधिप्रकरण	वृत्ति	यु० जिनचन्द्रसूरि
प्रतिक्रमण समाचारी	स्तवक	विमलकीर्त्ति
द्वादशकुलक	टीका	उ० जिनपाल
धर्मशिक्षा प्रकरण	टीका	उ० जिनपाल
संघपट्टक	बृहद्वृत्ति	जिनपतिसूरि
	लघुवृत्ति (संस्करण)	उ० हर्षराज
	वृत्ति	लक्ष्मीसेन
	"	विवेकरत्नसूरि[8]
	अवचूरि	उ० साधुकीर्ति

१ पल्लीवाल गच्छीय श्री महेश्वरसूरि के शिष्य हैं। इस दीपिका की रचना स १६२६ मे हुई है। आपकी रची हुई उत्तराध्ययन बालावबोधिनी टीका, आचारांग दीपिका और आराधना आदि प्राप्त हैं। इस दीपिका की केवल एक मात्र प्रति पाटण भण्डार मे है।

२ इसकी प्रति बंगाल रोयल एशियाटिक सोसायटी में है। बृहत् टिप्पनिका के आधार पर इसका श्लोक परिमाण ५५० है।

३. स १५१० आषाढ वदि २ देवकुलपाटक नगर मे तपगच्छीय सोमसुन्दरसूरि प्रशिष्य उपाध्याय साधुराज गणि के शिष्य आनन्दरत्न गणि लिखित प्रति कान्तिविजय जी स० बडोदा में है।

४. इसकी प्रति डेला उपाश्रय भंडार अहमदाबाद में है।

५ जैन ग्रन्थावली के आधार से इसकी प्रति जैसलमेर भडार में है।

६ इसकी प्रति विजयधर्मलक्ष्मी ज्ञान भडार आगरा आदि में है। इसका कर्ता कौन है ? सदिग्ध है।

७ जिनरत्न कोष मे इसे सदिग्ध कर्त्ता के रूप मे लिखा है। अत विचारणीय है। यदि कनककुशल ही हो तो ये कनककुशल विजयसेनसूरि के शिष्य थे और इनका सत्ताकाल हैं १७वी शती का उत्तरार्द्ध। इनके परिचय के लिये देखें, देसाई का जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास।

८ ये खरतरगच्छ के हैं और इसकी एक मात्र प्रति डेलानो भण्डार अहमदाबाद मे है। प्राप्त न होने से लेखक और व्याख्या के सम्बन्ध में लिखने मे मैं असमर्थ हूँ।

	पंजिका	देवराज[1]
	बालावबोध	उ० लक्ष्मीवल्लभ
स्वप्न-सप्तति	टीका	सर्वदेवसूरि
प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्यम्	टीका	उ० पुण्यसागर
	अवचूरि	सोमसुन्दरसूरि शिष्य[2]
	"	मुक्तिचन्द्र गणि[3]
	"	कमलमन्दिर गणि[4]
	"	अज्ञात[5]
	टीका	अज्ञात[6]
चरित्र पञ्चक	टीका	उ० साधुसोम
	अवचूरि	उ० कनकसोम
	बालावबोध	कमलकीर्ति
महावीर चरित्र	टीका	उ० समयसुन्दर
	अवचूरि	कनककलश गणि[7]
	बालावबोध	विमलरत्न
	"	उ० समयसुन्दर[8]
	स्तबक	सुमति[9]

१. देवराज, इस पंजिका का उल्लेख केवल जिनरत्न कोष में ही है।

२. सोमसुन्दरसूरि शिष्य का नामोल्लेख नहीं है। लेखक का समय १६वीं शती का पूर्वार्द्ध है। यह अवचूरि स्तोत्र रत्नाकर द्वितीय भाग में प्रकाशित हो चुकी है।

३ मुक्तिचन्द्र गणि का समय १६वीं शती का पूर्वार्द्ध है। इनका कोई इतिवृत्त प्राप्त नहीं है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे संग्रह में है।

४ इस अवचूरि के कर्त्ता खरतरगच्छीय वेगड शाखा के श्री जिनगुणप्रभसूरि के शिष्य कमलमंदिर हैं। संभवतः आपका सत्ताकाल १७वीं शती है। इसकी तत्कालीन लिखित ६ पत्र की प्रति नाहटाजी के संग्रह में है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है

(आ०) सद्गुरुं गरिमागारं, ज्ञानविज्ञानसंयुतम्। प्रणम्य परया भक्त्याऽवचूरिर्लिख्यते मया ।१।

(अं०) इत्यवचूरिः, कृता श्रीखरतर-वेगडगच्छे श्रीजिनेश्वरसूरिसन्ताने श्रीजिनगुणप्रभसूरीश्वरसुविनेयेन मुनिना कमलमन्दिरेण शोधिता। प० गुणसागरवाचनाय।

५ इसकी एक मात्र प्रति यूनिवर्सिटी लायब्रेरी बम्बई में सुरक्षित है। जैसा कि कुछ सूचिपत्रों में कर्त्ता का नाम देवसूरि लिखा है। किन्तु लिपि-वाचन के भ्रम से 'तदवचूरि' को देवसूरि पढ़ा गया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

६ जिनरत्न कोषानुसार

७ खरतरगच्छीय श्री जिनचन्द्रसूरि के शिष्य रत्ननिधान के पठनार्थ सं० १६०६ में इसकी रचना की गई है। इसी समय की एक प्रति भां० ओ० रि० इं० पूना में नं० ३१३ १८७१-७२ पर पत्र ३ पंच पाठमय सुरक्षित है।

८ इनकी स्वयं लिखित प्रति राज० प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में है।

९ खरतरगच्छीय पिप्पलक शाखा के श्री उदयसागर के प्रशिष्य श्री जयकीर्ति के शिष्य थे। आपका सत्ताकाल १७वीं शती का उत्तरार्द्ध है।

लघु अजित-शान्ति-स्तव	(उल्लासि)	
	टीका	उ० धर्मतिलक
	"	उ० समयसुन्दर
	"	उ० गुणविनय
	बालावबोध	उ० साधुकीर्ति
	"	उ० कमलकीर्ति
	"	उ० देवचन्द्र
नन्दीश्वर स्तोत्र	टीका	उ० साधुसोम
भावारिवारण स्तोत्र	टीका	उ० जयसागर
	"	उ० मेरुसुन्दर
	"	" क्षेमसुन्दर
	"	चारित्रवर्धन
	"	मतिसागर[1]
	अवचूरि	अज्ञात[2]
	बालावबोध	उ० मेरुसुन्दर
	पादपूर्ति स्तोत्र	पद्मराज गणि

टीकाकारों का परिचय

मुनिचन्द्रसूरि

सूक्ष्मार्थविचारसार प्रकरण के चूर्णिकार आचार्य मुनिचन्द्रसूरि वृहद्गच्छीय सर्वदेवसूरि के प्रशिष्य और श्री यशोभद्रसूरि के शिष्य थे। आपको संभवत श्री नेमिचन्द्रसूरि ने आचार्य पद प्रदान किया था। आपके विद्यागुरु पाठक विनयचन्द्र थे। आप न केवल असाधारण विद्वान् तथा वादीभपंचानन थे, अपितु अत्युग्र तपस्वी और बालब्रह्मचारी भी थे। आप केवल सौवीर (कांजी) ही ग्रहण करते थे, इसी कारण से आप "सौवीरपायी" के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपके अनुशासन मे ५०० साधु और साध्वियो का समुदाय निवास करता था। तत्समय के प्रसिद्ध वादीकण्ठकुद्दाल आचार्य वादी देवसूरि जैसे विद्वान् के गुरु होने का आपको सौभाग्य प्राप्त था। गुर्जर, लाट, नागपुर इत्यादि आपकी विहारभूमि के क्षेत्र थे। ग्रन्थ रचनाओ मे प्राप्त उल्लेखो को देखते हुए आपका पाटण मे अधिक निवास हुआ प्रतीत होता है। आपका स्वर्गवास स० ११७८ मे हुआ है।

१. मुनि कान्तिसागर संग्रह, जयपुर, सं० १५०१ लिखित प्रति।

२ इसकी प्रति महिमा भक्ति भंडार बीकानेर मे नं० २१० पर है।

आप तत्समय के प्रसिद्ध और समर्थ टीकाकार तथा प्रकरणकार हैं। आपके प्रणीत टीका-ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है:

१	देवेन्द्र-नरकेन्द्र-प्रकरण वृत्ति	सं० ११६८ पाटण	चक्रेश्वराचार्य संशो.
२.	सूक्ष्मार्थविचारसार प्र० चूर्णी	सं० ११७० आमलपुर	शि. रामचंद्र सहायता से
३	अनेकान्तजयपताकावृत्त्युपरि टिप्पन	सं० ११७१	
४.	उपदेशपद टीका	सं० ११७४	(नागौर में प्रारम्भ और पाटण में समाप्त)
५.	ललितविस्तरापञ्जिका		
६	धर्मबिन्दु वृत्ति		
७	कर्मप्रकृति टिप्पन		

प्रकरणों की तालिका निम्न प्रकार है:

१	अंगुल सप्तति	११	प्राभातिक स्तुति
२.	आवश्यक सप्तति	१२	मोक्षोपदेश पञ्चाशिका
३	वनस्पति सप्तति	१३.	रत्नत्रय कुलक
४.	गाथाकोष	१४	शोकहरोपदेश कुलक
५	अनुशासनाङ्कुशकुलक	१५.	सम्यक्त्वोत्पादविधि
६	उपदेशामृतकुलक	१६	सामान्यगुणोपदेशकुलक
७	,,	१७.	हितोपदेश कुलक
८.	उपदेश पञ्चाशिका	१८.	कालशतक
९	धर्मोपदेश कुलक	१९	मंडलविचार कुलक
१०.	,,	२०	द्वादशवर्ग

आपने नैषधकाव्य पर भी १२००० श्लोक प्रमाणोपेत टीका की रचना की थी किन्तु दुर्भाग्यवश आज वह प्राप्त नहीं है।

मुनिचन्द्रसूरि ने इस सार्द्धशतक प्रकरण पर सं० ११७० ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया गुरुव.र के दिवस, आमलपुर में निवास करते हुए अपने शिष्य रामचन्द्रगणि (आचार्य बनने के बाद वादि देवसूरि के नाम से प्रसिद्ध) की सहायता से प्राकृत भाषा में २४७३ श्लोक प्रमाणवाली चूर्णी की रचना पूर्ण की

इच्चेसा जिणवल्लहस्स गणिणो वक्काउ निप्फाइया,
चुन्नी चुन्नि य सुद्धनिद्धुरपया भव्वाणसंबोहिणी।
सखेवा मुणिचंदसाहुपहुणा पत्थेमि पन्नावणा
अब्भस्संतु विसोहयंतु य इम वित्थारमाणेतु य ॥१॥

आमलपुरस्स एसा निप्फत्तिमुवगया विहारम्मि।
नियसीसरामचंदाभिहाण गणिणो सहायत्ता ॥२॥

विक्कमनिवासमवच्छरेसु नहमुणिहरप्पमाणेसु।
तीइ सुइ मासिद्धा जेट्ठा इम बोय गुरुवारे ॥३॥

पच्चक्खर निरुविय सिलोगमाणेण ठाविय भाए।
चउवोससयाइ तिसत्तराइ एयाए चुन्नीए ॥४॥

आचार्य जिनवल्लभ प्रणीत ग्रन्थो पर सर्वप्रथम व्याख्याओ मे हमे यह चूर्णी ही प्राप्त होती है। स्मरण रहे कि यह चूर्णी आ० जिनवल्लभ के देहावसान के ३ वर्ष पश्चात् ही वनाई गई है। यह चूर्णी, चूर्णी के नियमानुसार प्राकृत भाषा मे रची गई है। ग्रन्थस्थ प्रत्येक वाक्यों को चूर्ण-चूर्ण करके विशद व्याख्या सह पदार्थ का प्रतिपादन चूर्णीकार ने बहुत ही सफलता के साथ किया है और आगमिक उद्धरणो सह प्रत्येक वस्तुओ का स्पष्टीकरण भी सुन्दर पद्धति से किया है। कई अशो मे तो आचार्य धनेश्वर की अपेक्षा भी यह चूर्णी विशेष महत्त्व रखती है। चूर्णीगत भाषा की प्राञ्जलता, प्रौढता और प्रवाहपूर्णता देखकर निश्चिततया कह सकते है कि चूर्णीकार का प्राकृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। खेद है कि ऐसी महत्त्वपूर्ण चूर्णी का अभी तक भी प्रकाशन नही हुआ है।

इसकी प्रतिया प्र० कान्तिविजय जी सग्रह वडोदरा आदि मे प्राप्त है।

रामदेव गणि

रामदेव गणि के सबंध कोई उल्लेख प्राप्त नही है किन्तु स्वकृत षडशीति टिप्पणक मे 'तस्सिस्सलवेण' से तथा सुमति गणि रचित गणधरसार्द्ध-शतक बृहद्वृत्ति मे उल्लिखित "स हि भगवान् (जिनवल्लभसूरि) यस्य शिरसि स्वहस्तपद्म ददाति, स जडोऽपि रामदेवगणिरिव वदनकमलावतीर्णभारतीकोऽत्यन्तदुर्बोध-सूक्ष्मार्थसारप्रकरणवृत्ति विरचयति।" उल्लेख से यह सिद्ध है कि आप जिनवल्लभसूरि के स्वहस्त-दीक्षित शिष्य थे। आपकी दीक्षा कब हुई, इसका कोई उल्लेख नही है किन्तु ११३०-६७ के मध्य मे आपकी दीक्षा हुई होगी।

आपकी रचनाओ मे सत्तरीटिप्पन, सार्द्धशतक टिप्पन तथा षडशीति टिप्पन प्राप्त हैं। जिनके आद्यन्त इस प्रकार हैं—

सत्तरी टिप्पन:—

(आ०) "सुगइगमसरलसरणि वीर नमिऊण मोहतमतरणि।
सत्तरिए टिप्पेमि किंचि चुन्नीउ अणुसरिउ॥

(अ०) "इय एउ सुमरणत्थ टिप्पणमित्त वि किंचि उद्धरिय।
लक्खणछंदवियारो न य कायव्वो य कोविवह ॥४४७॥

इत्थ य सुत्तविवन्न मइमोहा किंपि उद्धरिय होज्जा।
सोहिंतु जाणमाण मज्झ य मिच्छुक्कडं होउ ॥४४८॥
कृतिरिय श्रीरामदेवगणे।"

सार्द्धशतक टिप्पन

(आ०) "सिद्धत्थसुयं नमिउ सुहमत्थवियारटिप्पणं किंचि ।
सुगुरुवएसेण अह भणामि सरणत्थमप्पस्स ।
तत्थ पगरणकारो मंगलाभिधियाण पडिपायणनिमित्तं इमां गाहामाह
(अ०) "इति सूक्ष्मार्थविचारसारप्रकरणस्य टिप्पणक समाप्तम् ॥ इति॥ ग्र० १४५०"

षडशीति टिप्पणः

आ० "सिरि पासजिणं नमिउं वत्थुवियारस्स विवरण भणिमो ।
इह आयसुमरणत्थं गुरुवएसा समासेणं ॥

"तत्थ ताव पगरणकारो इट्ठदेवयाणमोक्कारपुव्वं अभिधेयं हओयणं च गाहादुगेण भणेइ "

(अ०) सुगुरूणं सिरिजिणवल्लहाण सूरिण सूरिपवराणं ।
उज्झियनियकज्जाण परोवयारेक्करसियाण ॥२॥
जेण कयं वत्थुवियारसारनामं ति पगरणं पउरं ।
अप्पगंथमहत्थं तस्सेव णु विवरणं विहियं ॥३॥
तस्सिस्सलवेण रामदेवगणिणा उ मंदमइणा वि ।
पाइयवयणे हि फुडं भव्वहियट्ठेण समासेण ॥४॥

इन तीनों टिप्पणकों की रचना प्राकृत भाषा मे ही है। इससे आपका प्राकृत भाषा और कर्मसिद्धान्त पर अच्छा अधिकार था, ऐसा प्रतीत होता है। इन तीनों टिप्पणों की जिनमें प्रथम स० १२११ तथा २,३ सं० १२४६ लिखित प्राचीन प्रतियां जैसलमेर जिनभद्रसूरि ज्ञान भंडार मे सुरक्षित हैं।

इनकी टिप्पण संज्ञा होते हुए भी कतिपय वर्ण्यस्थलों पर आपने विवेचन भी विस्तार से बहुत सुन्दर किया है।

धनेश्वरसूरि

सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार प्रकरण के सर्वप्रथम टीकाकार श्री धनेश्वरसूरि त्रिभुवन-गिरि के सम्राट् कर्दम भूपति थे और प्रतिबुद्ध होकर चन्द्रकुलीय श्री शीलभद्रसूरि के शिष्य बने थे। इनने अपने शिष्य पार्श्वदेव गणि (आचार्य पदारूढ होने पर श्रीचन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध) की सहायता से स० ११७१ चैत्र शुक्ला सप्तमी गुरुवार को अणहिलपुर पत्तन मे रह कर इस बृहत्परिमाणवाली टीका की रचना पूर्ण की है। इसका संशोधन तत्समय के प्रसिद्ध आचार्य चक्रेश्वरसूरि ने किया हैं और इसको प्रथमालेखन इन्ही के शिष्य मुनिचन्द्रगणि ने किया है

सम्पूर्णनिर्मलकलाकलितं सदैव, जाड्येन वर्जितमखण्डितवृत्तभावम् ।
दोषानुषङ्गरहितं नितरां समस्ति, चान्द्रं कुलं स्थिरमपूर्वशशाङ्कतुल्यम् ॥३॥
तस्मिंश्चरित्रघनधामतया यथार्थः, सञ्जज्ञिरे ननु धनेश्वरसूरिवर्याः ॥
नीहारहारहरहारविकाशिकाश-सङ्काशकीर्त्तिनिवहैर्धवलीकृताशाः ॥४॥

ये निस्सङ्गविहारिणोऽमलगुणा-विश्रान्तविद्याधर-
व्याख्यातार इति क्षितौ प्रविदिता विद्वन्मनोमोदिनः।
येऽनुष्ठानि जनेषु साम्प्रतमपि प्राप्तोपमा सर्वत-
स्तेभ्यस्तेऽजितसिंहसूरय इहाऽभूवन् सतां सम्मताः ॥५॥

उद्दामधामभवजन्तुनिकामवाम-कामेभकुम्भतटपाटनसिंहपोता।
श्रीवर्द्धमानमुनिपा सुविशुद्धबोधास्तेभ्योऽभवन् विशदकीर्त्तिवितानभाज ॥६॥

लोकानन्दपयोधिवधनवशात् सद्वृत्तता सङ्गतैः,
सौस्थत्वेन कलाकलापकलनाच्छ्लाघ्योदयत्वेन च।
ध्वस्तध्वान्ततया ततः समभवश्चन्द्रान्वय सान्वय,
कुर्वाणा शुचिशालिनोऽत्र मुनिपाः श्रीशीलभद्राभिधा ॥७॥

निःसंख्यैरपि लब्धमुख्यगणनैराशाविकाशं सता
कुर्वाणैरपि सङ्कटीकृतदिगाभोगैर्गुणप्रोणिकै।
श्वेतैरप्यनुरञ्जितत्रिभुवनैर्येषां विशालैर्गुणै-
श्चित्र कोऽपि यशःपट. प्रकटितश्चेतो विचित्रैरपि ॥८॥

सत्तर्ककर्कशधियः सुविशुद्धबोधा, सुव्यक्तसूक्तशतमौक्तिकशक्तिकल्पा।
तेषामुदारचरणा प्रथमा सुशिष्याः, सद्योभवन्नजितसिंहमुनीन्द्रवर्या ॥९॥

तेषां द्वितीय-शिष्या जाता श्रीमद्धनेश्वराचार्या।
सार्द्धशतकस्य वृत्ति गुरुप्रसादेन ते चक्रु ॥१०॥

शशिमुनिपशुपतिसंख्ये वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते।
चैत्रे सितसप्तम्या समर्थितेय गुरुवारे ॥११॥

युक्तायुक्तविवेचन-सशोधनलेखनैकदक्षस्य।
निजशिष्यस्य सुसाहाय्याद् विहिता श्रीपार्श्वदेवगणे. ॥१२॥

प्रथमादर्शं वृत्ति समलिखतां प्रवचनानुसारेण।
मुनिचन्द्र-विमलचन्द्रौ गणी विनीतौ सदोद्युक्तौ ॥१३॥

श्रीचक्रेश्वरसूरिभिरतिपटुभिर्निपुणपण्डितोपेतै।
अणहिलपाटकनगरे विशोध्य नीता प्रमाणमियम् ॥१४॥

इस ग्रन्थ प्रशस्ति के अतिरिक्त आपके सम्बन्ध मे कोई भी उल्लेख प्राप्त नही होते हैं। ग्रन्थ की इस विशद टीका को देखने से यह तो अत्यन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि आप कर्म-साहित्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयो के भी पूर्ण ज्ञाता थे। यही कारण है कि इस ग्रन्थ मे ऐसा विवेच्य विषय कोई भी अवशिष्ट नही रहा जिस पर किसी को पुनः लेखिनी उठानी पडे। टीका बहुत ही सुन्दर और सर्वार्थ-प्रकाशिनी है। व्याख्याकार की लेखिनी अत्यन्त ही प्रौढ और प्राञ्जल होने से यह व्याख्या केवल विद्वद्भोग्या ही बन सकी है, ऐसा हम निःसकोच कह सकते हैं। भाषा मे माधुर्य, ओज तथा आलङ्कारिकता और समास-बहुलता भरी पडी है। उदाहरण के तौर पर अवतरणिका का थोड़ा सा भाग ही देखिये

"ऽहोतिगम्भीरापारसंसारपारावारविहारिजन्तुनाऽतिनिविडशैवलवलयविस्फुरितान्धकारमहाह्रदविवरनिर्गतग्रीवकच्छपेनेव करप्रसरविधुरितान्धकारतारतारकपरिकरितकौमुदीशशाङ्कदर्शनमिवावाप्यातिदुष्प्रापं जिनधर्मान्वितं मानुषत्वं सकलपुरुषार्थसारे परोपकारे यतितव्यम् । स च न निखिलकल्याणकारि जिनशासनोपदेशमन्तरेण । तस्य च प्रभूततरपदार्थविषयत्वेऽपि प्रथमं तावत् कर्मण· सकलदुःखोपनिपातहेतुत्वेन परमारातिभूतत्वात् तत्स्वरूपप्रकाशनविषये एवासौ युक्त । तत्परिज्ञाने हि सदनुष्ठानतस्तदुच्छेदमाधाय प्राणिन परमपदसम्पदं सपदि समासादयन्तीति । तत्स्वरूपप्रकाशनं च यद्यपि कर्मप्रकृत्यादिषु प्रभूततरग्रन्थेषु विहितमेव । तथापि तेऽतिविस्तीर्णत्वेनातिगम्भीरतया च दुरवगाहत्वाद् विशिष्टसहननमेधादिरहितानामिदानीन्तनमानवानां न तथाविधोपकारायालम् । अतस्तेषामनुग्रहाय कर्मप्रकृति-पञ्चसंग्रहादिशास्त्रादेवोद्धृत्य कर्मगतकतिचित्पदार्थानां प्रसङ्गतस्तदितरेषां च केषाञ्चित्प्ररूपणाय सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिकषणकषपट्टकसन्निभप्रतिभ श्रीजिनवल्लभाख्य· सूरि सार्द्धशतकाख्यं प्रकरण चिकीर्षु· ।"

यह टीका जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित हो चुकी है ।

मलयगिरि

आगमिकवस्तुविचारसार प्रकरण के टीकाकार श्रीमलयगिरि के नाम से कौन जैन विद्वान् परिचित न होगा ? जैन आगमों मे उपाग-साहित्य, छेद-साहित्य और प्रकरण-साहित्य पर आपकी उद्भट और प्राञ्जल लेखिनी न चलती तो आज इस साहित्य का ज्ञान भी हमे होता या नहीं ? सदेह ही है । नवाङ्गीवृत्तिकारक खरतरगच्छविभूषण आचार्य श्री अभयदेवसूरि के समान ही आप भी अपने व्याख्या-ग्रन्थो के कारण जैन-साहित्याकाश मे सूर्य के समान प्रभापूर्ण स्थायी हो गये । श्वेताम्बर समुदाय के समस्तगच्छ और समग्र-विद्वान् आपको सदा से श्रद्धाञ्जलि चढाते आये हैं और आपके वाक्यो को आप्तवाक्य सदृश समझते आये है ।

किन्तु खेद है कि ऐसे भागधेय आचार्य का यत्किंचित् भी जीवन-वृत्त हमे प्राप्त नही होता । स्वय टीकाकार ने अपनी लाघवता के कारण किसी भी टीका या ग्रन्थ मे अपने नाम के अतिरिक्त कुछ भी नही लिखा है । और तो और, किन्तु रचना सवत् का भी उल्लेख हमे प्राप्त नहीं होता । आपके कतिपय ग्रन्थो के आधार से केवल इतना ही निश्चित है कि आप चालुक्यवशी कुमारपाल के समय मे मौजुद थे । किवदन्तियो के आधार से तो यह मालूम होता है कि तत्समय के प्रसिद्ध जैनाचार्य महाराजा कुमारपाल प्रतिबोधक श्रीहेमचन्द्राचार्य के आप सहपाठी और सहविहारी थे और एक समय इन दोनो ने साथ ही मे देवी की आराधना भी की थी । कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि आपका सत्ताकाल १३ वीं शती का पूर्वार्ध है ।

आपके प्रणीत अनेक ग्रन्थ हैं जिनका विस्तृत विवेचन जैन-साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास पृ० २७३ तथा मुनि पुण्यविजयजी लिखित बृहत्कल्पसूत्र प्रस्तावना मे देखना चाहिये ।

प्रस्तुत टीका अन्य टीकाओ की अपेक्षा प्रौढ और उपादेय है । किसी-किसी स्थल पर तो (जैसे १४ गुणस्थान) टीकाकार ने इतना अधिक विशद विवेचन किया है कि उस

व्याख्या के अतिरिक्त तत्सम्बन्ध मे अन्य ग्रन्थो को पढने की आवश्यकता ही न रहे। आपकी व्याख्या-पटुता के सम्बन्ध मे क्या प्रकाश डाला जाय! सूर्य की किरणें सर्वत्र ही प्रकाशमान है।

इस प्रकरण पर टीका रचकर आपने जिनवल्लभगणि की शिष्ट और आप्तकोटि के महापुरुषो मे गणना की है जो वस्तुत आचार्य जिनवल्लभ की गीतार्थता और प्रामाणिकता को उद्घोषित कर रही है।

अन्य टीका-ग्रन्थो की तरह इसमे भी नाम के अतिरिक्त किंचित् भी उल्लेख प्राप्त नही है।

यह टीका 'सटीकाश्चत्वार प्राचीनकर्मग्रन्था' नाम से आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हो चुकी है।

हरिभद्रसूरि

आगमिक-वस्तुविचारसार प्रकरण (षडशीति) के टीकाकार श्रीहरिभद्रसूरि बृहद्गच्छीय श्रीमानदेवसूरि के प्रशिष्य और उपाध्यायवर श्री जिनदेव के शिष्यरत्न थे। आपका सत्ताकाल १२ वी शती का उत्तरार्द्ध है। आपने सं० ११७२ श्रावण शुक्ला ५ रविवार को सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल मे अणिहलपुर पाटण मे आशापुरी वसति मे निवास करते हुए ८८५ श्लोक-परिमाण की षडशीती पर टीका की रचना की है

"मध्यस्थभावादचलप्रतिष्ठ, सुवर्णरूप' सुमनोनिवासः।
अस्मिन्महामेरुरिवास्ति लोके, श्रीमान् बृहद्गच्छ इति प्रसिद्ध ॥५॥

तस्मिन्नभूदायतबाहुशाख, कल्पद्रुमाभः प्रभुमानदेव।
यदीयवाचो विबुधै सुबोधाः, कर्णकृता नूतनमञ्जरीवत् ॥६॥

तस्मादुपाध्याय इहाजनिष्ट, श्रीमान्मनस्वी जिनदेवनामा।
गुरुक्रमाराधयितात्पबुद्धिस्तस्यास्ति शिष्यो हरिभद्रसूरि ॥७॥

अणहिल्लपाटकपुरे श्रीमज्जयसिंहदेवनृपराज्ये।
आशापूरवसत्यां वृत्तिस्तेनेयमारचिता ॥८॥

एकैकाक्षरगणनादस्या वृत्तेरनुष्टुभा मानम्।
अष्टौ शतानि जात पञ्चाशत्समधिकानीति ॥९॥

वर्षशतैकादशके द्वासप्तत्यधिके ११७२ नभोमासे।
सितपञ्चम्यां सूर्ये समर्थिता वृत्तिकेयमिति ॥१०॥

श्रीहरिभद्रसूरि भी तत्समय के प्रसिद्ध टीकाकारो मे से हैं। आपके प्रणीत अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं; वे निम्नलिखित हैं:

१ बन्धस्वामित्व कर्मग्रन्थ टीका र.स ११७२ पाटण
२ प्रशमरति प्रकरण वृत्ति सं. ११८५
३ क्षेत्रसमास वृत्ति
४. मुनिपतिचरित्र (प्राकृतभाषा)
५. श्रेयांसनाथचरित्र (प्राकृतभाषा)

मुनिपति चरित्र और श्रेयांसनाथ चरित्र देखने से आपका प्राकृत भाषा पर भी पूर्ण अधिकार प्रतीत होता है। आपकी यह षडशीति पर टीका न अत्यधिक विस्तृत है और न अति संक्षिप्त ही। इसमें प्रकरणगदित वस्तु का विवेचन अत्यन्त ही स्पष्टता के साथ किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि आप कर्म-साहित्य के भी पूर्णज्ञाता थे।

यह टीका 'सटीकाश्चत्वारः प्राचीनकर्मग्रन्थाः' नामक ग्रन्थ में आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हो चुकी है।

यशोभद्रसूरि

आगमिक-वस्तुविचारसार प्रकरण के टीकाकार आचार्य यशोभद्र चन्द्रकुलीय, राजगच्छीय (देशाई के अनुसार) आचार्य शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य, सूक्ष्मार्थविचारसार प्रकरण के टीकाकार ख्यातनामा आचार्य श्रीधनेश्वरसूरि के प्रशिष्य तथा शाकंभरी नरेश, अजयदेव प्रतिबोधक, महाराजा अर्णोराज की राजसभा में दिगम्बर मतानुयायी प्रसिद्ध विद्वान् विद्याचन्द्र एवं गुणचन्द्र[1] के विजेता, धर्मकल्पद्रुमग्रन्थ के प्रणेता आचार्य धर्मसूरि (धर्मघोषसूरि) के शिष्य थे। जैसा कि प्रशस्ति से स्पष्ट है —

शब्दैककारणतयाद्भुतवैभवेन, सद्भावभूषिततया ध्रुवतानुवृत्त्या।
पुण्यात्यखण्डमिह यद्गगनेन सख्य, चान्द्रं कुलं तदवनाधिविगीतमस्ति ॥१॥
तत्रोदित प्रतिदिन स्मरमत्सरादि-दैतेयनिर्दयविमर्दनकेलिलोल.।
विश्वेप्यधृष्यमहिमासवितेव सूरिः, श्रीशीलभद्र इति विश्रुतनामधेयः ॥२॥

× × × ×

तस्याऽभवद् भुवनवल्लभभाग्यसम्पद्, सूरिर्धनेश्वर इति प्रथित स शुध्यतः।
अद्याप्यमन्दमतयो ननु यत्प्रतिष्ठामादित्सव. किमपि चेतसि चिन्तयन्ति ॥४॥
सूक्ष्मार्थ-सार्द्ध शतकप्रकरणविवरणमिषेण सम्यग्दृशाम्।
मलयजमिव लोकानां हृदयानि मुखानि भूषयति ॥५॥

× × ×

नृपतिरजयदेवो देवविद्वन्मनोष-मदवलनविनोदे कोविदैस्तुल्यकालम्।
स्थितिमुपधिविरुद्धां मागधीयामधत्त, स्खलितमखिलविद्याचार्यक यस्य दृष्ट्वा ॥६॥

अर्णोराजनृपे सभां परिवृढे श्रीदेवबोधादिषु,
प्राप्तानेकजयेषु साक्षिषु सदिग्वास. शिरः शेखर।
सद्विद्योऽपि गुणेन्दुरन्तरुदितक्षोभोद्भवेद्वेपथु-
र्हेतुर्यस्य निशम्य मन्त्रविमुखं तत्याज वादव्रतम् ॥१०॥
यस्य श्रीखण्डपाण्डुर्भ्रमति दशदिश. कीर्त्तिरुत्साहिते वा,
धाट द्रष्टु त्रिलोक्या सुरभितभुवनैस्तै पवित्रैश्चरित्रैः।
तस्य श्रीधर्मसूरिर्निरवधिधिषणाशालिन शिष्यलेश,
स्मृत्यै स्वस्येदमल्पं विवरणमकृत श्रीयशोभद्रसूरि ॥११॥

१. आपकी प्रतिष्ठित स० ११६५ की एक मूर्ति अजमेर म्युजियम म प्राप्त है। लेख के लिये देखें, उपाध्याय विनयसागर सम्पादित 'प्रतिष्ठालेख संग्रह' लेख १८

इस प्रशस्ति में आचार्य ने रचनाकाल का निर्देश नहीं किया है किन्तु आचार्य धनेश्वर की सार्द्धशतक टीका का उल्लेख होने से तथा आचार्य जिनप्रभसूरि कृत विविधतीर्थकल्पान्तर्गत फलवर्धि पार्श्वनाथ कल्प मे आ० धर्मसूरि द्वारा सं ११८१ मे फलोदी पार्श्वनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा का उल्लेख होने से, यह निश्चित है कि आचार्य का सत्ताकाल १२ वी शती का अन्तिम चरण और १३ वी शती का प्रथम चरण है। अत यह अनुमान किया जा सकता है इसकी रचना ११८५ के पश्चात् आचार्य ने की है।

आचार्य यशोभद्र ने ग्रन्थकार पूज्य जिनवल्लभ की रचना के सन्मुख अपनी जो पंगुता-लघुता प्रकट की है, वह दर्शनीय है —

> क्वासौ श्रीजिनवल्लभस्य रचना सूक्ष्मार्थचर्चाञ्चिता,
> क्वेय मे मतिरग्रिमा प्रणयिनो मुग्धत्व पृथ्वीभुज ।
> पङ्गोस्तुङ्गनगाधिरोहणसुहृद्यत्नोयमार्यास्ततो-
> ऽसद्ध्यानव्यसनार्णवे निपतत स्वान्तस्य पोतोर्पित ॥२॥

यह टीका आचार्य मलयगिरि और आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीत टीकाओ के सम्मुख साधारण कोटि की होती हुई भी साधारण विद्वानो की तृषा को बुझाने मे पूर्ण समर्थ है। श्लोक-परिमाण मे भी अन्य टीकाओ की अपेक्षा इसका परिमाण विपुल है। स्थान-स्थान पर भाषा की प्राञ्जलता के साथ-साथ वाग्वैदग्ध्य भी प्राप्त होता है। विवेचन सुन्दर-पद्धति से किया गया है।

इस टीका की प्रति प्र० कान्तिविजयजी सग्रह वडोदा मे सुरक्षित है।

देशाई के अनुसार आपका प्रणीत 'गद्यगोदावरी' नामक ग्रन्थ भी प्राप्त है।

श्रीचन्द्रसूरि

पिण्डविशुद्धिप्रकरण के टीकाकार श्रीचन्द्रसूरि चान्द्रकुलीय शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य और श्रीधनेश्वरसूरि के शिष्य थे। मुनि अवस्था मे आपका नाम पार्श्वदेव गणि था, आचार्य होने के पश्चात् आपका श्रीचन्द्रसूरि नाम प्रसिद्ध हुआ। स० १२०४ मे मन्त्री पृथ्वीपाल ने विमलवसहि (आबू) का उद्धार करवाया था, उस समय आप भी वहा विद्यमान थे।

आप एक समर्थ टीकाकार और प्रतिभाशाली विद्वान् थे। स० ११७१ मे जिनवल्लभीय सार्द्धशतक पर आपके गुरुश्री ने टीका रची थी उसमे आप सहायभूत थे —

> युक्तायुक्तविवेचन-सशोधनलेखनैकदक्षस्य ।
> निजशिष्यस्य सुसाहाय्याद् विहिता श्रीपार्श्वदेवगणे: ॥१२॥

(सार्द्धशतकटीका प्रशस्ति)

आपके प्रणीत जो अन्य टीका-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उसकी तालिका निम्नलिखित है

१. दिङ्नाग प्रणीत न्यायप्रवेश, हारिभद्रीय वृत्ति पर पञ्जिका सं० ११६९ :
२. महत्तर जैनदासीय निशीथचूर्णी पर विंशोद्देशक व्याख्या सं० ११७३
३ श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र वृत्ति सं० १२२२,
४ नन्दीसूत्रटीका दुर्गपदव्याख्या
५ जीतकल्पबृहच्चूर्णि व्याख्या सं० १२२७,
६ निरयावलीसूत्र वृत्ति सं० १२२८
७ चैत्यवन्दन सूत्र वृत्ति
८ सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय
९ प्रतिष्ठाकल्प
१० सुखबोधा समाचारी
११ पिण्डविशुद्धिवृत्ति सं० ११७८
१॰ पञ्चावश्यष्टक वृत्ति

आपका साहित्य सर्जन-काल ११६९ से १२२८ तक का है।

पिण्डनिर्युक्ति आदि शास्त्रों का अवलोकन कर सं० ११७८ कार्तिक कृष्णा ११ रविवार, देवकुलकपाटक (देलवाड़ा) में चातुर्मास की स्थिरता करते हुए, ४४०० श्लोक प्रमाण की पिण्डविशुद्धि प्रकरण पर टीका की रचना आपने पूर्ण की है

दोषानुसङ्गरहितं सवृत्तं जाड्यवर्जितं सकलम् ।
समभूदिह चान्द्रकुलं स्थिरं सदाऽपूर्वचन्द्रसमम् ॥१॥

तस्मिन् गुणमणिरोहणगिरिकल्पा शीलभद्रसूर्याख्या ।
प्रभवन्ति हि तु मुनीन्द्रा विशालमतयः सदाकृतयः ॥२॥
औदार्यस्थैर्यगाम्भीर्य-धैर्यरूपादिसयुता ।
समभवन् सुशिष्यास्ते श्रीधनेश्वरसूरयः ॥३॥

× × ×

शास्त्रं पिण्डविशुद्धिसञ्जितमिदं श्रीचन्द्रसूरिः स्फुटं,
तद्वृत्तिं सुगमां चकार तनुधी· श्रीदेवतानुग्रहात् ॥७॥
पिण्डनिर्युक्तिसच्छास्त्रवृद्धव्याख्यानुसारतः ।
नालिकेर्यादिसद्वृक्षे श्रीदेवकुलपाटके ॥८।
वसुमुनिरुद्रैर्जनिते विक्रमवर्षे रवौ समाप्येषा ।
कृष्णैकादश्यां कार्त्तिकस्य योगे प्रशस्ते च ॥९॥

× × ×

अस्यां चतुः सहस्राणि शतानां च चतुष्टयम् ।
प्रत्यक्षरप्रमाणेन श्लोकमानं विनिश्चितम् ॥१४॥

प्रस्तुत टीका अन्य समग्र टीकाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसकी व्याख्या तो संस्कृत में है और उदाहरण प्राकृत भाषा में, जो इनके प्राकृत भाषा के सौष्ठव को सूचित करते हैं। वस्तु का विवेचन भी परिमार्जित किन्तु सरल भाषा में आपने विस्तार से किया है। साथ ही अनेकों दृष्टान्त देकर वस्तु को उपादेय बना दिया है।

इस टीका की रचना आचार्य जिनवल्लभ के स्वर्गारोहण (११६७) के ११ वर्ष पश्चात् की गई है। इसी को लक्ष्य में रख कर पन्यास मानविजय ने इस ग्रन्थ की भूमिका में

गच्छ-व्यामोह से जो यह लिखा है "शासनद्रोहकारि-नवीनमतोत्पादकस्य ग्रन्थं प्रमाणीकुर्वन्तः परमसूत्रानुसारिश्रीमच्चन्द्रसूरिमहाभागास्तस्योपरि वृत्तिं कुर्युरेतदपि सुबुद्धिपथं नावतरति।" सो कितना प्रलापपूर्ण है। देखिये, आपही के गुरु धनेश्वरसूरि जिन्होंने सं० ११७१ में खरतर-गच्छ मान्य इन्ही जिनवल्लभगणि प्रणीत सार्द्धशतक पर टीका रची है, जिसमे आप (श्री चन्द्रसूरि) स्वय सहायभूत थे। इस टीका मे धनेश्वरसूरि स्पष्ट लिखते हैं —

"जिणवल्लह गणित्ति, जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थ-सग्राहिस्थाना-ङ्गाद्यङ्गोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्रवृत्तिविधानावाप्तावदातकीर्त्तिसुधाधवलितधरामण्डलानाश्री-मदभयदेवसूरीणा शिष्येण।'

इससे अत्यन्त ही स्पष्ट है कि जिनवल्लभ नाम का अन्य कोई व्यक्ति नही किन्तु अभयदेवसूरि शिष्य ही है। अन्यथा आचार्य श्रीचन्द्र स्वय 'गणि' शब्द की व्याख्या करते हुए "उण (पुन) गणयोगात् साधुगणयोगाद्वा गणिना-सूरिणा" तथा "सूक्ष्मपदार्थ-निष्क निष्कषणपट्टकसन्निभप्रतिभजिनवल्लभाभिधानाचार्य" जैसे पूज्य शब्दो का व्यवहार कदापि नही करते। अत मानविजयजी का "शासनद्रोहकारि" यह कथन अत्यन्त ही उपेक्षणीय है।

यह टीका विजयदानसूरि ग्रन्थमाला सूरत से प्रकाशित है।

यशोदेवसूरि

आप चन्द्र-कुलीय श्रीवीरगणि के प्रशिष्य और श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य थे। सं० ११७६ मे आपने अपने सुयोग्य शिष्य श्री पार्श्वदेव की सहायता से पिण्डविशुद्धि पर लघुवृत्ति की रचना पूर्ण की। इस लघुवृत्ति का सशोधन आचार्य मुनिचन्द्रसूरि ने किया है। जैसा कि प्रशस्ति मे कहा गया है —

> आसीच्चन्द्रकुलोद्गति शमनिधि. सौम्याकृति सन्मति,
> सलीन प्रतिवासर निलयगो वर्षासु सुध्यानधी।
> हेमन्ते शिशिरे च शार्वरहिम सोढु कृतोर्ध्वस्थिति-
> र्भास्वच्चण्डकरे निदाघसमये चाऽऽतापनाकारक ॥१॥
>
> आदेयता तपस्त्याग-व्याख्यातृत्वादिसद्गुणै।
> लोकोत्तरैर्विशालश्च श्रीमद्वीरगणिप्रभु ॥२॥
>
> श्रीचन्द्रसूरि नामा शिष्योऽभूत्तस्य भारतीमधुर.।
> आनन्दितभव्यजन शंसितसशुद्धसिद्धान्त ॥३॥
>
> तस्यान्तेवासिना दृब्धा, श्रीयशोदेवसूरिणा।
> सुशिष्य-पार्श्वदेवस्य, साहाय्यात् प्रस्तुता वृत्ति ॥४॥
>
> × × ×
>
> पिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्तिं कृत्वा यदवाप्त मया कुशलम्।
> तेनाऽऽमवमपि भूयाद् भगवद्वचने ममास्थाऽस.॥६॥
>
> श्रुतहेमनिकषपट्टै श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिभि: पूज्यै।
> संशोधितेयमखिला प्रयत्नत शेषविबुधैश्च ॥७॥

टीका को देखते हुए यह मालूम होता है कि व्याख्याकार 'मूले इन्द्र विडौजा टीका' के चक्र मे नहीं फंसे हैं और न इसका व्यर्थ मे कलेवर ही बढाया है, किन्तु ग्रन्थकार के आशय को विशदता और सरसता के साथ बहुत ही सुन्दर पद्धति से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भाषा भी आपकी दुरूह न होकर सरल होते हुए भी प्रवाह पूर्ण एवं परिमार्जित है। साथ ही इसकी एक यह भी विशेषता है कि विषय को रोचक बनाने के लिये प्रसग प्रसग पर उदाहरण भी दे दिये हैं। उदाहरण बृहद्वृत्ति की तरह विस्तृत न होकर संक्षेप मे हैं; पर जो हैं वे भी प्राकृत आर्याओ मे। इससे स्पष्ट है कि आपका प्राकृत भाषा पर भी अच्छा अधिकार था। यह वृत्ति लघु होते हुए भी अपने मे पूर्ण है अर्थात् इसको समझने के लिये अन्य टीका की आवश्यकता नही रहती।

आपके प्रणीत और भी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनकी सूचि निम्न प्रकार है :

सं० ११७२ मे हारिभद्रीय पंचाशक पर चूर्णि, स० ११७४ मे इर्यापथिकी, चैत्यवन्दन और वन्दनक पर चूर्णिये, स० ११७८ मे पाटण मे सिद्धराज जयसिंह के राज्य मे सोनी नेमिचन्द्र की पौषधशाला मे निवास करते हुए पाक्षिकसूत्र पर सुखावबोधा नाम की टीका और स० ११८२ मे रचित प्रत्याख्यान-स्वरूप आदि की रचनाए प्राप्त है।

यह टीका जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है।

उदयसिंहसूरि

पिण्डविशुद्धि प्रकरण के दीपिकाकार श्री उदयसिंहसूरि चन्द्रकुलीय आगमज्ञ श्री श्रीप्रभसूरि (धर्मविधिप्रकरण के प्रणेता) के प्रशिष्य और श्रीमाणिक्यप्रभसूरि (कच्छूली पार्श्वचैत्य के प्रतिष्ठाकार) के शिष्य थे। आपने श्रीयशोदेवसूरि प्रणीत लघुवृत्ति को आदर्श मानकर तदनुसार ही सं० १२९५ मे ७०३ श्लोक प्रमाणवाली इस दीपिका की रचना की। जैसा कि प्रशस्ति से स्पष्ट है

इति विविधविलसदर्थं सुविशुद्धाहारमहितसाधुजनम्।
श्रीजिनवल्लभरचितं प्रकरणमेतन्न कस्य मुदे ॥१॥

मादृश इह प्रकरणे महार्थपक्तौ विवेश बालोऽपि।
यद्वृत्त्यङ्गुलिलग्नस्तं श्रयत गुरुं यशोदेवम् ॥२॥

आसीदिह चन्द्रकुले श्रीश्रीप्रभसूरिरागमधुरीणः।
तत्पदकमलमराल श्रीमाणिक्यप्रभाचार्य ॥३॥

तच्छिष्याणुर्जडधी-रार्मविदे सूरिरुदयसिंहाख्यः।
पिण्डविशुद्धेर्वृत्तिं युद्दधे दीपिकामेनाम् ॥४॥

अनया पिण्डविशुद्धेर्दीपिकया साधवः करस्थितया।
शस्यावलोककुशला दोषोत्थतमांस्यपहरन्तु ॥५॥

विक्रमतो वर्षाणां पञ्चनवत्यधिकरविमितशतेषु।
विहितेयं श्लोकैरिह सूत्रयुता त्र्यधिकसप्तशती ॥६॥

अन्य वृहद्वृत्तियो, लघुवृत्तियो का आश्रय लेकर इस दीपिका की रचना हुई है। यह दीपिका सक्षिप्त होते हुए भी वस्तुत प्रकरण के लिये दीपिका सदृश ही है। सक्षिप्त-रुचि तज्ञो के लिये यह दीपिका अत्यन्त ही महत्त्व की है। भाषा भी इसकी सरल और सुबोध है। संक्षिप्त होने पर भी इसमे प्रतिपादित विषयो का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। इसमे दीपिकाकार ने कथानको का आश्रय लेकर इसका कलेवर बढाने का व्यर्थ प्रयत्न नही किया है, उदाहरणो के लिये वृत्तियो का उल्लेख कर दिया है।

उदयसिंहसूरि के सबध मे देसाई ने अपने "जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास" मे लिखा है:

"ते उदयसिंहे चड्डावलि (चन्द्रावती) ना राउल धधलो देवनी समक्ष मन्त्रवादि ने मन्त्र थी हराव्यो। तेणे पिण्डविशुद्धिविवरण, धर्मविधिवृत्ति अने चैत्यवन्दन दीपिका रची। अने ते स० १३१३ मा स्वर्गस्थ थया। पछी कमलसूरि, प्रज्ञासूरि, प्रज्ञातिलकसूरि थया वगेरे।"
(पृ० ४३४)

यह दीपिका जिनदत्तसूरि ज्ञान भडार बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है।

संवेगदेव गणि

पिण्डविशुद्धि प्रकरण के बालावबोधकार प० सवेगदेव गणि तपागच्छनायक श्री सोमसुन्दरसूरि के पट्टधर श्रीरत्नशेखरसूरि के शिष्य थे। आपने पिण्डविशुद्धि पर स० १५१३[1] मे बालावबोध की रचना की है। आपके सम्बन्ध मे कोई उल्लेखनीय बात प्राप्त नही है। आपकी दूसरी कृति १५१४ मे रचित आवश्यक-पीठिका पर बालावबोध है। इससे प्रतीत होता है कि समय की माग को स्वीकार करते हुए आपने अपनी लेखिनी को भाषा-साहित्य की तरफ मोडकर समयज्ञता का परिचय दिया है। पिण्डविशुद्धि बालावबोध का आद्यन्त इस प्रकार है:

(आ०) श्रीमद्वीरजिनेश नत्वा श्रीसोमसुन्दरगुरूश्च।
पिण्डविशुद्धेर्बालावबोधरूपं तनोम्यर्थम् ॥१॥

× × ×

(अं०) इति श्रीजिनवल्लभसूरिविरचित–पिण्डविशुद्धिप्रकरणस्यार्थो बालावबोधरूपः तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिशिष्य-विजयमानभट्टारक-प्रभु-श्रीरत्नशेखरसूरि-शिष्य० प० सवेगदेवगणिना समर्थित।"

उक्त बालावबोध मूल प्रकरण पर सुन्दर प्रकाश डालता है। भाषा होते हुए भी इसकी भाषा प्रसादगुण से पूर्ण है। भाषा–शास्त्र की दृष्टि से यह बालावबोध विवेचनीय अवश्य है।

इसकी अनेको प्रतिया प्राप्त है।

१. जैन सा० स० इ० के आधार से

युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि

पौषध-विधि-प्रकरण के वृत्तिकार आचार्य युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि श्रीजिनमाणिक्य-सूरि के शिष्य थे। आपके माता-पिता वीसा ओसवाल श्रीवंत और सियादे खेतसर(मारवाड) के निवासी थे। आप का जन्म स० १५९५ मे हुआ था और बाल्यावस्था का आपका नाम था सुलतान। आचार्य श्रीजिनमाणिक्यसूरि के उपदेश से प्रभावित होकर ९ वर्ष की अल्पावस्था मे आपने स० १६०४ मे दीक्षा ग्रहण की और आप का उस समय दीक्षा नाम रखा गया सुमतिधीर। स० १६१२ भाद्रपद शुक्ला ९ गुरुवार को जैसलमेर के रावल श्रीमालदेवजी ने आचार्य पदारोहण का उत्सव किया और वेगडगच्छ (खरतरगच्छ की ही एक शाखा) के आचार्य गुणप्रभसूरि ने आपको आचार्य पद प्रदान कर तथा जिनचन्द्रसूरि नाम प्रख्यात कर गच्छनायक घोषित किया। सं० १६१४ चैत्र कृष्णा सप्तमी को प्रचलित शिथिलाचार को दूर कर आपने क्रियोद्धार किया। स० १६१७ मे पाटण मे जिस समय तपगच्छीय उद्भटविद्वान् कदाग्रही उ० धर्मसागरजी ने गच्छ-विद्वेषो का सूत्रपात किया उस समय उनका आचार्यश्री ने शास्त्रार्थ के लिये आह्वान किया और उनके उपस्थित न होने पर अन्य तत्कालीन समग्र-गच्छीय आचार्यो के समक्ष धर्मसागरजी को उत्सूत्र-वादी घोषित किया था। सम्राट् अकबर के आमन्त्रण से सूरिजी १६४८ फाल्गुन शुक्ला १२ के दिवस ३१ साधुओ के परिवार सहित लाहौर मे सम्राट् से मिले और स्वकीय उपदेशो से प्रभावित कर आपने तीर्थों की रक्षा एव अहिंसा प्रचार के लिये कई फरमान प्राप्त किये थे। सं० १६४९ फाल्गुन वदि १० के दिवस सम्राट् के हाथ से ही युगप्रधान पद भी प्राप्त किया जिसका विशाल महोत्सव करोडो रुपये व्यय कर महामन्त्री कर्मचन्द्र बच्छावत ने किया था। स० १६७० आश्विन कृष्णा २ को बिलाडा मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

२२ वर्ष जैसी अल्पावस्था मे पौषधविधि प्रकरण जैसे सैद्धान्तिक विधि-विधान पूर्ण प्रकरण पर ३५४४ श्लोक प्रमाण वृत्ति रचकर आपने अपनी असीम प्रतिभा का परिचय दिया है। इस टीका की पूर्णाहूति स० १६१७ विजय दसमी के दिवस पाटण मे हुई है। इस प्रकरण के अन्तिम द्विपदी-पद्य की व्याख्या उपाध्याय जयसोम ने की है और इस वृत्ति का संशोधन तत्समय के प्रतिष्ठित गीतार्थशिरोमणि महोपाध्याय पुण्यसागर, उपाध्याय धनराज और महोपाध्याय साधुकीर्ति गणि ने किया है

"एतद्द्विपदीव्याख्या लिखनादवलोकनाच्च गुरुवचसा।
जयसोमोपाध्याया एतत्कृत्योपयोगिनो विहिताः ॥१॥
प्रथितमद श्रीगुरुभि. शास्त्र जिनचन्द्रसूरिभिर्विवृतम्।
पुण्यधनसाधुवर्णितमेतज्जयकारणं भूयात् ॥२॥

× × × ×

तेषा गुरूणा शिष्येण श्रीजिनचन्द्रसूरिणा।
श्रीपौषधविधेर्वृत्तिश्चक्रे वाणीप्रसादत ॥१९॥
मुन्येकैणाङ्ककलाप्रमिते वर्षेऽणहिल्लपुरनगरे।
वभासि विजयदसमीदिवसे सत्पुण्यसम्पूर्णे ॥२०॥

संयोज्य वृत्ति चूर्णि-सामाचारीं विलोक्य सद्दृष्ट्या ।
श्रीपुण्यसागरमहोपाध्यायै शास्त्रधौरेयै ॥२१॥
श्रीपाठकधनराजे सुशोधिता साधुकीर्तिगणिनाऽपि ।
विबुधै. प्रवाच्यमाना नन्दतु यावज्जिनेन्द्रमतम् ॥२२॥
प्रत्यक्षरगणनेन त्रिसहस्रीपञ्चशतकसयुक्ता ।
चतुरधिकै. पञ्चाशतश्लोकै प्रत्यक्षत प्रकटा ॥२३॥

जिनवल्लभ के अन्य ग्रन्थो पर तो तत्काल ही अनेक वृत्तियो की रचना हो चुकी थी । किन्तु इस मूल प्रकरण की रचना होने के ५०० वर्ष तक भी इस पर कोई टीका, दीपिका, पञ्जिका और अवचूरि आदि की रचना हुई हो ज्ञात नही होती । सर्वप्रथम १७ वी शती मे ही आवश्यक सूत्र सम्बन्धी समग्र साहित्य (जिसमे वृत्ति, चूर्णि इत्यादि का भी समावेश है) का आलोडन कर, सुन्दर वृत्ति का निर्माण कर आपने विधिपक्ष (खरतरगच्छ) की समाचारी को सुस्थिर रखने का जो प्रयत्न किया है, वह वस्तुतः श्लाघ्य है ।

इस टीका मे स्थान-स्थान पर आगमिक तथा प्राकरणिक उद्धरणो की बहुलता दृष्टिगोचर होती है । इसकी भाषा अत्यन्त ही परिमार्जित है और विवेच्य विषय है प्रवाह पूर्ण ।

इस टीका का प्रकाशन उपाध्याय सुखसागरजी कर रहे है[1] ।

वाचनाचार्य विमलकीर्ति

प्रतिक्रमण समाचारी के स्तवककार श्री विमलकीर्त्ति महोपाध्याय श्री साधुकीर्त्ति गणि के प्रशिष्य तथा उपाध्याय श्री विमलतिलक के शिष्य थे । जातित. आप हुम्बडगोत्रीय थे और आपके माता–पिता का नाम था श्रीचन्द्र शाह और गवरादेवी । स० १६५४ माह शुक्ला ७ के दिवस "उक्तिरत्नाकर, धातुरत्नाकर, शब्दरत्नाकर" आदि अनेक ग्रन्थो के प्रणेता श्री साधुसुन्दर उपाध्याय ने आपको दीक्षा प्रदान की थी । आचार्य जिनराजसूरि जी ने स० १६७४ के पश्चात् आपको 'वाचक' पद प्रदान किया था । सं० १६९२ किरहोर (सिन्ध) मे आपका स्वर्गवास हुआ था ।

आपकी निम्नलिखित कृतियां प्राप्त हैं

१. चन्द्रदूत (मेघदूत पादपूर्तिरूप सं० १६८१ प्र)	७ दशवैकालिक सूत्र स्तवक
२ पदव्याख्या	८ उपदेशमाला स्तवक (र सा० १६८६)
३. जीवविचार बालावबोध	९ प्रतिक्रमणसमाचारी स्तवक
४. नवतत्त्व "	१० यशोधर रास (र सा० १६६५)
५ षष्टिशतक "	११ जोधपुर-मडन पार्श्वस्तव
६ जयतिहुअण "	१२ प्रतिक्रमण-विधि-स्तव (र सा० १६९०)

१ विशेष परिचय के लिये देखें, युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि ।

चन्द्रदूत काव्य देखने से कवि-प्रतिभा का हमे अवश्य ही ज्ञान होता है। यह काव्य मेघदूत की पादपूर्ति-रूप मे बनाया गया है। पादपूर्ति रूप होता हुआ भी यह एक मौलिक काव्य का सौन्दर्य रखता है।

प्रतिक्रमण समाचारी का अक्षरार्थ-स्तवक (टब्बा) सामान्यतया सुन्दर है किन्तु इस स्तवक से कोई व्युत्पत्ति अथवा विचारणा शक्ति का प्रादुर्भाव नही हो सकता।

जिनपालोपाध्याय

युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के आप शिष्य थे। सं० १२२५ में पुष्कर मे स्वयं आचार्यश्री ने आपको दीक्षा प्रदान की थी। १२६९ मे जावालिपुर (जालोर) विधिचैत्य मे आचार्यश्री ने आपको उपाध्याय पद प्रदान किया था। सं० १२७३ मे बृहद्द्वार मे आचार्य जिनपतिसूरि की आज्ञा से महाराज पृथ्वीचन्द्र की अध्यक्षता मे पं० मनोदानन्द को "जैन-षड्दर्शन से बाह्य हैं" विषय पर शास्त्रार्थ कर विजयपत्र प्राप्त किया था[1]। सं० १२८८ आश्विन सुदि १० को पालनपुर मे राजपुत्र श्री जगसिंह के सानिध्य मे साधु भुवनपाल ने स्तूप पर ध्वजारोहण प्रतिष्ठा का महामहोत्सव आपके कर-कमलो से कराया था। सं० १३११ पालनपुर मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

आप न्यायशास्त्र, अलङ्कार, साहित्य-शास्त्र तथा चित्रकाव्य के मर्मज्ञ थे। आपकी प्रतिभा का यशोगान करते हुए आपके ही सतीर्थ्य श्री सुमतिगणि गणधरसार्धशतक बृहद्वृत्ति मे लिखते हैं.

नानातर्कवितर्ककर्कशलसद्वाणीकृपाणीस्फुरत्-
तेज प्रौढतरप्रहारघटनानिष्पिष्टवादिव्रजा. ।
श्रीजैनागमतत्त्वभावितधिय. प्रीतिप्रसन्नानना,
सन्तु श्रीजिनपाल इत्यलमुपाध्याया. क्षितौ विश्रुता. ॥

जैनागमो के भी आप पूर्णनिष्णात थे। आपने अभयकुमार-चरित्रकार चन्द्रतिलकोपाध्याय, सन्देहदोलावलीवृत्तिकार श्री प्रबोधचन्द्रगणि आदि प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानो को शास्त्रो का अभ्यास करवाया था। इसीलिये वे अपने ग्रन्थो मे आपको गुरु-रूप मे स्वीकार करते हैं

सम्यगध्याप्य निष्पाद्य यश्चान्तेवासिनो बहून्।
चक्रे कुम्भध्वजारोप गच्छप्रासादमूर्धनि ॥३८॥

१. इस शास्त्रार्थ का उल्लेख आपने स्वय ने स्वप्रणीत युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि पृ ४४-४६ मे बडे विस्तार से दिया है और इसी का उल्लेख उ. चन्द्रतिलक अभयकुमार चरित्र मे भी करते हैं.

भूयो भूमिभुजङ्गससदि मनोदानन्दविप्र घना-
हङ्कारोद्धुरकन्धरं सुविदुर पत्रावलम्बप्रदम्।
जित्वा वादमहोत्सवे पुरि बृहद्द्वारे प्रदर्श्योच्चकै-
र्युक्ती सद्युत गुरु जिनपति यस्तोषयामासिवान् ॥३७॥

श्रीजिनपालोपाध्यायमौलेस्तस्यास्य सन्निधौ।
मयोपादायि नन्द्यादिमूलागमाङ्गवाचना ॥३६॥

अभयकुमारचरित–प्रशस्ति

जिनपालोपाध्याया आसन् यस्यागमे गुरव ।

संदेहदोलावृलिवृति–प्रशस्ति

आपकी स्वतन्त्र मौलिक रचनाओ मे सनत्कुमारचक्रिचरित[1] महाकाव्य है। इसमें २४ सर्ग हैं। इसके २१ वे सर्ग मे युद्धवर्णन प्रसग को लक्ष्य मे रखकर कविकल्पना के साथ क च ट त प य इत्यादि वर्गो का परिहार करते हुए चित्रकाव्यो मे जो चमत्कार दिखलाया है वह अन्यत्र सुलभ नही है। इसी की प्रशसा करते हुए सुमति गणि लिखते है

नानालङ्कारसार रचितकृतबुधाश्चर्यचित्रप्रकार,
नानाच्छन्दोभिराम नगरमुखमहावर्णकाव्यप्रकामम्।
दृब्ध काव्यं सटीक सकलकविगुरुण तुर्यचक्रेश्वरस्य,
क्षिप्र यैस्तेऽभिषेका प्रथमजिनपदाश्लिष्टपाला मुदे न ॥१३॥

इसमे 'सटीक' शब्द जो सुमति गणि ने लिखा है उससे यह तो निश्चित है कि इस पर आपने स्वय ने टीका की रचना की थी, किन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि इसकी टीका आज अप्राप्त है।

आप केवल कवि ही नही थे किन्तु एक सफल टीकाकार भी थे। आपकी रचित निम्नाङ्कित टीकाएं प्राप्त हैं

१ षट् स्थानक-वृत्ति[2] (सं १२६२) २ उपदेशरसायन-विवरण[3] (स १२६२)
३ द्वादशकुलक-विवरण[4] (स १२६३) ४ पचलिङ्गीविवरण-टिप्पण[5] (स १२६३)
५ धर्मशिक्षा-विवरण[6] (स १२६३) ६ चर्चरी-विवरण[7]: (स. १२६४)
७ स्वप्नफलविवरण[8] ८ स्वप्नविचारभाष्यवृत्ति[9]

इनके अतिरिक्त युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि[10] (स १३०५ ढिल्ली वास्तव्य हैमाभ्यर्थनया) जो ऐतिहासिक दृष्टि से खरतरगच्छ के आचार्यों का एक सुव्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करती है तथा जिनपतिसूरि पचाशिका और सक्षिप्त पौषध विधि भी प्राप्त है।

१. यह महाकाव्य मेरे द्वारा सम्पादित होकर राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से प्रकाशित हो चुका है।
२ ४ ५ जिनदत्तसूरि ज्ञान भडार सूरत से प्रकाशित
३ ७ प० लालचन्द्र गाधी द्वारा सपादित अपभ्रश काव्यत्रयी मे प्रकाशित
६ अप्रकाशित है। प्राचीन प्रति मेरे सग्रह मे है।
८ जैसलमेर भडार
९. अप्राप्त।
१० मुनि जिनविजय सपादित एवं सिंघी ग्रन्थमाला से प्रकाशित है।

कवि ने अपनी लघुता दिखाने के लिये अपना उपनाम 'शिष्यलेश' रखा है और इसी का सनत्कुमारादि काव्यों में प्रयोग किया है।

द्वादशकुलक-विवरण

अनेक ग्रन्थों का अवलोकन कर प्रमाण देते हुए ३३६३ श्लोकोपेत द्वादशकुलक का विवरण आपने बहुत ही सुन्दर पद्धति से लिखा है। इस विवरण में शब्दों की व्यर्थ भरमार नहीं है, इससे ग्रन्थकार के मूल आशय को समझने में काफी सरलता हो गई है। इस का रचना काल १२९३ भाद्रपद शुक्ला १२ है और इसका प्रारंभ गच्छनायक श्री जिनेश्वरसूरि के आदेश से किया गया था

चक्रे तच्छिष्यलेशैर्निरुपमजिनपालाभिधेकैः प्रसादा-
दत्युग्रात् सद्गुरूणां कुलकविवरणं किञ्चिदेतत् सुबोधम्।
तच्छोध्य सूरिवर्यैमयि विहितकृपैः सन्नवन्त्येव यस्माद्,
दोषाश्छद्मस्थबाधये किमुत कुवचने मादृशां मान्द्यभाजाम् ॥६॥
श्रीमत्सूरिजिनेश्वरस्य सुमुनिव्रातप्रभोः साम्प्रतं,
शीघ्रं चारुमहाप्रबन्धकविधुर्वाक्यात् समारम्भि यत्।
३ ९ १२
तन्निष्ठामधुना ययौ गुणनवादित्यप्रमाणे वरे,
वर्षे भाद्रपदे सितौ शुभतरे द्वादश्यहे पावने ॥७॥

× × ×

त्रयस्त्रिंशच्छतान्येव त्रिषष्ट्या सङ्गतानि च।
प्रत्यक्षरं प्रमाणं भो श्लोकानामिह निश्चितम् ॥८॥

धर्म-शिक्षा-विवरण

धर्मोपदेशमय ४० श्लोक के इन छोटे से काव्य में वर्णित १८ वस्तुओं का सैद्धान्तिक प्रतिपादन और दृष्टान्तों सहित विवेचन सुन्दर पद्धति से किया गया है। द्वादशकुलक विवरण की अपेक्षा इसकी भाषा कुछ अधिक प्रौढ है। जो स्वाभाविक भी है क्योंकि आप्त इत्यादि का विवेचन दार्शनिक विषय होने से दुरूह होता ही है, फिर भी उसे सरल पद्धति में रखने का आपने प्रयत्न अवश्य किया है।

इसकी भी रचना तत्कालीन गणनायक श्रीजिनेश्वरसूरि के आग्रह से सं० १२९३ पौष शुक्ला ९ को अनुमानतः २००० श्लोक प्रमाण में पूर्ण की गई है

गुणग्रहोष्णद्युतिसंख्य, वर्षे पौषे नवम्यां रचिता सितायाम्।
स्पष्टाभिधेयाद्भुतधर्मशिक्षा-वृत्तिर्विशुद्धा स्फटिकावलीव ॥२॥

× × × ×

सूरिर्जिनेश्वर इतीह बभूव शाखी, यस्याऽभवत् फलयुगाकृतिशिष्ययुग्मम्।
तत्रादिमो निरुपमो जिनचन्द्रसूरि-रन्यो नवाङ्गविवृदोऽभयदेवसूरिः ॥४॥

ततोऽजनि श्रीजिनवल्लभाख्यः, सूरि सुविद्यावनिताप्रियोऽसौ ।
अद्यापि सुस्थर रमते नितान्तं, यत्कीर्त्तिहंसो गुणिमानसेषु ॥५॥
पश्चाकरोत् महावृत्तैरिद प्रकरण लघु ।
धर्मशिक्षामिव भव्यसत्त्वाना शिवदन्तत ॥६॥

× × × ×

जिनपतिरिति सूरिस्तद्विनेयावतस,
समभवदिह येन प्रोज्ज्वलानि प्रचक्रे ।
गुणिजनवदनानि प्रौढवादीन्द्रवृन्द-
व्रजविजयसमुत्थैरिन्दुगौरैर्यशोभि. ॥८॥
तच्छिष्यलेशेन जडात्मनापि, प्रपञ्चिता किञ्चन धर्मशिक्षा ।
चक्रे सुबोधा जिनपालनाम्ना निदेशत. सूरिजिनेश्वराणाम् ॥९॥

इस टीका की एक-मात्र प्रति मेरे संग्रह में सुरक्षित है । जिनपालोपाध्याय के विशेष परिचय के लिये देखें, मेरे द्वारा सम्पादित 'सनत्कुमारचक्रि चरित महाकाव्य' की भूमिका ।

युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि

मधपट्टक बृहत् वृत्ति के टीकाकार आ० जिनपतिसूरि श्री जिनवल्लभ के प्रपौत्र, युगप्रधान जिनदत्तसूरि के प्रशिष्य तथा मणिधारी जिनचन्द्रसूरि के शिष्य थे । आप विक्रमपुर (जैसलमेर का समीपवर्ती) के निवासी माल्हू गोत्रीय यशोवधन सूहवदेवी के पुत्र थे । आपका जन्म वि० सं० १२१० चैत्र कृष्णा ८ को हुआ था और आपकी दीक्षा स० १२१७ फाल्गुन शुक्ला १० को जिनचन्द्रसूरि के हाथ से हुई थी । आपकी दीक्षावस्था का नाम नरपति था ।

सं० १२२३ भाद्रपद कृष्णा १४ को जिनचन्द्रसूरि का स्वर्गवास हो जाने से उनके पद पर १२२३ कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी को यु० जिनदत्तसूरि के पादोपजीवि श्री जयदेवाचार्य ने नरपति को (आपको) स्थापित किया और नाम जिनपतिसूरि रखा । आचार्य पदारोहण के समय आप की उम्र केवल १४ वर्ष की ही थी ।

स० १२२८ मे जिस समय आप आशिका पधारे उस समय नगर का उल्लेखनीय प्रवेश महोत्सव तत्रस्थानीय नरेश भीमसिहजी ने किया था । वही रहते हुए वहा के प्रामाणिक दिगम्बर विद्वान् (जिसका नामोल्लेख प्राप्त नही है) को शास्त्र-चर्चा मे पराजित किया था ।

स० १२३९ मे अजमेर मे इतिहास के प्रसिद्ध पुरुष अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराजा पृथ्वीराज चौहान की अध्यक्षता मे, राजसभा मे फलवर्द्धिका निवासी उपकेशगच्छीय पद्मप्रभ के साथ शास्त्रार्थ हुआ था । उस समय राजसभा मे प्रधानमन्त्रि कैमास, सभा के शृङ्गार प० वागीश्वर, जनार्दन गौड, विद्यापति आदि महाविद्वान् एवं महाराजा पृथ्वीराज का अतिवल्लभ मण्डलीक राणकतुल्य तथा जिनपतिसूरि का भक्त श्रावक रामदेव आदि उपस्थित थे । आचार्य-श्री के साथ शास्त्र-विद्या मे एवं श्रावक रामदेव के साथ मल्लविद्या मे पद्मप्रभ ने बहुत बुरी

तरह से पराजय प्राप्त कर तथा राजकीय नियमानुसार "अर्धचन्द्राकार" प्राप्त किया था। दो दिवस के पश्चात् सम्राट् पृथ्वीराज ने परिवार सहित उपाश्रय मे आकर आचार्यश्री को 'जयपत्र' प्रदान किया था।[1]

स० १२४४ मे आपको निश्रा मे तीर्थयात्रार्थ सघ निकला था। वह क्रमश प्रयाण करता हुआ चन्द्रावती पहुचा। वहा पूर्णिमापक्षीय आचार्य अकलङ्कदेवसूरि के साथ नाम-सम्बन्धी आदि अनेक विपयो पर मनोविनोदार्थ सुन्दर विचार-विमर्श हुआ था।

चन्द्रावती मे ही पौर्णमासिक आचार्य तिलकप्रभसूरि के साथ तीर्थयात्रा आदि अनेक शास्त्रीय-विपयो पर शास्त्रचर्चा हुई थी।

सघ, चन्द्रावती से क्रमश प्रयाण करता हुआ आशापल्ली पहुचा। वहां आचार्यश्री का परमभक्त श्रावक क्षेमन्धर; जिसका पुत्र प्रद्युम्नाचाय नाम से ख्यातिमान वादी देवाचार्य की पौषधशाला मे रहता था; जो उस समय चैत्यवासि-आचार्यों मे प्रमुख माना जाता था। उसकी (प्रद्युम्नाचार्य की) आचार्य जिनपति के साथ शास्त्रार्थ करने की अभिलापा थी। इस मनोकामना को आचार्यश्री ने स्वीकार किया, किन्तु सघ को वहा ठहरने का अवकाश न होने के कारण, आह्वान को लक्ष्य मे रखकर, वहा से प्रयाण कर उज्जयन्त, शत्रुञ्जय इत्यादि तीर्थों की तीर्थयात्रा कर आचार्यश्री पुनः आशापल्ली (अहमदावाद) आये और प्रद्युम्नाचार्य के साथ उनकी इच्छानुसार "आयतन-अनायतन" विषय पर शास्त्रार्थ किया। इस शास्त्रार्थ मे आचाय प्रद्युम्नसूरि विशेष समय तक स्थिर न रह सका। अन्त मे पराजय प्राप्त कर स्वस्थान को लौट गया। इसी वाद के उपलक्ष मे आचार्य ने जो प्रत्युत्तर प्रदान किये थे उनका दिग्दर्शन कराने वाला स्वरचित 'प्रवोधोदय वादस्थल' नामक ग्रन्थ प्राप्त है जो जेसलमेर आदि भंडारो मे है।

सं० १२५३ मे षष्टिशतक प्रकरण के कर्ता नेमिचन्द्र भंडारी ने; जो अनेक वर्षों से शुद्ध गुरु की शोध मे भटकते थे आचार्यश्री से प्रतिवोध पाया। इसी वर्ष पत्तन (अणहिल्ल-पुर पाटण) का भग हो जाने से आचार्य ने घाटी ग्राम मे चातुर्मास किया था।

स० १२७२ में "वृहद्वार" मे नरेश पृथ्वीचन्द्र की सभा मे काश्मीरी पण्डित मनोदानन्द का 'जैन षड्दर्शन वाह्य हैं' विषय पर आचार्यश्री की आज्ञा से उपाध्याय जिनपाल से शास्त्रार्थ हुआ था, उसमे उपाध्याय सफल हुए थे और जयपत्र प्राप्त किया था।

आपने अपने जीवनकाल मे अनेको विद्वानो के साथ ३६ शास्त्रार्थ किये और उन सभी विवादो मे विजय-पताका प्राप्त की। इसीलिये प्रत्येक ग्रन्थकारो ने आपके नाम के साथ "षड्त्रिंशद्वादविजेता" विशेषण सुरक्षित रखा है।

आपने अपने ५४ वर्ष के लम्बे आचार्य-काल मे सैकडो प्रतिष्ठाए, सैकडो दीक्षायें एव अनेको योग्य व्यक्तियो को पद-प्रदान आदि अनेक कार्य किये हैं जिनका वर्णन जिनपालोपाध्याय लिखित गुर्वावली मे उपलब्ध है। सं० १२७७ आषाढ शुक्ला दसमी को पालनपुर मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

१. युगप्रधानाचार्य गुर्वावली पृष्ठ ३३

आप वादी-विजेता तो थे ही, साथ ही आपकी संघपट्टक की टीका का अवलोकन करते हैं तो कहना ही पड़ता है कि आपकी लेखिनी भी सरस्वती-पुत्र के अनुकूल ही है। संघपट्टक जैसे ४० पद्यो वाली कृति पर ३२०० श्लोक प्रमाणोपेत टीका की रचना मे आपने आगमो तथा प्रकरणों के अनेक उद्धरणो द्वारा विधिपक्ष की समर्थना मे जो सफलता प्राप्त की है वह श्लाघनीय है। इस टीका की शैली नैयायिक-शैली है; जिसमे स्वत. ही प्रश्न उद्भूत कर नैयायिक-दृष्टि से ही उत्तर प्रदान किये गये हैं। इसकी भाषा अत्यन्त प्रौढ और प्राञ्जल होने के कारण विद्वद्भोग्या बन गई है। वाक्यो की आलकारिक-छटा, प्रौढता तथा समासबहुलता का परिचय टीका की अवतरणिका से ही करिये —

'इह हि सदशा पदार्थसार्थप्रकटनपटीयसि समूलकाषङ्कषितनिःशेषदोषे निर्वाण-चरमशिखरीशिखरमधिरूढे भगवति भास्वति श्रीमहावीरे, तदनु दुःषमासमयभविष्णु-दशमाश्चर्यमहादोषान्धकारोदयात्तनिमानमासादयति जिनराजमार्गे मन्दायमानेषु सद्दृष्टिषु सात्विकेषु सत्त्वेषु प्रोज्जृम्भमाणेषु सदालोकबाह्येषु तामसेषु निरङ्कुशमत्तमतङ्गजवद्-यथेच्छगर्जत् सञ्चरिष्णुषु प्रमादमदिरामदावदायमानानवद्यविद्यासम्पत्तिषु सातशीलतया स्वकपोलकल्पनाशिल्पिकल्पितजिनभवननिवासेषु चौलुक्यवंशमुक्तामाणिक्यचारुतत्त्वविचार-चातुरीधुरीणविलसदङ्गरङ्गनृत्यन्नीत्यङ्गनारञ्जितजगज्जनसमाजश्रीदुर्लभराजमहाराजसभाया अनल्पजल्पजलधिसमुच्छलदतुच्छविकल्पकल्लोलमालाकवलितबहलप्रतिवादिकोविदग्रामण्या सविग्नमुनिनिवहाग्रण्या सुविहितवसतिपथप्रथनरविणा वादिकेसरिणा श्रीजिनेश्वरसूरिणा००"

इस टीका की रचना कब हुई है निश्चित नही कहा जा सकता। किन्तु इस टीका की प्रौढता देखते हुए सं० १२३५ के पश्चात् ही इसकी रचना हुई हो। आपके रचित लगभग ८.१० स्तोत्र भी प्राप्त हैं।

यह टीका अनुवाद सहित जेठालाल दलसुख की तरफ से प्रकाशित हो चुकी है।

हर्षराजोपाध्याय

सङ्घपट्टक लघुवृत्तिकार उपाध्याय हर्षराज श्रीजिनभद्रसूरि के प्रशिष्य, महोपाध्याय श्रीसिद्धान्तरुचि के प्रशिष्य तथा उपाध्याय अभयसोम के शिष्य थे। इनका विशेष वृत्तान्त ज्ञात नही है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति[1] मे रचना सवत् का उल्लेख भी नही है, परन्तु

१ श्रीमति खरतरगच्छे श्रीजिनभद्राभिधा गणाधीशाः।
सिद्धान्तरुचिप्रौढानूचाना सन्ति तच्छिष्याः ॥१॥
श्रीमदभयसोमास्तूपाध्यायास्तद्विनेयविख्याता.।
तच्छिष्य हर्षराजोपाध्यायेन हि कृता वृत्ति.॥२॥
लब्धिवाग्गुरुभद्रोदयसाहायाच्च सङ्घपट्टस्य।
श्रीमज्जिनपतिसूरीश्वरकृतबृहट्टीकात.॥३॥
यदत्र हर्षराजेन लिखितं मतिमान्द्यत।
विरुद्धं च तदुत्सूत्र बुधैः शोध्य सुबुद्धिभिः॥४॥

महोपाध्याय श्री सिद्धान्तरुचि के प्रशिष्य होने के कारण इस वृत्ति की रचना १६ वी शताब्दि के प्रारंभ में हुई है।

यह लघुवृत्ति वस्तुत स्वतंत्र वृत्ति नही है किन्तु आ० जिनपतिसूरि रचित वृहद् टीका का सङ्कलनमात्र है। वृहट्टीका के प्रपञ्चित पक्ष-विपक्ष-प्रतिपादन, आगमिक-उद्धरण इत्यादि का त्यागकर मूल-ग्रन्थानुसारिणी समग्र टीका का प्रारंभ से अन्त तक पंक्ति-पंक्ति, अक्षर-अक्षर को उद्धृत कर लेखक ने संक्षिप्त संस्करण तैयार किया है।[२]

यह लघुवृत्ति श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञान भडार सूरत से प्रकाशित हो चुकी है।

लक्ष्मीसेन

सङ्घपट्टक काव्य की स्फुटार्था नाम की टीका रचने वाले श्री लक्ष्मीसेन के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय सामग्री का अभाव है। केवल इस टीका की प्रशस्ति से इतना ज्ञात होता है कि लक्ष्मीसेन विमलकीर्त्ति वाले श्रावक वीरदास के पौत्र और धीरवीर श्री हमीर के पुत्र थे। सघपट्टक जैसे दुरुह काव्य पर १६ वर्ष की अल्पायु मे स० १५१३ मे स्फुटार्था नाम की टीका की आपने रचना की है।

क्व जिनवल्लभसूरिसरस्वती, क्व च शिशोर्मम वाग्विभवोदय ।
शुकवचोवदिमां सुजना' खलु, श्रवणयो कुतुकात् प्रकरिष्यथ ॥१॥
श्रीवीरदास इति वीरजिनेश्वरस्य, पादाब्जपूजनपरायणचित्तवृत्ति ।
श्रीमानभूदमलकीर्त्तिवितानकेन, येनावृत जगदिद करुणात्मकेन ॥२॥
तस्यात्मजो भवदनन्तगुणा समग्र-सम्यक्त्वसप्रहविवर्द्धितपुण्यराशिः ।
श्रीमान् हमीर इति धीरतर शरीर-, वाक्कमहृद्भिरनिश जिनपूजनाय ॥३॥
तत्पुत्रोऽतिपवित्रकर्मनिरत सद्विद्यया सवत,
स्यात षोडशहायनोऽप्यरचयत् टीकां स्फुटार्थाभिधाम्।
लक्ष्मीसेन इति प्रसिद्धमहिमा देवान् गुरूनचयन्,
जीयाज्जीवदयापर परपरीतापार्त्तिहन्ता वर ॥४॥
विमले श्रावणमासे वर्षे त्रिमहीषुचन्द्रसंगुणिते ।
कृतवान् लक्ष्मीसेन टीका श्रीसङ्घपट्टस्य ॥५॥

यह टीका सामान्य सी ही है। टीकाकार कई-कई स्थलो पर शाब्दिक पर्यायो का कथन त्याग कर भावार्थ-तात्पर्यमात्र ही प्रकट करने को उत्सुक प्रतीत होता है, अत कई स्थलो का विवेचन अस्पष्ट सा रह गया है। साथ ही इनके सन्मुख वृहट्टीका होने के कारण कई स्थानो पर उन्ही शब्दो को अक्षरश उद्धृत भी कर दिया है।

आश्चर्य की वस्तु यह है कि इस टीका की जितनी भी प्रतियें देखने में आई हैं उन में केवल पद्य २६ की टीका प्राप्त नही होती है। इस पद्य की टीका टीकाकार स्वय ही करना भूल गया या पश्चात् प्रतिलिपिकार भूलते ही आये, निश्चित नही कहा जा सकता।

१. उदाहरण के लिये देखिये, मेरी लिखित सघपट्टक की भूमिका

इसमे सन्देह नही कि लक्ष्मीसेन का व्यक्तित्व अवश्य ही प्रभाव पूर्ण था, अन्यथा १६ वर्ष जैसी अल्पावस्था मे इस दुरूह काव्य पर लेखिनी चलाना सभव ही नही था।

यह टीका जिनदत्तसूरि ज्ञान भडार सूरत से प्रकाशित हो चुकी है।

महोपाध्याय साधुकीर्त्ति

सङ्घपट्टक के अवचूरिकार और लघु अजितशान्तिस्तव के बालावबोधकार महोपाध्याय साधुकीर्त्ति खरतरगच्छीय श्रीजिनभद्रसूरि की परम्परा मे वाचनाचार्य श्री अमरमाणिक्य गणि के प्रमुख शिष्य थे। वैसे आप ओसवाल वशीय सुचिन्ती गोत्रीय श्रेष्ठि वस्तुपाल-खेमलदेवी के पुत्र थे। आपने स० १६१७ मे युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि रचित पौपधविधिप्रकरण वृत्ति का संशोधन किया था और स० १६२५ मे आगरा मे सम्राट् अकबर की सभा मे पौपधविधि-विषय मे तपागच्छीय वुद्धिसागर के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हे निरुत्तर[1] किया था। स० १६३२ मे श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने आपको उपाध्याय पद प्रदान किया था। समय-समय पर गच्छनायक स्वय आप से सैद्धान्तिक-विषयो मे परामर्श लिया करते थे। स० १६४६ माघ वदि १४ को जालोर मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

आपने अपने जीवनकाल मे शेषनाममाला आदि मौलिक कृतियें और सघपट्टक आदि पर टीकाएं तथा सप्तस्मरण आदि पर बालावबोध एव सतरभेदी पूजा इत्यादि लगभग छोटे मोटे २३ ग्रन्थो की रचना की है।

सङ्घपट्टक पर आपने स० १६१९ माह शुक्ला पञ्चमी को अवचूरि की रचना पूर्ण की है[2]। यह अवचूरि होते हुए भी अर्थ को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित करने वाली होने से टीका का ही सादृश्य धारण करती है। इसकी भाषा भी प्राञ्जल है।[3]

द्वितीय कृति, लघुअजित-शान्ति-स्तव पर सं० १६१२ दीपावली पर्व पर बीकानेर मे मंत्रि सग्रामसिह के आग्रह से बालावबोध की रचना पूर्ण की है। बालजीवो के लिये यह बालावबोध अत्यन्त ही उपादेय है।

उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ

संघपट्टक प्रकरण के बालावबोधकार उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ खरतरगच्छीय क्षेमकीर्त्तिशाखा के विद्वान् उपाध्याय लक्ष्मीकीर्त्ति के शिष्य थे। आपका गार्हस्थ्य जीवन का

१ आपके सम्बन्ध मे आपके गुरुभ्राता कनकसोम कृत जइतपदवेली तथा जयनिधान कृत स्वर्गगमन गीत देखें।

२ तच्छिष्येण सुविहिता सुगमेय साधुकीर्त्तिगणिनापि।
एकोनविंशसमधिक-षोडशसवत्सरे प्रवरे ॥४॥
माघमासे शुक्लपक्षे पञ्चम्या प्रवरयोगपूर्णायाम्।
विवुधं प्रवर्धमाना समस्तसुखदायिनी भवतु ॥५॥

३ यह अवचूरि जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार सूरत से प्रकाशित है।

नाम हेमराज था। 'वल्लभ' नदी को देखने से ऐसा अनुमान किया जा सकता है सं० १७१० के लगभग आपकी दीक्षा जिनराजसूरि अथवा जिनरत्नसूरि के करकमलों से हुई होगी। प्राप्त पत्रों[1] के अनुसार आपको उपाध्याय पद सं० १७३३ के पूर्व ही प्राप्त हो चुका था।

१८वीं शती के आप एक प्रसिद्ध टीकाकार और भाषा-साहित्य के सर्जक थे। आपकी प्रणीत उत्तराध्ययन तथा कल्पसूत्र की वृत्तियें जितना आदर प्राप्त कर सकी हैं उतनी अन्य इन ग्रन्थों के टीकाकारों की कृतियें भी नहीं कर पाईं। इनके ग्रन्थों के अध्ययन से यह तो निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि आप अनेक विषयों के ज्ञाता थे। साथ ही यह भी कह सकते हैं कि इनकी कृतियों में 'पण्डितमन्य' की भावना का प्रदर्शन हमें कहीं भी नहीं मिलता, अपितु सामान्य तज्ज्ञों को आकर्षित करने का प्रयत्न अवश्य दिखाई पड़ता है। इनकी धर्मोपदेश स्वोपज्ञवृत्ति और कुमारसम्भव काव्य पर वृत्ति भी प्राप्त है। कुमारसम्भव की वृत्ति कवि की प्रारम्भिक रचना होने के कारण प्रौढ व परिमार्जित नहीं बन सकी है। इसमें केवल खण्डान्वय पद्धति से पर्यायों पर ही अधिक बल दिया गया है। आपकी रचनाएं सं० १७२१ से ४७ तक की प्राप्त हैं। अतः सं० १७५० के लगभग आपका स्वर्गवास हो गया हो ऐसा सम्भव है।

आपकी भाषा में तो एक नहीं सैकड़ों कृतियें प्राप्त हैं। वे केवल राजस्थानी भाषा में ही नहीं, अपितु हिन्दी और सिन्धी भाषा में भी। भाषा-काव्य-साहित्य में आपने अपना उपनाम 'राजकवि' भी दिया है। राजस्थानी हिन्दी गद्य-साहित्य में आपकी तीन रचनाएं प्राप्त है, वे हैं-सवपट्टक का बालावबोध, कृष्ण रुक्मिणी वेली और भर्तृहरि शतकत्रय स्तबक।

इस बालावबोध की रचना आपने कब की? प्रशस्ति के अभाव में कह नहीं सकते। किन्तु भाषा और शैली को देखते हुए कह सकते हैं कि आपकी यह प्रौढकालीन रचना है। यही कारण है, इस ग्रन्थ का विवेचन व्याख्याकार अच्छी तरह से कर सका है। व्याख्याकार ने आ० जिनपति की बृहट्टीका को ही आदर्श मानकर तदनुरूप बालावबोध की रचना की है।

इसकी प्रतियें अबीरजी भंडार व स० रामलाल जी संग्रह बीकानेर में हैं। आपके रचित पचदंड चौ०, अमरकुमर रास, रात्रिभोजन चौ०, रत्नहास चौ० आदि रास, पंचकुमार कथा भावनाविलास, कालज्ञान (वैद्यक) आदि प्राप्त कृतियों का परिचय राजस्थानी भा० २ में 'राजस्थानी भाषा के दो महाकवि' निबन्ध देखें।

महोपाध्याय पुण्यसागर

प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं काव्य के टीकाकार महो० पुण्यसागर, बादशाह सिकन्दर लोदी को प्रसन्न कर ५०० बन्दियों को कारागार से मुक्त कराने वाले तथा आचारांग सूत्र की दीपिका नाम से व्याख्या बनाने वाले आ० जिनहंससूरि के स्वहस्त-दीक्षित शिष्य थे। गीतों में आपके मातुश्री का नाम उत्तमदेवी और पिताश्री का नाम उदयसिंहजी प्राप्त होता है।

१ सं० १७३३ का श्रा० जिनचन्द्रसूरि का आदेश पत्र, नाहटा संग्रह।

तत्कालीन समय के समर्थ आचार्य युगप्रधान जिनचन्द्रसूरिजी को भी सूरिपद के योगोद्वहन कराने वाले आप ही थे, तथा समय-समय पर युगप्रधानजी स्वयं सैद्धान्तिक-विषयों मे आपसे परामर्श लिया करते थे। आप उस समय के उद्भट विद्वान् और गीतार्थप्रवर माने जाते थे। युगप्रधानजी ने जिनवल्लभीय पौषधविधि प्रकरण पर १६१७ मे जिस टीका की रचना की थी उसका संशोधन[1] भी आपने किया था।

टीकाकार के रूप मे आपने जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति उपांग पर (सं० १६४५ जैसलमेर राउल भीम राज्ये[2]) वृहद्वृत्ति की रचना की है जो अन्य उपलब्ध समग्र टीकाओ से विशेष प्रौढता धारण करती है। आप की दूसरी टीका प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं काव्य पर है। इनके अतिरिक्त आपके सुबाहुसन्धि (१६०४ जिनमाणिक्यसूरि आदेशात्), मुनिमालिका (जिनचन्द्रसूरि आदेशात्) एव स्तवन इत्यादि प्रचुर परिमाण मे प्राप्त हैं।

प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक काव्य पर यु० जिनचन्द्रसूरि के विजयराज्य मे आपने स० १६४० विक्रमपुर (बीकानेर) मे 'कल्पलतिका' नाम की टीका की रचना स्वशिष्य पद्मराज गणि की सहायता से पूर्ण की है

"आसीत् पुरा खरतराभिधगच्छनाथ, श्रीमान् जिनेश्वरगुरु शुभशाखिपाथ ।
सूरिस्ततोऽपि जिनचन्द्र इति प्रतीतः, शीतद्युतिप्रतिमचारुगुणैरुदीत. ॥१॥

तदनुकीर्त्तितरैरविनश्वरा, शुशुभिरेऽभयदेवमुनीश्वराः ।
विहितचञ्चनवाङ्गसुवृत्तय, परहितोद्यतमानसवृत्तय ॥२॥

तत्सन्ततौ समजनिष्ट गरिष्ठधामा, सूरीश्वर श्रुतधरो जिनभद्रनामा ।
श्रीजैनचन्द्रगणिभृद्गुणरत्नराशे-रब्धिस्ततो जिनसमुद्रगुरुश्चकाशे ॥३॥

तत्पट्टराजीवसहस्ररश्मयस्ततो बभु श्रीजिनहससूरय ।
तेषां विनेयैर्विवृति विनिर्ममे, यस्तादियं पाठकपुण्यसागरैः ॥४॥
समर्थिता विक्रमसत्पुरेऽसौ, वृत्तिर्वियद्वाधिरसेन्दुवर्षे ।
गुरौ शुभश्वेतमहो दशम्या, श्रीजैनचन्द्राभिधसूरिराज्ये ॥५॥
पद्मराजगणिसत्सहायता-योगत सपदि सिद्धिमागता ।
वृत्तिकल्पलतिका सतामिय, पुरयन्त्वभिमतार्थसन्ततिम् ॥६॥

इस विषम जिनवल्लभप्रश्नोत्तर काव्य पर कई अवचूरिये[3] प्राप्त थी किन्तु विद्वद्भोग्या

---

१ श्रीपुण्यसागरमहोपाध्यायै पाठकोद्गधनराजै ।
अपि साधुकीर्त्तिगणिना सुशोधिता दीर्घदृष्ट्येयम् ॥२६॥
पौषधविधि-प्रकरणटीका प्रशस्ति

२ श्रीमज्जेसलमेरुदुर्गनगरे श्रीभीमभूमीपतौ,
राज्ये शासति बाणवारिधिरसक्षोणीमिते वत्सरे ।
पुष्यार्के मधुमासि शुक्लदशमी सद्वासरे भासुरे,
टीकेय विहिता सदैव जयतादाचन्द्रसूर्यं भुवि ॥२५॥
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका प्रशस्ति

३. जैन स्तोत्र रत्नाकर द्वितीय भाग मे सोमसुन्दरसूरि-शिष्य रचित अवचूरि सह प्रस्तुत काव्य प्रकाशित हो चुका है।

टीका प्राप्त नहीं थी। ऐसी अवस्था में कल्पलतिका नाम की टीका लिख कर पाठकजी ने एक क्षति की पूर्ति की है जो अभिनन्दनीय है।

प्रस्तुत काव्य अत्यन्त ही दुर्घट-काव्य है। टीका विना इसका अर्थ करना एक कठिन कार्य है। किन्तु पाठकजी की प्रतिभा ने अपनी परिमार्जित और प्राञ्जल भाषा मे इसको सरल और सरस बनाने मे पूर्ण योग दिया है। इससे यह काव्य विषम होता हुआ भी सरलतम हो गया है जिसका श्रेय पाठकजी को ही है।

इस काव्य की विषमता को पाठकजी स्वय स्वीकार करते हुए प्रारम्भ के मंगलाचरण मे लिखते हैं

> स जयताज्जगति जनवल्लभ, परहितैकपरो जिनवल्लभ ।
> चतुरचेतसि यस्य चमत्कृति, रचयतीह चिर रुचिर वच ॥२॥
> तद्विरचितविषमार्थप्रश्नोत्तरषष्टिशतकशास्त्रस्य ।
> वितनोमि विवरणमहं सुगमं स्वपरोपकारकृते ॥३॥

प्रस्तुत काव्यमयी टीका[1] प्रकाशन योग्य है। आशा है जैन समाज इस कृति को अवश्य प्रकाशित करेगा।

उपाध्याय साधुसोम

चरित्र पञ्चक और नन्दीश्वर स्तोत्र के टीकाकार उपाध्याय साधुसोम, जैसलमेर ज्ञान भंडार के संस्थापक श्रीजिनभद्रसूरि के प्रशिष्य और महोपाध्याय श्री सिद्धान्तरुचि के शिष्य थे। महो० सिद्धान्तरुचि १६ वी शती के प्रौढ विद्वानो मे माने जाते थे। आपने अपने पूज्य-गुरु आचार्य जिनभद्र के अनुरूप ही माडवगढ (मालवा) मे एक भंडार की स्थापना की थी।

संभवत: आचार्य जिनभद्रसूरि ने अपने करकमलो से सं० १५०० के पूर्व ही आपको दीक्षा प्रदान की होगी। इस अनुमान का कारण यह है कि आपने सं० १५१० में संग्रहणी पर अवचूरि और पुष्पमाला प्रकरण पर स० १५१२ मे वृत्ति की रचना की है। पुष्पमाला प्रकरण टीका की भाषा आलकारिक, प्रवाहपूर्ण तथा परिमार्जित होने से १०-१५ वर्ष का व्यवधान होना तो स्वाभाविक ही है। आपको स० १५१९ के पूर्व ही गणि पद प्राप्त हो चुका था और संभवत. तत्कालीन गच्छनायक श्रीजिनचन्द्रसूरि ने ही आपको उपाध्याय पद प्रदान किया था।

चरित्र पचक पर सं० १५१९ मे आपने अर्थ-प्रबोधिनी नामक टीका की रचना पूर्ण की:

> श्रीखरतरगच्छेश श्रीमज्जिनभद्रसूरिशिष्याणाम् ।
> जीरापल्लीपार्श्वप्रभुलब्धवरसादानम् ॥१॥

1. १७ वी शती की लिखित प्रति मेरे सग्रह मे है।

श्रीग्यासदीनसाहेर्महासभालब्धवादिविजयानाम् ।
श्रीसिद्धान्तरुचिमहोपाध्यायानां विनेयेन ॥२॥
साधुसोमगणीशेनाक्लेशेनार्थप्रबोधिनीं ।
श्रीवीरचरिते चक्रे वृत्तिश्चित्तप्रमोदिनीम् ॥३॥

× × × ×

जिनवल्लभसूरीन्द्रसूक्तिमौक्तिकपंक्तयः ।
दर्शितार्था सुदृष्टीनां सुखग्राह्या भवन्त्विति ॥६॥
चार्वचरित्रपञ्चकवृत्तिर्विहिता नवैकतिथिवर्षे ।
हर्षेण महर्षिगणैः प्रवाच्यमाना चिरं जयतु ॥७॥

इस टीका मे आपने चरित्र संबंधी अनेक रहस्यो का समाधान आगमिक ग्रन्थो द्वारा करके जीवन-चरित्र का क्या महत्व है ? इत्यादि बातो का विशिष्ट प्रतिपादन किया है। टीका सुस्पष्ट और शिष्यहितैषिणी प्रतीत होती है।

नन्दीश्वर स्तोत्र की टीका तो केवल पर्यायबोधिनी मात्र है, विशिष्ट टीकागुणो से युक्त नही। इनके अतिरिक्त ससारदावावृत्ति और कई स्तोत्रादि भी आपके प्राप्त होते हैं।

चरित्र पंचक की प्रतिया पूना, यशसूरि भडार जोधपुर आदि मे प्राप्त हैं। और नंदीश्वरस्तोत्र-टीका की प्रतिया बीकानेर बडा भडार आदि तथा मेरे संग्रह मे है।

वाचक कनकसोम

चरित्र-पञ्चक अवचूरिकार वाचक कनकसोम आचार्य जिनभद्रसूरि सन्तानीय वाचनाचार्य श्रीअमरमाणिक्य गणि के शिष्य थे और महोपाध्याय श्री साधुकीर्त्ति आपके वृहद् गुरुभ्राता थे। वैसे आप ओसवशीय नाहटा गोत्र के थे। आपके माता-पिता का नामोल्लेख हमे प्राप्त नही है। वृत्तरत्नाकर की स० १६१३ चैत्र कृष्णा ११ को लिखित, आपकी करकमलाङ्कित प्रति प्राप्त होने से यह निश्चित है कि आपको दीक्षा श्रीजिनमाणिक्यसूरिजी ने प्रदान की होगी। जिनवल्लभीय चरित्र पञ्चक पर अवचूरि की स० १६१५ की स्वयं लिखित प्रति होने से यह अनुमान करना अस्वाभाविक नही होगा कि आपकी दीक्षा स० १६००-१६०५ के मध्य मे हुई होगी। चरित्र पञ्चक पर अवचूरि लिखने के लिये १० वर्ष की दीक्षा-पर्याय तो अवश्य होना ही चाहिये। स० १६४८ मे यु० श्रीजिनचन्द्रसूरि अकबर के आमन्त्रण से लाहोर पधारे थे उस समय आप भी साथ थे। सभवत आपको वाचक पद यु० जिनचन्द्रसूरि ने ही दिया होगा। थावच्चा सुकोमल चरित्र की अन्तिम रचना स० १६५५ मे होने से इसके पश्चात् ही आपका स्वर्गवास हुआ है।

आपकी रचित जइतपदवेली, हरिकेशी सधि आदि भाषात्मक १० रचनाये और नववाडी गीत, जिनचन्द्रसूरि गीत आदि अनेक गीत भी प्राप्त हैं।

सस्कृत रचनाओ मे आपकी यह एक ही कृति उपलब्ध है। इसमे आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाचो तीर्थंकरो के चरित्र पर आपने

अवचूरि की रचना सं० १६१५ में की है। यह अवचूरि सुगम, सुबोध तथा पठनीय है। इसमे वाक्याडम्बर रहित किन्तु परिमार्जित शैली का अनुसरण किया गया है।

कमलकीर्ति

चरित्र-पञ्चक बालावबोध और लघु अजितशान्ति स्तव के बालावबोधकार श्रीकमलकीर्त्ति आचार्य श्रीजिनमाणिक्यसूरि के प्रशिष्य, वाचनाचार्य श्रीकल्याणधीर गणि के शिष्य थे। युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि स्थापित ४४ नन्दियों मे ४० वी नन्दी 'कीर्त्ति' होने से अनुमानतः स० १६५० और १६६० के मध्य मे आपकी दीक्षा हुई होगी। सं० १६७६ मे आपने महीपाल चरित्र चतुष्पदी की रचना की है। इससे भी यह अनुमान स्वाभाविक सा ही प्रतीत होता है।

स० १६८७ चैत्र शुक्ला ९ सोमवार को आपने बाल ब्रह्मचारिणी सूजी नामकी श्राविका के लिये सप्तस्मरण बालावबोध की २५०० श्लोक परिमाण में रचना की है, जो सखवाल गोत्रीय श्रेष्ठि सांगण के पुत्र श्री सहस्रकरण की पुत्री थी और आपकी चाची लगती थी तथा जिनको आप माता के रूप में ही मानते थे; उसी के लिये आपने स्वयं स० १६८८ मे यह प्रति भी लिखी है।

लघु अजित-शान्ति स्तव बालावबोध (र० सं० १६८९) और चरित्र पञ्चक बालावबोध (र० स० १६९८ श्रा० व० ९) पर आपने बहुत ही विस्तृत विवेचन लिखे हैं। इसमे उन्होंने न केवल कवि की प्रतिभा को सम्यक्‌रूप से प्रकट करने का सफल प्रयत्न किया है अपितु स्तोत्र मे वर्णित भगवान् के स्वरूप की दार्शनिक मीमांसा भी अच्छी की है। आपकी ये दोनों कृतिये पठन योग्य हैं।

उपाध्याय समयसुन्दर

जैन जगत् के प्रसिद्ध कवि समयसुन्दर का नाम किसने न सुना होगा? आप मूलत राजस्थान मे साचोर के निवासी थे और आपके पिता का नाम था रूपसी तथा माता का नाम लीलादेवी था। १७वीं शती के प्रसिद्ध जैनाचार्य सम्राट् अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि के आप प्रशिष्य तथा सकलचन्द्र गणि के शिष्यरत्न थे। आपके विद्यागुरु थे वाचक महिमराज और वाचक समयराज। आपके पाण्डित्य, चारित्र्य और सिद्धान्तज्ञान का समुचित मूल्यांकन करना यहा सभव नही। अकबर की सभा मे आपने "राजानो ददते सौख्यम्" की व्याख्या में ८ आठ लाख अर्थ कर 'भारती-पुत्र' कलिकाल कालिदासत्ता सिद्ध की थी। आप व्याकरण, न्याय, दर्शन, लक्षण, साहित्य, आगम आदि के प्रकाण्डपण्डित थे और इनकी वाग्मिता तथा प्रगल्भता का लोहा उस समय सब मानते थे।

जब यु० जिनचन्द्रसूरि सम्राट् अकबर के आग्रह से लाहोर पधारे थे उस समय आप भी साथ मे थे। स० १६४९ मे फाल्गुन शुक्ला २ को आचार्यश्री ने आपको वाचक पद प्रदान किया था। स० १६७१ लवेरा मे जिनसिंहसूरिजी ने आपको उपाध्याय पद दिया था। स० १६८७-१६८८ के दुष्काल के कारण जो साधु-समाज मे शिथिलता आगई थी उसका परिहार कर १६९१ मे आपने क्रियोद्धार किया था। जैसलमेर के रावल श्रीभीमसिंहजी को

प्रसन्न कर मयणो (मीणो) द्वारा मारे जाने वाले 'साडा' जीवो को बचाया था। सिन्धु देश मे विहार करते हुए सिद्धपुर के मखनूम महमद शेख को प्रतिबोध देकर पञ्चनदीय जलचर जीवो तथा गौ की रक्षा का अमारी पटह बजवा कर अहिंसा धर्म का सुन्दर प्रचार किया था। मडोवर (मडोर) और मेडता के नृपति आपके भक्त थे। स० १७०२ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को अहमदाबाद मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

आपके द्वारा सर्जित साहित्य-निधि आज भी अपार संख्या मे उपलब्ध है। आपने अनेको मौलिक ग्रन्थ, टीका ग्रन्थ, विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थ, सग्रहात्मक ग्रन्थ, रास-चतुष्पदी आदि भाषा-साहित्य के अनेको ग्रन्थ निर्माण किये। आपके स्तोत्र, स्तवन, स्वाध्याय, (सज्झाय) पद आदि की तो गिनती भी नही है, जिसमे बहुलता से अनेको नष्ट हो गये हैं। फिर भी प्रचुर परिमाण मे आपका साहित्य उपलब्ध है। आपके प्रणीत साहित्य की तालिका और आपके जीवन का कला-कलाप विस्तार भय से यहा नही दिया जा रहा है। आपके सम्बन्ध मे विशेष परिचय 'समयसुन्दर कृति-कुसुमाञ्जलि' की भूमिका मे और युगप्रधान जिनचन्द्र-सूरि पुस्तक मे प्राप्त होगा।

आपने वीर-चरित्र पर एक टीका लिखी। दुर्भाग्यवश अब तक की प्राप्त-प्रतियो मे इसकी प्रशस्ति नही है। अत इसका रचनाकाल नही बताया जा सकता। आपके लघु अजित शान्ति स्तव वृत्ति की रचना स० १६६५ मे हुई है। टीकाकार के रूप मे आपकी शैली सर्वदा शिष्य-हितैषिणी रही है। इसी कारण यह भी प्रारम्भिक जिज्ञासुओ के लिये उपादेय वस्तु बन गई है। भाषा सरल और वाक्याडम्बर रहित तथा परिमार्जित है।

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भडार सूरत की तरफ से ये प्रकाशित हो चुकी हैं।

विमलरत्न

वीर-चरित्र बालावबोधकार विमलरत्न पाठक विमलकीर्ति के शिष्य थे। आपके सम्बन्ध मे कोई उल्लेख प्राप्त नही है। आपके नाम को सुरक्षित रखने वाला केवल यही एक बालावबोध उपलब्ध है। इसकी रचना आपने स० १८०२ पौष शुक्ला दसमी को साचोर (मारवाड) मे की थी। इसकी एक मात्र ११ पत्र की प्रति श्री मोतीचन्दजी खजाची सग्रह बीकानेर मे सुरक्षित है।

यह बालावबोध विवेचन पूर्ण है। इसमे श्रमण महावीर के पूर्व-भवो और तपस्या के सम्बन्ध मे लेखक ने अच्छा विवेचन किया है। इसे पढकर जरा साहित्यिक आनन्द अवश्य प्राप्त होता है। इसकी भाषा भी अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा परिमार्जित है।

वाचनाचार्य धर्मतिलक

लघु अजित-शान्ति-स्तव के टीकाकार वाचनाचार्य धर्मतिलक गणि आचार्य जिनपतिसूरि के पट्टधर आचार्य जिनेश्वरसूरि द्वितीय के शिष्य थे। स० १२९७ चैत्र शुक्ला

१. देखें मेरी लिखित 'महोपाध्याय समयसुन्दर'

१४ को पालनपुर मे श्री जिनेश्वरसूरि ने आपको दीक्षा प्रदान की थी। स० १३२५ ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थी को सुवर्णगिरि (जालोर) मे आचार्य जिनेश्वर ने ही आपको वाचनाचार्य पद से अलकृत किया था। सम्भव है विद्याध्ययन आपने श्री लक्ष्मीतिलकोपाध्याय आदि के पास मे किया हो। एतदरिक्त अन्य कोई ऐतिह्य उल्लेख आपके सम्वन्ध मे प्राप्त नही है। आपकी रचनाओ मे भी केवल यही एक टीका प्राप्त है। इसकी रचना स० १३२२ फाल्गुन कृष्णा ६ को हुई है। यह रचना आपने मुनि अवस्था मे की है और वाचनाचार्य पद आपको १३२५ मे मिला है। इसका संशोधन श्री लक्ष्मीतिलकोपाध्याय ने किया है

> तेषां युगप्रवरसूरिजिनेश्वराणां, शिष्य' स धर्मतिलको मुनिराददधाति।
> व्याख्यामिमामजितशान्तिजिनस्तवस्य, स्वार्थं-परोपकृतये च कृताभिसन्धि. ॥२॥
> विचक्षणैर्ग्रन्यसुवर्णमुद्रिका, विचित्रविच्छित्तिभि(वृ)ता विनिर्मिता।
> यदीयनेत्रोत्तमरत्नयोगत., श्रिय लभन्ते क्षितिमण्डले पराम् ॥३॥
> तैः श्री लक्ष्मीतिलकोपाध्यायै परोपकृतिदक्षै।
> विद्वद्भिर्वृत्तिरिय समशोधिततरां प्रयत्नेन ॥४॥ युग्मम्
> नयनकरशिखीन्दु १३२२ विक्रमवर्षे तपस्यसितषष्ठ्याम्।
> वृत्ति समर्थिताऽस्या मान च सविशतिस्त्रिशती ॥५॥

यह टीका प्रौढ एवं विद्वद्भोग्या है। इसमे विशेषावश्यक भाष्य जैसे ग्रन्थो के भी उद्धरण हमे प्राप्त होते है। इसमे वस्तु का विवेचन प्राञ्जल और प्रौढ भाषा मे होते हुए भी सरलता को लिये हुए है जिससे उनका इस भाषा पर आधिपत्य प्रकट होता है।

यह टीका वैराग्यशतकादि पञ्चग्रन्थो मे प्रकाशित हो चुकी है।

उपाध्याय गुणविनय

लघुअजितशान्तिस्तव के टीकाकार गुणविनय के जीवन-वृत्त के सम्वन्ध मे ऐतिह्य प्रमाणो का अभाव है। युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि द्वारा स्थापित ८वी नन्दि 'विनय' होने से आपका दीक्षा काल संभवतः १६२१ या २२ का होगा। आप जिनकुशलसूरि सन्तानीय क्षेम-कीर्ति शाखा के प्रौढ विद्वान् उपाध्याय जयसोम गणि के शिष्य थे। जिस समय सं० १६४८ मे युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि सम्राट् अकवर के आग्रह से लाहोर पधारे थे उस समय आप भी उनके साथ मे थे। यु० जिनचन्द्रसूरि ने सं० १६४९ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को आपको वाचनाचार्य[1] पद से सुशोभित किया था। सम्राट् जहांगीर ने आपकी असाधारण प्रतिभा से प्रभावित होकर आपको 'कविराज[2]' पद प्रदान किया था।

१ कर्मचन्द्रवंशप्रवन्धवृत्ति।

२ आपके शिष्य मतिकीर्त्ति निर्मित निर्युक्तिस्थापन प्रश्नोत्तर ग्रन्थ की प्रशस्ति.

> "चम्पू-रघु-मुख्याना ग्रन्थाना विवरणात्तया जहांगीरात्।
> नवनवकवित्वकथने स्यादाप्त कविराजपदम् ॥५॥

आप प्राकृत, संस्कृत तथा देश्यभाषा के उद्भट विद्वान् थे। आपकी विशेष ख्याति टीकाकार और जैनागमों के प्रौढ अभ्यासी के रूप मे थी। स० १६७५ वैशाख शुक्ला १३ को सं० रूपजी कारित वृहद् प्रतिष्ठा महोत्सव के समय आ० जिनराजसूरि के साथ शत्रुञ्जय पर आप भी विद्यमान थे। आपका साहित्य सर्जन काल सं० १६४१ से १६७६ तक का है। सं० १६७६ के पश्चात् आपकी कोई कृति प्राप्त न होने से सभव है १६७६ के आसपास ही आपका स्वर्गवास हो गया हो। आपकी निर्मित कृतियो की तालिका इस प्रकार है

(१) सव्वत्थ शब्दार्थ समुच्चय[1] ("सव्वत्थ' शब्द के ११७ अर्थ)

(२) खण्डप्रशस्ति वृत्ति (र० सं० १६४१) मेरे द्वारा सपादित होकर शीघ्र ही राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित होने वाली है। ३ नेमिदूत वृत्ति[2] (स० १६४४ बीकानेर)। ४. नलचम्पू वृत्ति[3] (र० स. १६४६ सेरुणा)। ५ रघुवंश टीका[4] (स० १६४६ बीकानेर)। ६. वैराग्य शतक टीका[5] (सं० १६४७)। ७ सबोध सप्तति टीका[6] (सं १६५१)। ८ कर्मचन्द्र वश प्रबन्ध टीका (स १६५६ तोसामनगर)। ९ लघु शान्तिवृत्ति[7] (१६५९ बेनातट)। १०. इन्द्रिय पराजय शतक वृत्ति,[8] ११ लघु अजितशान्तिवृत्ति, १२. ऋषिमण्डल अवचूरि[9], १३ दशाश्रुतस्कन्ध टीका[10], १४ शीलोपदेशमाला लघुवृत्ति।[11],

भाषा टीकाए १५ वृहत्संग्रहणी बालावबोध[12], १६ आदिनाथ स्तव बालावबोध (बापडाउ, ज्ञाननन्दन आग्रह से)। १७. णमुत्थुण बाला०। १८ जयतिहुअण स्तोत्र बाला०[13], १९ भक्तामर स्तवक, २० कल्पसूत्र बालावबोध[14], २१ चरण-करण-सत्तरी भेद।

संग्रहात्मक २२ हुण्डिका (स० १७५७ सैरुणा, पद्य स० १२०००)। २३ प्रश्नोत्तर।
रास चौपाई २४. कयवन्ना सधि[15] (१६५४ नेमिजन्म महिमपुर)। २५. कर्मचन्द्र वंशावली रास[16] (१६५६ भा० व० १०)। २६. अजना सुन्दरी रास[17] (१६६३ खंभात)। २७. ऋषिदत्ता चौपाई (१६६३ खभात)। २८ गुणसुन्दरी चौपाई[18] (१६६५ नवानगर)। २९. नलदमयन्ती प्रबन्ध (१६६५ नवानगर)। ३०. जम्बूरास (१६७० बाडमेर)। ३१. धन्ना शालिभद्र चौपाई (१६७४ आगरा श्रीमाल मानसिंह आग्रह से)। ३२. अगडदत्त रास।

१. अनेकार्थरत्न मजुषा मे प्रकाशित
२. मेरे द्वारा सम्पादित होकर सुमति सदन कोटा से प्रकाशित हो चुकी है।
३ सेठिया लायब्रेरी बीकानेर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
४. बीकानेर भडार ५ ८ हीरा० हं० द्वारा प्रकाशित
६ आत्मानन्द सभा भावनगर द्वारा प्र०। ७. नाहटा सग्रह। ९. मेरे सग्रह में
१० उल्लेख फुटकर पत्र मे, अप्राप्य, ११. आत्मानद सभा भावनगर
१२. अपूर्ण प्रति अनतनाथ ज्ञान भडार बम्बई, १३. पत्र १३ स्वय लि० रामचन्द्र भ० बीकानेर;
१४. कई पत्र स्वय लिखित बद्रीदास सग्रह कलकत्ता।
१५. बीकानेर भ०। १६ प्रकाशित
१७–१८ मेरे सग्रह मे।

३३ कलावती चौपाई (१६६३ सागानेर)। ३४ बारह व्रत रास (१६५५)। ३५ जीवस्वरूप चौ[1] (१६६४ राजनगर)। ३६ मूलदेव चौपाई[2] (१६७३ जे० सु० ३ सागानेर)। ३७ दुमुह प्रत्येक बुद्ध चौपाई।[3]

खण्डनात्मक.—३८ अंचलमत स्वरूप वर्णन[4] (१६७४ भा० सु० ६ मालपुरा)। ३९ लुम्पकमततमोदिनकर चौपाई[5] (१६७५ मा० व० ६ सागानेर)। ४० तपा ५१ बोल चौपाई[6] (१६७६ राडद्रहपुर)। ४१ प्रश्नोत्तर मालिका अपरनाम पार्श्वचन्द्र मत दलन (१६७३ सागानेर)। ४२ कुमतिमत खण्डन[7] अपरनाम उत्सूत्रोद्घाटन कुलक (१६७५ नवानगर)। इनके अतिरिक्त आपके स्तवन और स्वाध्याय तो अनेक है जिनका यहा उल्लेख कर कलेवर बढाना उचित नही।

लघु अजित-शान्ति-स्तव टीका की प्रति सन्मुख न होने से इसका भी विवेचन नही किया जा सकता।

उपाध्याय देवचन्द्र

अठारहवी शती के सुप्रसिद्ध कवि, आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोगिक उपाध्याय देवचन्द्र गणि खरतरगच्छीय उपाध्याय दीपचन्द्र गणि के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १७४६ मे बीकानेर निकटवर्ती ग्राम के निवासी लूणिया गोत्रीय तुलसीदास-धनबाई के यहां हुआ था। परम्परानुसार आपके अभिभावको ने अपने पुत्ररत्न को वहोरा (भेट) दिया था। श्री राजसागरजी ने आपको स० १७५६ मे दीक्षित कर आपका राजविमल नाम रखा। परन्तु आपका यह राजविमल नाम प्रसिद्धि को प्राप्त न कर सका, केवल देवचन्द्र नाम ही चलता रहा। सरस्वती की कृपा और गुरु के आशीर्वाद से थोडे ही समय मे आप सब ही शास्त्रों में निष्णात हो गये। स० १७६६ मे, २० वर्ष की अवस्था मे आपने ध्यानदीपिका चौपाई नामक ग्रन्थ की पद्यबन्ध रचना कर आध्यात्मिक प्रगति और साहित्यनिष्ठा का जो परिचय दिया है वह स्मरणीय है। यह ध्यानदीपिका दि० शुभचन्द्राचार्य रचित ज्ञानार्णव का राजस्थानी पद्यानुवाद है।

आपका प्रारम्भिक विहार क्षेत्र तो सिन्ध व मरुधर ही रहा, किन्तु आपकी विमलकीर्ति मरुधर देश तक ही सीमित न रह सकी। आपकी ख्याति से प्रभावित होकर श्री खिमाविजयजी ने गुर्जर देश पधारने का आपको आमन्त्रण दिया। स० १७७७ मे आप पाटण पधारे और जहा श्री ज्ञानविमलसूरि जैसे विद्वान् भी सहस्त्रकूट चैत्यो के नाम बताने मे असफल हो गये थे वहां आपने शास्त्रोक्त नाम बतला कर ज्ञानविमलसूरि के हृदय मे भी अपना एक स्थान बना लिया था।

१. पत्र १३ भा० ओ० रि० इ० पूना, २ पत्र ५ मुकनजी सग्रह बीकानेर।
३ आदिपत्र यति रामलालजी स बीकानेर। ४ थाहरु भ० जैसलमेर।
५ जयपुर सघ भंडार। ६ बीकानेर भडार। ७ प्रकाशित

तपागच्छीय संविग्नपक्षीय प्रसिद्ध विद्वान् जिनविजयजी, उत्तमविजयजी, विवेकविजयजी[1] आदि ने आपके पास महाभाष्य जैसे महान् ग्रन्थो का विधिवत् अध्ययन किया था।

उस समय ढूंढक (स्थानकवासी) लोग प्रतिमा-अर्चन का जो आत्यन्तिक निषेध कर रहे थे उन्ही के नेता माणिकलालजी आदि को आपने मूर्तिपूजक बनाया।

भावनगर के महाराजा आपके भक्त थे। अहमदाबाद की शान्तिनाथ पोल में सहस्त्रफणा बिंब, सहस्त्रकूट जिनबिंब, शत्रुंजय पर प्रतिष्ठा, लीबडी, ध्रांगध्रा, चूडा इत्यादि अनेक स्थलो पर आपने प्रतिष्ठाएं करवाई।

स० १८१२ मे अहमदाबाद मे गच्छनायक ने आपको उपाध्याय पद प्रदान किया और स० १८१२ भाद्रपद कृष्णा अमावस्या को अहमदाबाद मे आपका स्वर्गवास हुआ।

आप एकपक्षीय विद्वान् नही थे। जहा जिनविजयजी जैसे विद्वान् आपके पास महाभाष्य पढते थे वहा आप भव्य-परोपकारार्थ व्याख्यान मे गोमट्टसारादि दिगम्बर ग्रन्थो का भी प्रयोग करते थे। ध्यानदीपिका, आगमसार, द्रव्य-प्रकाश जैसे उच्च कोटि के ग्रन्थो को भाषा मे प्रणयन करते थे तथा ज्ञानसार जैसे ग्रन्थों पर संस्कृत टीका की रचना करते थे। आप बहुश्रुत एव बहुज्ञ थे। आपने द्रव्य-प्रकाश ब्रजभाषा मे बनाया है। आपकी समस्त रचनाओ का सग्रह श्रीमद् देवचन्द्र नाम से दो भागो में अध्यात्मज्ञान प्रसारक मडल पादरा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। अत रचित साहित्य के सबध मे यहा उल्लेख करना पिष्ट-पेषण मात्र ही होगा।

लघु अजित-शान्तिस्तव की प्रति का अभी तक हमे पता नही चल सका है, संभवत. वह अप्राप्य है।

उपाध्याय जयसागर

ओसवाल वंश के दरडागोत्रीय पिता आसूराज और माता सोखू के आप पुत्ररत्न थे। जिनराजसूरि आपके दीक्षा गुरु थे और आपके विद्यागुरु थे जिनवर्धनसूरि। स० १४७५ मे या उसके आस-पास ही आचार्य जिनभद्रसूरि ने आपको उपाध्याय पद से अलकृत किया था।

आचार्य जिनभद्रसूरि ने जो ग्रन्थोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारभ किया था उसमे आपका पूर्ण सहयोग था। आपने भी अपने उपदेशो से बहुत से ग्रन्थ लिखवाये जो जैसलमेर, पाटण आदि के भंडारो मे आज भी उपलब्ध हैं।

आप साहित्य के उच्चकोटि के मर्मज्ञ थे। आपने कई मौलिक-ग्रन्थो, टीकाओ एव स्तोत्रो की रचनाए की जिसमे से कई तो काल-कवलित हो चुकी है और कई शोध के अभाव मे अभी तक उपलब्ध नही हुई हैं। वर्तमान मे जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उनमे से पर्व-रत्नावली, विज्ञप्ति-त्रिवेणी, पृथ्वीचन्द्र चरित्रादि मौलिक, सदेहदोलावली वृत्ति आदि ६ टीका ग्रन्थ जिनकुशलसूरि छन्द आदि ३३ भाषा-कृतिया एव तीर्थमाला स्तव, स्तोत्र आदि फुटकर

१ जिनविजय निर्वाणरास तथा उत्तमविजय निर्वाणरास देखें।

२१ रचनायें उपलब्ध हैं। श्रीवल्लभोपाध्याय ने जयसागरोपाध्याय रचित साधारण जिनस्तुति टीका में लिखा है कि 'जयसागरोपाध्याय ने संस्कृत एवं प्राकृत भाषा मे ५०० लघु स्तोत्रो की रचना की थी और स्तुतियो की भी विपुल परिमाण में रचना की थी।'

आपने अपने जीवन मे अनेक तीर्थयात्राए की थी, जिनमे से नगरकोट तीर्थयात्रा का वर्णन 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' जैसे आलङ्कारिक ग्रन्थों मे पाया जाता है। आपकी शिष्य-परपरा भी बड़ी थी। आपके सबध मे विशेष ज्ञातव्य के लिये देखे मेरे द्वारा लिखित 'अरजिन स्तव की भूमिका'।

भावारिवारण स्तोत्र वृत्ति का रचना काल ज्ञात नहीं। यह वृत्ति बाला-वबोधहिताय लिखी गई है। सामान्यतया यह वृत्ति सुन्दर है और प्राथमिक अभ्यासियों के लिये तो उपादेय है ही।

यह टीका हीरालाल हंसराज की तरफ से प्रकाशित हो चुकी है।

वाचनाचार्य चारित्रवर्धन

पंच महाकाव्यो के प्रसिद्ध व्याख्याकार वाचनाचार्य चारित्रवर्धन भारतीय वाङ्मय के एक समर्थ प्रतिभाशाली एवं विश्रुत विद्वान् थे। व्याकरण, निरुक्त तथा अलकार विषयक आपका ज्ञान इतना व्यापक था कि अन्य परवर्ती टीकाकारो को भी आपका 'मत' स्वीकार करना पड़ा। आपकी टीकाओं को देखने से न केवल हमे उनके व्याकरण तथा लक्षणशास्त्र के अगाध ज्ञान का पता चलता है अपितु उनके न्याय, दर्शन, जैन सिद्धान्त और साहित्य का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। अत यह कहा जा सकता है कि आप सर्वदेशीय विद्वान् थे। यही कारण है कि आप अपनी टीकाओं की प्रशस्ति मे अपनी योग्यता का गर्व भरे शब्दो मे स्वय को 'नरवेष सरस्वती' उपनाम स्थापित करते हुए लिखते हैं

> तच्छिष्य-प्रतिपक्षदुर्द्धरमहावादीसपञ्चाननो,
> नानाभाटकहाटकाभरगिरिः साहित्यरत्नाकर ।
> न्यायाम्भोजविकाशवासरमणिर्बौद्धेति जाग्रत्प्रभो,
> वेदान्तोपनिषन्निषन्नधिषणोऽलङ्कारचूडामणि ॥
> श्रीवीरशासनसरोरुहवासरेश, सद्धर्मकर्मकुमुदाकरपूर्णिमेन्दु ।
> वाचस्पतिप्रतिमधीर्नरवेषवाणि—चारित्रवर्धनमुनिर्विजयी जगत्याम् ।

चारित्रवर्धन गणि खरतरगच्छ की एक प्रमुख शाखा (जो लघु खरतर के नाम से प्रसिद्ध है) के प्रसिद्ध जैनाचार्य मुहम्मद तुगलक प्रतिबोधक, विविधतीर्थकल्प आदि ऐतिहासिक ग्रन्थो के रचयिता, १४ वी शती के उद्भट विद्वान् श्रीजिनप्रभसूरि की परम्परा के चौथे आचार्य श्रीजिनहितसूरि के प्रशिष्य तथा उपाध्याय कल्याणराज के शिष्य थे.

> वशे श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरो सिद्धान्तशास्त्रार्थवित्,
> दर्पिष्ठप्रतिवादिकुञ्जरघटाकण्ठीरव सूरिराट् ।
> नानानव्यसुभव्यकाव्यरचनाकाव्यो विभास्याऽमल-
> प्रज्ञो विजानतो जिनेश्वर इति प्रौढप्रतापोऽभवत् ॥१॥

शिष्यस्तदीयोऽजनि जन्तुजात-हितार्थसम्पादनकल्पवृक्ष ।
विपक्षवादिद्विपपञ्चवक्त्रः, सूरीश्वर. श्रीजिनसिंहसूरि. ॥२॥

तत्पट्टपूर्वाद्रिसहस्ररश्मि-र्जिन. प्रभ सूरिपुरन्दरोऽभूत् ।
वाग्देवताधा रसना तदीयामास्थानपट्ट जगद्गुर्बुधेन्द्रा ॥३॥

तदनु जिनदेवसूरि. स्वशेमुषी-तर्जितत्रिदशसूरि ।
निरुपमसमरसपूरिः सूरिवरः समजनिष्ट जयी ॥४॥

तदनु जिनमेरुसूरिः दूरीकृतपातको निरातङ्कः ।
समजनि रजनीवल्लभवदनो मदनोरगेताक्ष्र्यः ॥५॥

गुणगणमणिसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धु-
र्विधुरितकुमतौघ प्रीणिताशेषसङ्घ ।
जिनमतकृतरक्षस्तर्जितारातिपक्षोऽ-
जनि जिनहितसूरिस्त्यक्तनिश्शेषसूरि ॥६॥

जिनसर्वसूरिरभवत्तत्पट्टेऽघट्टित-प्रबलमोहः ।
सज्जनपङ्कजराजीविकाशभास्वन्महोयस्क. ॥७॥

तस्य जिनचन्द्रसूरिः शिष्यो दक्ष. कलावतां पक्षः ।
कक्षीकृताऽखिलजनोपकारसार. सदाचार. ॥८॥

सूरिर्जिनसमुद्राख्यस्तस्य जज्ञे महामतिः ।
अन्तिषत्सुकृतोसाधुवृन्दाम्भोजनभोमणि. ॥९॥

जिनतिलकसूरिरस्माद् विजयी जीयादशेषगुणकलितः ।
श्रीवीरनाथशासनसरसीरुहभास्कर श्रीमान् ॥१०॥

तत्पट्टपूर्वाचलमौलिचन्द्र', विपक्षवादिद्विपपञ्चवक्त्र ।
जीयात् सदाऽसौ जिनराजसौरि., सत्पक्षयुक्तो जिनधर्मरक्ष ॥११॥[१]

जिनहितसूरे [२] शिष्यो, बभूव भूमीशवन्दिताङ्घ्रियुग ।
कल्याणराजनामोपाध्यायस्तीर्णशास्त्राब्धिः ॥१२॥

तच्छिष्य ....

रघुवंशटीका प्रशस्ति

१ यह पद्य नैषध, सिन्दूरप्रकर, कुमारसमव की प्रशस्तियो मे नहीं है। केवल रघुवंशवृत्ति की प्रशस्ति मे है।

२. नैषधीय प्रशस्ति मे जिनहितसूरे के स्थान पर जिनसिंहसूरे' पाठ है जो गुरु परम्परा तथा छन्दो भग दृष्टि से अशोभ्य है।

इस प्रशस्ति के अनुसार आपका वंशक्रम इस प्रकार है:

जिनवल्लभसूरि
|
जिनदत्तसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|
जिनपतिसूरि
|
जिनेश्वरसूरि (द्वितीय)
|

जिनप्रबोधसूरि (बृहत्शाखा)	जिनसिंहसूरि (लघुखरतर शाखा)

जिनसिंहसूरि
|
जिनप्रभसूरि
|
जिनदेवसूरि
|

जिनमेरुसूरि	जिनचन्द्रसूरि

जिनमेरुसूरि
|
जिनहितसूरि
|

जिनसर्वसूरि	उ० कल्याणराज

जिनसर्वसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|
जिनसमुद्रसूरि (कुमारसंभव वृत्ति)
|
जिनतिलकसूरि
|
जिनराजसूरि

उ० कल्याणराज
|
चारित्रवर्धन
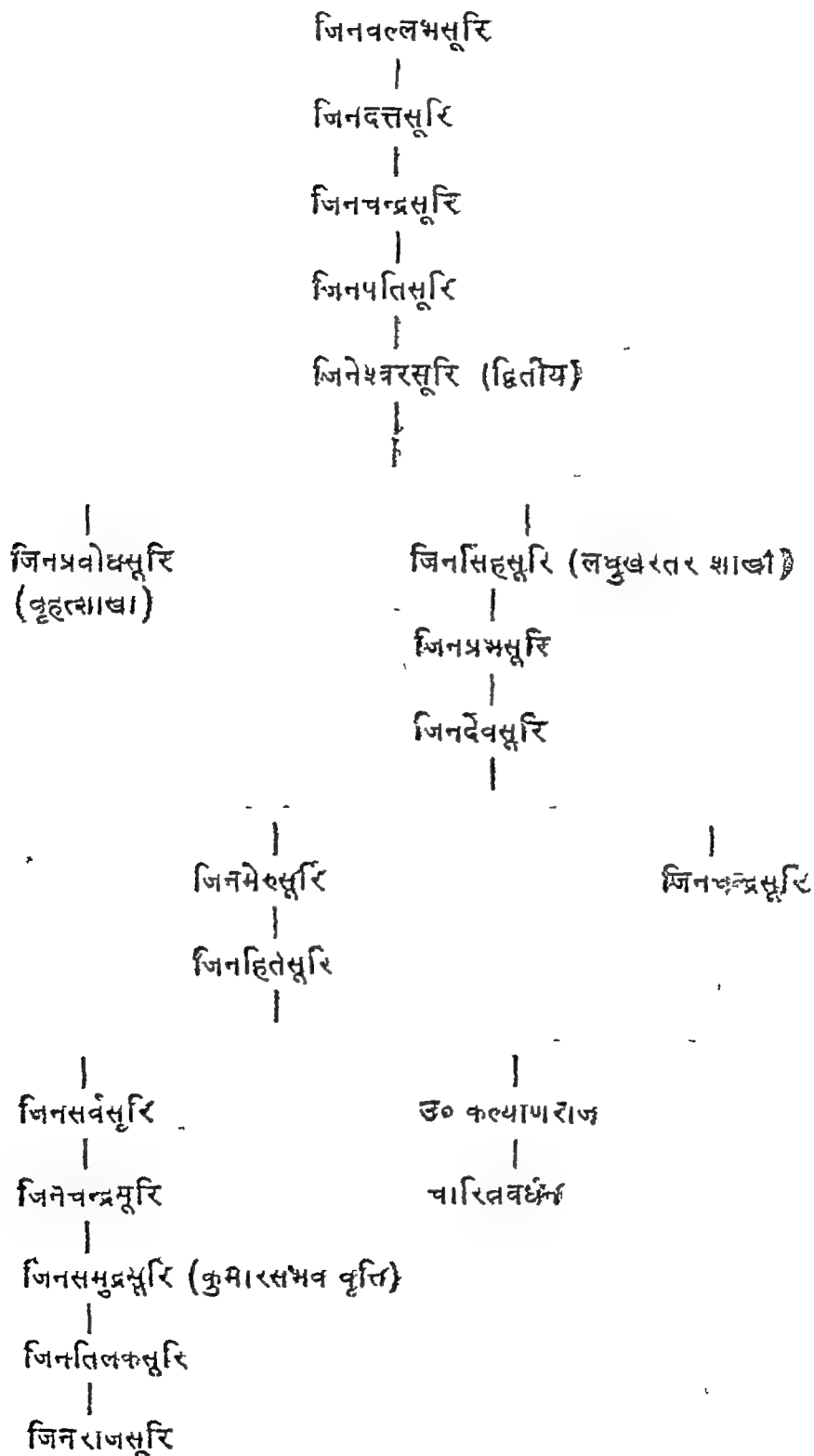
गणि चारित्रवर्धन की पूर्वावस्था का वर्णन तथा दीक्षा-शिक्षा इत्यादि का वर्णन पूर्णत अनुपलब्ध है। केवल टीकाओ की प्रशस्तिया देखने से यह ज्ञात होता है कि आपका साहित्य-सर्जन काल सं० १४९२-से १५२० तक का है। आचार्य जिनहितसूरि के प्रशिष्य चारित्रवर्धन थे और आचार्य-परम्परा के अनुसार जिनराजसूरि ५वे पट्ट पर आते है। इस दृष्टि से चारित्रवधन का दीक्षा काल अनुमानत १४७० स्वीकार किया जा सकता है। चाहे कल्याणराज अतिवृद्ध हो या चारित्रवधन, किन्तु यह नि सदेह है कि इनकी दीक्षा पर्याय बहुत बडी रही है। कुमारसम्भव टीका की रचना स० १४९२ मे हुई है। इस टीका का आद्योपान्त भाग अवलोकन करने से यह निश्चित ज्ञात होता है कि यह कृति प्रारम्भिक अवस्था की नही अपितु प्रौढावस्था की है। तथा इसमे उल्लिखित स्वय के लिये वाचनाचार्य पद को ध्यान मे रखने से ऐसा अनुमान होता है कि लगभग २०-२२ वर्ष का समय उनकी दीक्षा को हो चुका होगा। इस दृष्टि से दीक्षा समय १४७० के लगभग ही आता है। सं० १४९२ की रचना मे जिनतिलकसूरि का उल्लेख होने से सम्भवत. वाचनाचार्य पद आपको इन्होने प्रदान किया होगा।

कवि की कोई भी मौलिक कृति प्राप्त नही है। व्याख्या ग्रन्थ अवश्य प्राप्त हैं जो इनकी कीर्त्ति को अक्षुण्ण रखने मे अवश्य समर्थ हैं।

तालिका इस प्रकार है

१ रघुवश शिष्यहितैषिणी वृत्ति[1] अरडक्कमल्ल अभ्यर्थनया
२ कुमारसभव शिशुहितैषिणी वृत्ति[2] सं० १४९२[3]
३. शिशुपालवध वृत्ति[4]
४ नैषध वृत्ति स० १५११[5]
५ मेघदूत वृत्ति[6]
६ राघवपाण्डवीय वृत्ति

१. मेरे सग्रह मे,

२ गुजराती मुद्रणालय बम्बई द्वारा स० १९५४ मे प्रकाशित।

३. वर्षे विक्रमभूपतेर्विरचिता दृग्नन्दमन्वङ्किते,
माघे मासि सिताष्टमी सुरगुरावेषोऽञ्जलिर्वो बुधा. ।(कु सं वृ प्र)

४ नाहटाजी की सूचना के अनुसार नित्य विनय मणि जीवन जैन लायब्रेरी, कलकत्ता आदि मे प्राप्त है।

५. तेनामुष्यविपक्षवादिनिकराहङ्कारविश्वम्भरा-
मूल्लेखप्रमुणा शिवेषुक्षाशमृत्‌सख्या कृते वत्सरे।
टीका राघवलक्ष्माधर्वतियो शक्रेण चक्रे महा-
काव्यस्यातिगरीयसो मतिमता श्रीनैषधस्यार्थदा: ॥१४॥
(नैषध-टीका-प्रशस्ति)

मेरे सग्रह मे व मुद्रित

७. सिन्दूर प्रकर वृत्ति स० १५०५[1] भीषण अभ्यर्थनया

८ भावारिवारणस्तोत्र वृत्ति[2]

९. कल्याणमन्दिर स्तोत्र वृत्ति[3]

रघुवंश और नैषधटीका मे तो कवि ने अपनी प्रतिभा एव पाण्डित्य का पूर्ण उपयोग किया है। नैषध की टीका मे तो कवि ने अपनी कलम ही तोड दी है और उसने उसमे यह प्रयत्न किया है कि अन्य टीकाओ की भी यह 'जननी' पथप्रदर्शिका बन सके।

"यद्यपि बह्व्यस्टीका सन्ति मनोज्ञास्तथापि कुत्रापि।
एषा विशेषजननी भविष्यतीत्यत्र मे यत्न ॥

यही कारण है कि गुजराती मुद्रणालय बम्बई से प्रकाशित कुमारसंभव वृत्ति की प्रस्तावना मे सम्पादक आपके पाण्डित्य की प्रशंसा करता हुआ लिखता है·

"चारित्रवर्धनकृता शिशुहितैषिणी टीका , सा च श्लोकाभिप्रायं स्पष्टतया विशदीकरोति पदार्थांश्चाभिव्यक्ति, अतो शिशुहितैषिणी व्युत्पित्सूनामतीवोपकारिणीति सम्प्रधार्यं।"

सिन्दूरप्रकर जैसे १०० पद्यो के काव्य पर ४८०० श्लोक[4] प्रमाणोपेत टीका की रचना कर गणिजी ने अपनी असाधारण योग्यता का परिचय दिया है। इस टीका मे व्याख्याकार ने सुरुचिपूर्ण एवं मौलिक दृष्टान्तो की मानो माला ही खड़ी कर दी है।

आपके टीकाओ की प्रशस्तियो को देखने से यह मालूम होता है कि न केवल आप ही नरवेष सरस्वती थे, अपितु आपका भक्त-श्रावक-वृन्द भी नरवेपसरस्वती तो नही किन्तु सरस्वत्युपासक अवश्य था और इन्ही भक्तो की अभ्यर्थना से ही इनने महाकाव्यो पर अपनी लेखिनी चलाई। ऊपर सूचित नं० १ ३ ७ ग्रन्थो मे व्याख्याकार ने जो उपासको का परिचय दिया है वह ऐतिह्य दृष्टि से बहुत ही महत्व रखता है। व्याख्याकार प्रत्येक का परिचय प्रशस्तियो मे इस प्रकार देता है

१ श्रीमद्विक्रमभूपतेरिषुवियद्वाणेन्दुसख्यामिते,
वर्षे राधसिताष्टमी गुरुदिने टीकामिमा निर्ममे।
सिन्दूरप्रकरस्य चारुकरुणो निर्मापयामासिवान्,
दृष्टान्तै कलितामनायधिपणश्चारित्रनामामुनि ॥११॥
(सिन्दूर प्रकर वृत्ति प्रशस्ति)

२ श्रीपुण्यविजयजी सग्रह

३ हीरालाल र कापडिया द्वारा उल्लेख

४. अनुष्टुभा सहस्राणि चत्वार्यष्टौ शतानि च।
ग्रन्थसख्या मिता यत्र विवृतौ वर्णसख्यया ॥१३॥

"इत्यखण्डपाण्डित्यमण्डितपाण्डुभूमण्डलाखण्डलस्थापनाचार्यकर्पूरचीरधाराप्रवाह-प्रमृतिविरदावलीचलितललितोत्कटवदान्यसुभटदेशलहरवंशसरसीरुहविकाशनमार्तण्डविम्ब-प्रचण्डदोर्दण्डविकटचैचटगोत्राभिदुन्नतसाधुश्रीदेशलसन्तानीय-साधु-श्रीभैरवात्मजसाधु-श्रीसहस्र-मल्लसमभ्यर्थिता ..."

(शिशुपालवध प्र०)

श्रीमालवंशहंसो, डोडागोत्रे पवित्रगुणपात्रम् ।
समजनि जगलूश्रेष्ठी, विशिष्टकर्मा वरिष्ठयशाः ॥१४॥

माहलू श्रेष्ठी तस्य, प्रशस्यमूर्तिर्बभूव तनुजन्मा ।
पुत्रोऽमुष्य स भूधर इत्याख्यो दक्षजनमान्य ॥१५॥

जगसीधर इति तस्माज्जातः स्मरविग्रह कलानिलय ।
तस्यापि लखमसिंहस्तनयो विनयो नयाभिज्ञ ॥१६॥

तेजपालस्ततो जज्ञे, सुतौ मुख्याद्यणोपि च ।
पीप्पठो बाहठो न्यूनधर्म शर्मनिधि सुधी ॥१७॥

अनुल्यमुख्यो दाक्षिण्यभाजन तनुजो जयी ।
देवसिंह इति स्वान्त वासिताऽर्हत्पदाम्बुज ॥१८॥

साधु सालिगनामाऽभूत्तत्पुत्र स चरित्रभू ।
एतस्याङ्गसमुद्भूताश्चत्वारोऽपि जयन्त्यमी ॥१९॥

आद्य साधुर्वियां भूमिर्भैरवो रिपुभैरव ।
ततः सेहुण्डनामा च धर्मधामा मनोरम ॥२०॥

अरडकमल्लस्तुर्यो, वर्यो धुर्यं सतामभात्सर्य ।
सत्कार्यो धर्मधनो, मनोहर सकलललनानाम् ॥२१॥

यद्यप्येष कनिष्ठस्तदपि गुणैर्ज्येष्ठ एव विख्यात ।
कान्तगुणोऽनणुबुद्धिः शुद्धाचारो विचारज्ञः ॥२२॥

तत्त्वादृगत्वरमन्त्राखिलभुव्यां वस्तुजातमवधार्य ।
यो धर्म एव बुद्धि विदधाति नितान्तगुरुधिषणः ॥२३॥
एतेनाभ्यर्थितोऽप्यत्र ....

[कुमारसंभववृत्ति प्र०]

इसी श्रीमालवंशीय डोडागोत्रीय अरडक्कमल की अभ्यर्थना से रघुवंश काव्य[1] की व्याख्या का भी प्रणयन किया है।

श्रीमालवंशसरसीरुहतिग्मभानु, सद्डोरगोत्रकुमुदाकरशीतभानु ।
धारु इति प्रथितचारुयशोविलास, श्रीमानभूज्जिनमतिर्यतिपादसेवी ॥१॥

---

१. इति श्रीमालान्वयसाधुश्रीसालिगतनुजश्रीअरडक्कमल्लसमभ्यर्थित .... ।

तस्याङ्गजोऽजनि जनव्रजनीरजार्को, बीजाभिधो विवुत " विपक्षलक्ष. ।
कक्षीकृताखिलमहोपकृतिर्कृतज्ञ, सर्वज्ञशासनसरोजमरालमौलिः ॥२॥

तत्पुत्र कामदेवोऽभूत्, कामदेव-समद्युति ।
अर्थिनां कामदः काम, सामजातगति (?) कृती ॥३॥

तस्याङ्गभू समजनिष्ट विशिष्टकीर्त्ति-श्रीदेवसिंह इति सिंहसमानशौर्य ।
वर्य. सतां गुणवता प्रथम पृथुश्रीस्तीर्थङ्करक्रमसरोरुहचञ्चरीक ॥४॥

पुत्रस्तदीयोऽजनि वस्तुपाल, शुभाशयोऽर्द्धेन्दुसनाभिभाल ।
जिनेन्द्रपादार्चननाकपाल, समस्तवैरिव्रजनाशकाल ॥५॥

अभूतामस्य पुत्रौ द्वौ, सच्चरित्रपवित्रितौ ।
ज्येष्ठ सहजपालाख्यो, द्वितीयो भीषण प्रभु ॥६॥

निर्दूषणो यो निजवंशभूषण, गुणानुरागेण वशीकृताखिल ।
अनन्यसामान्यवरेण्यता दधद्वाति नि केवलमेव धमतान् ॥७॥

य कारुण्यपयोनिधिर्गुणवता मुख्य सतामग्रणी—
र्मार्यद्दै (?)रिकुलेभकेशरिनिभिर्विश्वोपकारक्षम ।
धर्मज्ञ. सुविचक्षण. कविकुलैः संस्तूयमानो वशी,
जीयाज्जैनमताम्बुजैकमधुप श्रीभीषण. शुद्धधी ॥८॥

देवगुरुचरणनिरतो विरतो पापात् प्रमादसत्यक्त ।
सोऽयं भीषणनामा कामतनुर्माति धर्ममति ॥ ९ ॥
सोऽहमभ्यर्थितोऽत्यर्थं टीका ठक्कुरभीषणैः ।
सिन्दूरप्रकरस्यास्याकार्षं चारित्रवर्द्धन. ॥१०॥

[सिन्दूरप्रकर वृत्ति-प्रशस्ति]

उपासकों के लिये रघुवंश, कुमारसंभव तथा शिशुपालवध इत्यादि महाकाव्यों पर प्रौढ एवं परिष्कृत शैली में व्याख्या करना उपासकों की योग्यता और बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन करता है।

देशलहर सन्तानीय चेचटगोत्रीय भैरवसुत सहस्रमल्ल, श्रीमालवंशीय डोडागोत्रीय सालिग सुत अरडक्कमल तथा श्रीमालवंशीय ढोरगोत्रीय ठक्कुर भीषण प्राय करके विहार और उत्तर प्रदेश के ही निवासी थे और संभवत यह निश्चित है कि लघु खरतर शाखा का फैलाव भी इसी प्रदेश मे था। आगे भी हम देखते हैं कि १७ वीं शती के अन्तिम चरण में जब इस लघु शाखा परम्परा का ह्रास हो जाता है, तो बृहत्शाखीय जिनराजसूरि के शिष्य जिनरंगसूरि को इस शाखा के अनुयायी स्वीकार लेते हैं जो आज भी इसी रूप मे अवस्थित हैं। अत चारित्रवर्धन का विहार-भ्रमण-प्रदेश भी यही प्रदेश रहा है। केवल २,४,७ नं० की कृतियों में संवत् का उल्लेख प्राप्त है, अन्यों मे नहीं। नैषधटीका की रचना सं० १५११ मे हुई है। यदि इस रचना को अन्तिम मान लें तो अनुमानत सं० १५२० तक आप विद्यमान रहे होंगे।

प्रस्तुत भावारिवारण स्तोत्र टीका की भाषा, शैली तथा विशिष्टता देखते हुए यह निश्चिततया कह सकते हैं कि यह प्रारंभिक कृति होने पर भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से उत्तम और पठनीय है।

न केवल गणि चारित्रवर्धन ही देवी पद्मावती के उपासक थे अपितु जैनप्रभीय सारी परम्परा ही पद्मावती को इष्ट मान कर उपासना करती रही है। यही कारण है कि नैषधीय व्याख्या के प्रारंभ मे ही चारित्रवर्धन लिखते हैं:

पद्मावती भगवती जगती नमस्या भूयाद्भूयार्त्तिशमिनी जगतो वयस्या।
नागाधिराजरमणी रमणीयहास्या, देवैर्नुता मम विकाशिसरोरुहास्या ॥२॥

उपाध्याय मेरुसुन्दर

युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि की परम्परा मे वाचनाचार्य शीलचन्द्र गणि के प्रशिष्य, वाचक रत्नमूर्ति गणि के आप शिष्य थे। आपका सत्ताकाल सोलहवी शती का पूर्वार्ध है। आप के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञात नही है किन्तु आप के साहित्य को देख कर यह तो निश्चित हो ही जाता है कि लोकभाषा को लक्ष्य मे रख कर आपने जो अनुपम साहित्य सेवा की है वह भाषा-साहित्य की दृष्टि से सर्वदा चिर-स्मरणीय रहेगी। वाग्भटालकार और विदग्धमुख-मडन जैसे आलंकारिक ग्रन्थो को भाषा के बालावबोध रूप देने मे जिस दक्षता का परिचय दिया है वह स्तुत्य है। आप की प्रणीत निम्न-कृतिया उपलब्ध हैं:—

१ शीलोपदेशमाला बालावबोध (स० १५२५ माडवगढ मे श्रीमाल धनराज की अभ्यर्थना से रचित)
२ पुष्पमाला बालावबोध (सं० १५२८ पूर्व)
३. षडावश्यक बालावबोध (सं० १५२५ वै सु ५ मांडवगढ संघ की अभ्यर्थना से)
४. कर्पूर प्रकर बालावबोध (सं० १५३४ से पूर्व)
५ योगशास्त्र बालावबोध
६ पचनिर्ग्रन्थी बालावबोध
७ अजितशांति बालावबोध
८ शत्रुञ्जय स्तवन बालावबोध (स० १५१८)
९ भावारिवारण स्तोत्र बालावबोध
१० वृत्तरत्नाकर बालावबोध
११ सबोधसत्तरी बालावबोध
१२ श्रावक प्रतिक्रमण बालावबोध
१३ कल्पप्रकरण बालावबोध
१४ योगप्रकाश बालावबोध
१५ अजनासुन्दरी कथा
१६. प्रश्नोत्तर ग्रन्थ
१७ भावारिवारण वृत्ति

१८ षष्टिशतक बालावबोध
१९ वाग्भटालंकार बालावबोध,
२० विदग्धमुखमण्डन बालावबोध

भावारिवारण स्तोत्र पर वृत्ति और बालावबोध दोनों की आपने रचना की है। किस संवत् में इन की रचनायें हुई हैं यह ज्ञात नही है। भावारिवारण की वृत्ति और बालावबोध दोनो ही सुविस्तृत और सुन्दर हैं। इसकी प्रतियां भांडरकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना आदि में सुरक्षित हैं।

विशेष अध्ययन के लिये देखें, डा० भोगीलाल ज० सांडेसरा लिखित 'षष्टिशतक प्रकरण त्रय बालावबोध' की भूमिका।

क्षेमसुन्दर

भावारिवारण स्तोत्र के टीकाकार क्षेमसुन्दर के सम्बन्ध में हमें किञ्चित् भी उल्लेख प्राप्त नही है। किन्तु आप खरतरगच्छीय पिप्पलक शाखा के प्रवर्त्तक आचार्य जिनवर्धनसूरि के शिष्य थे। अतः आपका सत्ताकाल १५ वी शती का अन्तिम भाग और १६ वी शती का पूर्वार्ध है।

इस टीका की रचना आपने कब और कहां पर की ? इसका प्रशस्ति में कोई उल्लेख नहीं। टीका सामान्यतया सुन्दर है। इसमें प्रायः पर्यायों पर ही विशेष बल दिया गया है। इसकी प्रति जयचन्द्रजी भंडार व मुनिराज श्री पुण्यविजयजी के संग्रह में है।

उपाध्याय पद्मराज

आचार्य जिनवल्लभ-प्रणीत ग्रन्थों और स्तोत्रों पर टिप्पण, चूर्णि, वृत्ति, अवचूरि, दीपिका, पञ्जिका, बालावबोध, स्तबक आदि अनेक विवरण प्राप्त हैं। किन्तु स्तोत्रों पर स्वतन्त्र पादपूर्त्यात्मक रचनाओं में केवल एक कृति को छोड अन्य कोई प्राप्त नहीं है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वृत्ति इत्यादि की रचना करना सहज है किन्तु पादपूर्त्यात्मक रचनायें करने के लिये साहित्य-शास्त्र, लक्षण शास्त्र, छन्द-शास्त्र पर पूर्ण अधिकार होने के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की प्रतिभा भी आवश्यक है। यही कारण है कि इस प्रकार की रचनायें वल्लभीय-साहित्य में ही नहीं अपितु संस्कृत-साहित्य में भी अल्प परिमाण में ही प्राप्त होती हैं।

इसी प्रकार की पादपूर्त्यात्मक रचना जिनवल्लभ प्रणीत समसंस्कृत-प्राकृत भाषा में महावीर-स्तोत्र प्रसिद्ध नाम भावारिवारण स्तोत्र पर है। इस कृति के कर्त्ता हैं उपाध्याय पद्मराज गणि।

वाचक पद्मराज खरतरगच्छीय श्रीजिनहंससूरि के प्रशिष्य, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति इत्यादि ग्रन्थों के टीकाकार महोपाध्याय श्रीपुण्यसागर के शिष्य थे। 'राज' नन्दी को देखते हुए युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि के करकमलों से सं० १६२२ के लगभग आपकी दीक्षा हुई होगी। प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक वृत्ति की प्रशस्ति देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि सं० १६४० के पूर्व

ही आप गणि पद से अलंकृत हो चुके होंगे। भावारिवारण पादपूर्ति महावीरस्तोत्र की सं० १६५६ मे रचित स्वोपज्ञ वृत्ति प्रशस्ति में 'उपाध्याय'[1] पद का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि तत्पूर्व ही आप इस पद को युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि से प्राप्त कर चुके थे।

आप प्रतिभाशाली विद्वान् थे। आपकी प्रतिभा की प्रशंसा आपके गुरु महोपाध्याय पुण्यसागरजी भी प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत वृत्ति[2] और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्ति आदि मे करते हैं। प्रशस्तियो के अनुसार ये दोनो ही कृतिया आपके सहयोग से पूर्ण हुई थी। आपकी स्वतन्त्र और मौलिक रचनाओ मे तो भावारिवारण पादपूर्ति महावीर स्तोत्र और महायमकमय[3] पार्श्वनाथ स्तोत्र ही है और टीकाओ मे भुवनहिताचार्य[4] तथा जिनेश्वराचार्य रचित दण्डक स्तुति मुख्य हैं और भाषा-साहित्य में उवसग्गहर बालावबोध अभयकुमार चौपाई एवं स्तवन, स्वाध्याय आदि ३० कृतिया प्राप्त हैं।

इस स्तोत्र मे कवि-निबद्ध श्लोक का अन्तिम चरण ही लेकर पादपूर्ति की गई है, इसी कारण से इस स्तोत्र के भी ३० ही पद्य हैं। सभी पद्यो मे अलंकारो एव गुणो का प्राचुर्य है। उदाहरण के लिये देखिये

गम्भीरिमालयमहापरिमाणमङ्ग–
सम्बद्धमङ्गलहरीबहुभङ्गिचङ्गम्।
नीरालम नयमणी कुलसङ्कुल वा,
देवागम तव नरा विरला महन्ति ॥११॥

इस स्तोत्र पर स्वय आपकी ही लिखित वृत्ति प्राप्त है। इसकी रचना सं० १६५६ आश्विन कृष्णा १० को जैसलमेर मे हुई है—

खरतरगणे नवाङ्गी-वृत्तिकृतामभयदेवसूरीणाम्।
वशे क्रमादभूवन् श्रीमज्जिनहससूरीन्द्रा ॥१॥
तेषा शिष्यवरिष्ठा समप्रसमयार्थनिष्ठकपट्टा।
श्रीपुण्यसागरमहोपाध्याया जज्ञिरे विज्ञा ॥२॥
तेषा शिष्यो विवृत्ति वाचकवर पद्मराज गणिरकरोत्।
भावारिवारणान्तिमचरणनिबद्धस्तवस्यैताम् ॥३॥
ग्रहकरणदर्शनेन्दुप्रमितेऽब्दे चाश्विनासितदशम्याम्।
श्रीजैसलमेरुपुरे श्रीमज्जिनचन्द्रगुरुराज्ये ॥४॥

टीका सामान्यतया सुन्दर तथा समृद्ध है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे सग्रह मे है और इसका प्रकाशन सुमति-सदन कोटा, द्वारा 'भावारिवारण-पादपूर्त्यादिस्तोत्र संग्रह' नाम से हो चुका है।

१ तेषा शिष्यो विवृत्ति वाचकवर पद्मराज-गणिरकरोत्।
२ पद्मराजगणि-सत्सहायतायोगत सपदि सिद्धिमागता।
वृत्तिकल्पलतिका सतामिय पूरयन्त्वभिमतार्थसन्ततिम् ॥६॥
[प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत वृत्ति प्र०]
३ ४ भावारिवारण पादपूर्त्यादिस्तोत्र सग्रह मे प्रकाशित।

उपसंहार

रससिद्धकवीश्वर गीतार्थप्रवर प्रबल क्रान्तिकारी आचार्यश्रेष्ठ श्री जिनवल्लभसूरि के कृतित्व की प्रशसा करते हुए जहा दादा जिनदत्तसूरि इन्हें महाकवि कालीदास, माघ, वाक्पतिराज से भी अधिक उच्चकोटि का महाकवि और सुविहित चारित्र-चूडामणि युगप्रवर मानते हैं, वही जिनपालोपाध्याय के वचनो मे सुविद्यावनिताप्रिय जिनवल्लभ की कीर्त्तिहंसी आज भी प्रसन्न चित्त से गुणिजनो के मानस मे रमण कर रही है। ऐसे आगमज्ञ जिनवल्लभ के व्यक्तित्व और कृतित्व पर मेरे जैसे अज्ञ का समीक्षात्मक अध्ययन लिखना 'पंगु गिरि लघे' के समान ही है फिर भी प्रयत्न कर जो कुछ मैंने लिखा है वह आचार्य जिनवल्लभ की कृपा और आशीर्वाद का ही सुफल है। अतः षडशीति के टीकाकार श्री यशोभद्रसूरि के शब्दो को उद्धृत करता हुआ मैं आचार्य जिनवल्लभ के चरणों मे श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

यथासौ श्रीजिनवल्लभस्य रचना सूक्ष्मार्थसार्थान्विता,
क्वेयं मे मतिरप्रिमाप्रणयिनी मुग्धत्व पृथ्वीभुजः ।
पङ्गोस्तुङ्गनगाधिरोहणसुहृद्यत्नोयमार्यास्ततो-
ऽसद्ध्यानव्यसनार्णवे निपततः स्वान्तस्य पोतोऽर्पितः ।

युगप्रधान जिनदत्तसूरि रचित

जिनवल्लभसूरि-गुणवर्णन

सूरिपयं दिन्नमसोगचन्दसूरीहिं चत्तभूरिहिं ।
तेसि पय मह पहुणो दिन्नं जिणवल्लहस्स पुणो ।।८४।।

जिनवल्लभसूरि —

अत्थगिरिमुवगएसु जिण-जुगपवरागमेसु कालवसा ।
सूरम्मि व दिट्ठिहरेण विलसिय मोहसतमसा ।।८५।।
ससारचारगाओ निव्विन्नेहिं पि भव्वजीवेहिं ।
इच्छतेहिं वि मुक्ख दीसइ मुक्खारिहो न पहो ।।८६।।
फुरिय - नक्खत्तेहिं महागहेहिं तओ समुल्लसिय ।
वुड्ढी रयणियरेणावि पाविया पत्तपसरेण ।।८७।।
पासत्थकोसियकुल पयडीहोऊण हतुमारद्ध ।
काए काए य विधाए भावि भय ज न त गणइ ।।८८।।
जग्गति जणा थोवा सपरेसिं निव्वुइ समिच्छता ।
परमत्थरक्खणत्थ सद् सद्दस्स मेलता ।।८९।।
नाणा सत्थाणि धरति ते उ जेहिं वियारिऊण पर ।
मुसणत्थमागय परिहरति निज्जीवमिह काउ ।।९०।।
अविणासियजीव ते धरति धम्म सुवसनिप्फन्न ।
मुक्खस्स कारण भयनिवारण पत्तनिव्वाण ।।९१।।
धरियकिवाणा केई सपरे रक्खति सुगुरुफरयजुया ।
पासत्थचोरविसरो वियारभीओ न ते मुसई ।।९२।।
मग्गुम्मग्गा नज्जति नेय विरलो जणो त्थि मग्गन्नू ।
थोवा तदुत्तमग्गे लग्गति न वीससति घणा ।।९३।।
अन्ने अन्नत्थीहिं सम्म सिवपहमपिच्छिरेहिं पि ।
सत्था सिवत्थिणो चालिया वि पडिया भवारण्णे ।।९४।।
परमत्थसत्थरहिएसु भव्वसत्थेसु मोहनिद्दाए ।
सुत्तेसु मुसिज्जतेसु पोढपासत्थचोरेहिं ।।९५।।
असमजसमेयारिसमवलोइय जेण जायकरुणेण ।
एसा जिणाणमाणा सुमरिया सायर तइया ।।९६।।
सुहसीलतेणगहिए भवपल्लितेण जगडियमणाहे ।
जो कुणइ कु वि यत्त सो वणए कुणई सघस्स ।।९७।।

तित्थयरराणाए आयरिया रक्खियव्व तेहिं कया ।
पासत्थपमुहचोरोवरुद्धधणमव्वसत्थाण ॥९८॥
सिद्धपुरपत्थियाण रक्खट्ठाऽऽयरियवयणउ सेसा ।
अहिंसयवायणायरिय-साहुणो रक्खगा तेसिं ॥९९॥
ता तित्थयराणाए मए वि ते हु ति रक्खणिज्जाओ ।

वीरवृत्ति

इय मुणिय वीरवित्ति पडिवज्जिय सुगुरुमन्नाह ॥१००॥
करिय खमाफलय वरिउमक्खय कयदुरुत्तसरक्खल ।
तिहुयणमिद्ध त ज सिद्धतमसि समुक्खिविय ॥१०१॥
निव्वाणठाणमणह सगुण सद्धम्ममविसम विहिणा ।
परलोयसाहग मुक्खकारग वरिय विप्फुरिय ॥१०२॥
जेण तओ पासत्थाइतेणसेणा वि हक्किया सम्म ।
सत्थेहिं महत्थेहिं वियारिऊण च परिचत्ता ॥१०३॥
आसन्नसिद्धिया भवसत्थिया सिवपहम्मि मठविया ।
निव्वुइमुविति तह जे पडति ना भीमभवरण्णे ॥१०४॥
मुद्धाऽणाययणनया चुक्का मग्गाउ जायसदेहा ।
वहुजणपुट्ठिविलग्गा दुहिणो हूया समाहूया ॥१०५॥

आयतनम् —

दसियमाययण तेसिं जत्थ विहिणा सम हवइ मेलो ।
गुरुपारतंतओ समयसुत्तओ जस्स निप्फत्ती ॥१०६॥

आयतनविधि —

दीसई य वीयराओ तिलोयनाहो विरायसहिएहिं ।
सेविज्जतो सतो हरइ हु ससारसताव ॥१०७॥
वाइयमुवगीयं नट्टमवि सुय दिट्ठमिट्ठमुत्तिकर ।
कीरइ सुसावएहिं सपरहिय समुचिय जत्थ ॥१०८॥
रागोरगो वि नासइ सोउ सुगुरुवएसमतपए ।
भव्वमणो सालूर नासइ दोसो वि जन्थाहो ॥१०९॥
नो जत्थुस्सुत्तजणक्कमु त्थि ण्हाण वली पइट्ठा य ।
जइ-जुवइपवेसो वि य न विज्जइ विज्जइविमुक्को ॥११०॥
जिणजत्ता-ण्हाणाइ दीनाण ज खयाइ कीरति ।
दोसोदयम्मि कह तेसिं सभवो भवहरो होज्जा ॥१११॥
जा रत्ती जारत्तीणमिह रइ जणइ जिणवरगिहे वि ।
सा रयणी रयणियरस्स हेऊ कह नीरयाण मया ॥११२॥
साहू सयणासण-भोयणाइआसायण च कुणमाणो ।
देवह रएण लिप्पइ देवहरे जमिह निवसतो ॥११३॥

तवोलो त बोलइ जिणवसहिट्ठिएण सो खद्धो ।
खुद्धे भवदुक्खजले तरइ विणा नेय सुगुरुतरिं ॥११४॥
तेसिं सुविहियजइणो य दसिया जेउ हु ति आययण ।
सुगुरुजणपारतंतेण पाविया जेहिं नाणसिरी ॥११५॥
सदेहकारितिमिरेण तरलिय जेसिं दसण नेय ।
निव्वुइपह पलोयइ गुरु-विज्जुवएसओ सहओ ॥११६॥
निप्पच्चवायचरणा कज्ज साहति जे उ मुत्तिकर ।
मन्नति कय त ज कयतमिद्ध तु सपरहिय ॥११७॥
पडिसोएण पयट्टा चत्ता अणुसोअगामिणी वत्ता ।
जणजत्ताए मुक्का मयनमच्छर-मोहओ चुक्का ॥११८॥
सिद्धं सिद्धतकह कहति वीहति नो परेहितो ।
वयण वयति जत्तो निव्वुइवयण धुव होइ ॥११९॥
तव्विवरीआ अन्ने जइवेसधरा वि हु ति न हु पुज्जा ।
तद् सणमवि मिच्छत्तमणुखण जणइ जीवाण ॥१२०॥
धम्मत्थीण जेण विवेयरयण ,विसेसओ ठविय ।
चित्तउडे चित्तउडे ठियाण ज जणइ निव्वाण ॥१२१॥
असाहएणावि विही य साहिओ जो न सेससूरीण ।
लोयणपहे वि वच्चइ वुच्चइ पुण जिणमयन्नूहिं ॥१२२॥

धवलोपमा—

घणजणपवाहसरियाणुसोअपरिवत्तसकडे पडिओ ।
पडिसोएणाणीओ धवलेण व सुद्धधम्मभरो ॥१२३॥

मेघोपमा –

कयबहुविज्जुज्जोओ विसुद्धलद्धोदओ सुमेहु व्व ।
सुगुरुच्छाइयदोमायरपहो पहयसतावो ॥१२४॥
सव्वत्थ वि वित्थरिअ वुट्ठो कयसस्ससपओ सम्म ।
नेव वायहओ न चलो न गज्जिओ जो जए पयडो ॥१२५॥

जलध्युपमा—

कहमुवमिज्जइ जलही तेण सम जो जडाण कयवुड्ढी ।
तियसेहिं पि परेहिं मुयइ सिरिं पि हु महिज्जतो ॥१२६॥

सूर्योपमा—

सूरेण व जेण समुग्गएण सहरिय मोहतिमिरण ।
सद्दिट्ठीण सम्म पयडो निव्वुइपहो हूओ ॥१२७॥
वित्थरियममलपत्त कमल वहुकुमयकोसिया दूसिया ।
तेयस्सीण वि तेओ विगओ विलय गया दोसा ॥१२८॥
विमलगुणचक्कवाया वि सव्वहा विहडिया वि सघडिया ।
अमिरेहिं भमरेहिं पि पाविओ सुमणसजोगो ॥१२९॥

भव्वजणेण जमियमवमियं दुट्ठसावयगणेण ।
जइमवि खडिय मडियं य महिमडल सयल ॥१३०॥

चन्द्रोपमा

अत्थमई सकलको सया संसको वि दमियपओसो ।
दोसोदए पत्तपहो तेण समो सो कहं हुज्जा ॥१३१॥

विष्णूपमा

संजणियविही सपत्तगुरुसिरी जो सया विसेसपयं ।
विण्हुव्व किवाणकरो सुरपणओ धम्मचक्कधरो ॥१३२॥

ब्रह्मोपमा

दसियवयणविसेसो परमप्पाण य मुणइ जो सम्म ।
पयडविवेओ छन्चरणसम्मओ चउमुहु व्व जए ॥१३३॥

शम्भूपमा -

धरइ न कवड्डयं पि हु कुणइ न वध जडाण कया वि ।
दोसायर च चक्क सिरम्मि न चडावए कहं वि ॥१३४॥
सहरइ न जो सत्ते गोरीए अप्पए न नियमग ।
सो कह तव्विवरीएण समुणा सह लहिज्जुवम ॥१३५॥

विद्या

साइसएसु सग गएसु जुगपवरसूरिनियरेसु ।
सव्वाओ विज्जाओ भुवण भमिऊण स्सताओ ॥१३६॥
तह वि न पत्त जुगवं जव्वयरोपकए वास ।
करिय परुप्परमन्चत पणयओ हुँति सुहियाओ ॥१३७॥
अन्नुन्नविरहविहुरोहतत्तगत्ताओ तणुईओ ।
जायाओ पुण्णवमा वासपयं पि जो पत्तो ॥१३८॥
तं लहिय वियसियाओ ताओ तव्वयणसरुहगयाओ ।
तुट्ठाओ पुट्ठाओ समग जायाओ जिट्ठाओ ॥१३९॥

अनुपमेयत्वन्

जाया कइणो के के न सुमइणो परमिहोवम ते वि ।
पावति न जेण सम समतओ सव्वकव्वेण ॥१४०॥
उवमिज्जते सतो सतोसमुविति जम्मि नो सम्म ।
असमाणगुणो जो होइ कह णु सो पावए उवम ॥१४१॥
जलहिजलमजलीहिं जो मीणइ नहगण पि पएहिं ।
परिमक्कइ सो वि न सक्कइ जग्गुणगण भणिउं ॥१४१॥
जुगपवरगुरुजिणेसरसीसाण अभयदेवसूरीण ।
तित्थमरधरणधवलाणमतिए जिणमय विमय ॥१४३॥
सविणयमिह जेण मुय सप्पणय तेहि जस्स परिकहिय ।
कहियाणु सारओ सव्वमुवगय सुमइणा सम्म ॥१४४॥

निच्छम्मं भव्वाण तं पुरओ पयडिय पयत्तेण ।
अकयसुकयनिदुल्लह जिणवल्लहसूरिणा जेण ॥१४५॥
सो मह सुहविहिसद्धम्मदायगो तित्थनायगो य गुरू ।
तप्पयपउमं पाविय जाओ जायाणुजाओ ह ॥१४६॥
तमणुदिण दिन्नगुण वंदे जिणवल्लह पहुं पयओ ।

गणधरसार्द्धशतक गा० ८५-१४७

कयसावयसंतासो हरिव्व सारंगभग्गसंदेहो ।
गयसमयदप्पदलणो आसाइयपवरकव्वरसो ॥१५॥
भीमभवकाणणम्मी दंसियगुरुवयणरयणसंदोहो ।
नीसेससत्तगुरुओ सूरी जिणवल्लहो जयइ ॥१६॥
उवरिट्ठियसच्चरणो चउरणुओगप्पहाण सच्चरणो ।
असममयरायमहणो उड्ढमुहो सहइ जस्स करो ॥१७॥
दंसियनिम्मलनिच्चलदंतगुणोऽगणियसावउत्थमओ ।
गुरुगिरिगरुओ सरहु व्व सूरी जिणवल्लहो होत्था ॥१८॥
जुगपवरागमपीऊसपाणपीणियमणा कया भव्वा ।
जेण जिणवल्लहेण गुरुणा त सव्वहा वंदे ॥१९॥

— सुगुरुपारतन्त्र्य स्तोत्र गा० १५-१९

नमिवि जिणेसरधम्मह तिहुयणसामियह,
पायकमलु ससिनिम्मलु सिवगयगामियह ।
करिमि जहट्ठियगुणथुइ सिरि जिणवल्लहह,
जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुल्लहह ॥१॥
जो अपमाणु पमाणइ छद्दरिसण तणइ,
जाणइ जिव नियनामु न तिण जिव कुवि घणइ ।
परपरिवाइगइंदवियारणपंचमुहु,
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु ? ॥२॥
जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ
सद्द असद्द वियारइ सुवियक्खणतिलउ ।
सुच्छदिण वक्खाणई छंदु जु सुजइमउ,
गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विजयमउ ॥३॥
कव्वु अउव्वु जु विरयइ नवरसभरसहिउ,
लद्धपसिद्धिहिं सुकइहिं सायरु जो महिउ ।
सुकइ माहु ति पसंसहि जे तसु सुहगुरुहु,
साहु न मुणहि अयाणुय मइजियसुरगुरुहु ॥४॥
कालियासु कइ आसि जु लोइहि वन्नियइ,
ताव जाव जिणवल्लह कइ नाअन्नियइ ।
अप्पु चित्त परियाणहि त पि विसुद्ध न य,

ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि मुद्धनय ॥५॥
सुकइविसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ,
सु वि जिणवल्लह पुरउ न पावइ कित्ति कइ ।
अवरि अणेयविणेयहिं सुकइ पसंसियहिं,
तक्कव्वामयलुद्धिहिं निच्चु नमंसियहिं ॥६॥
जिण कय नाणा चित्तइ चित्तु हरंति लहु,
तसु दंसणु विणु पुन्निहिं कउ लब्भइ दुलहु ।
सारइं बहु थुइ-थुत्तइ चित्तइं जेण कय,
तसु पयकमलु जि पणमहि ते जण कयसुकय ॥७॥
जो सिद्धंतु वियाणइ जिणवयणुब्भविउ,
तसु नामु वि सुणि तूसइ होइ जु इहु भविउ ।
पारतंतु जिणि पयडिउ विहिविसइहिं कलिउ,
सहि ! जसु जसु पसरंतु न केणइ पडिखलिउ ॥८॥

× × × × × ×

इय निप्पुन्नह दुल्लहे सिरिजिणवल्लहिण,
तिविहु निवेइउ चेइउ सिवसिरिवल्लहिण ।
उस्सुत्तइं वारंतिण सुत्तु कहंतइण,
इह नव व जिणसासणु दमिउ सुमइण ॥४०॥
इक्कवयणु जिणवल्लह पहु वयणइ घणइं,
किं व जंपिवि जणु सक्कइ सक्कु वि जइ मुणइ ।
तसु पयभत्तह सत्तह सत्तह भवभयह
होइ अंतु सुनिरुत्तउ तव्वयणुपजयह ॥४१॥
इक्ककालु जसु विज्ज असेस वि वयणि ठिय,
मिच्छदिट्ठि वि वदहिं किंकरभावठिय ।
ठाणि ठाणि विहिपक्खु वि जिण अप्पडिखलिउ,
फुडु पयडिउ निक्कवडिण परु अप्पउ कलिउ ॥४२॥
तसु पयपंकयउ पुन्निहिं पाविउ जण-भमरु,
सुद्धनाण-महुपाणु करंतउ हुइ अमरु ।
सत्थु हुंतु जो जाणइ सत्थ पसत्थ सहि,
कहिं अणुवमु उवमिज्जइ केण समाणु सहि ॥४३॥
वद्धमाणसूरिसीसु जिणेसरसूरिवरु,
तासु सीसु जिणचंदजईसरु जुगपवरु ।
अभयदेउमुणिनाहु नवंगह वित्तिकरु,
तसु पयपंकय-भसलु सलक्खणुचरणकरु ॥४४॥
सिरिजिणवल्लहु दुल्लहु निप्पुन्नह जणहं,

हउ न अत्तु परियाणउं अहु जण तग्गुणह।
सुद्धधम्मि हउ ठाविउ जुगपवरागमिण,
एउ वि मइ परियाणिउ तग्गुणसकमिण ॥४५॥
भमिउ भूरिभवसायरि तह वि न पत्तु मइ,
सुगुरुरयणु जिणवल्लहु दुल्लहु सुद्धमइ।
पाविय तेण न निव्वुइ इह पारत्तियइ,
परिभव पत्त वहुत्त न हुय पारत्तियइ ॥४६॥
इय जुगपवरह सूरिहि सिरिजिणवल्लहह,
नायसमयपरमत्थह वहुजणदुल्लहह।
तसु गुणथुइ वहुमाणिण सिरिजिणदत्तगुरु,
करइ सु निरुवमु पावइ पउ जिणदत्तगुरु ॥४७॥
चर्चरी पद्य १-८; ४०-४७,

सिरिजिणवल्लहसूरीहि विरइय जमिह त वदे ॥२२॥
कलिकालकुमुइणीवणसंकोयणकारि सूरकिरणव्व।
इह सुत्तासुत्तपया व भासणुल्लासिणो जेसिं ॥२३॥
ठाणट्ठाणट्ठियमग्गनासि सदेहमोहतिमिरहरा।
कुग्गहिवग्गकोसियकुलकवलियलोयणा लोया ॥२४॥
तेहि पभासिय ज त विहडइ नेय घडइ जुत्तीए।
वदे सुत्त सुत्ताणुसारि ससारिभयहरण ॥२५॥
गुरुगयणयलपसाहण पत्तरहो पयडिया समदि सोहो।
हयसिवपहसदेहो कयभव्वंभोरुहविवोहो ॥२६॥
सूरुव्व सूरिजिणवल्लहो य जाउ जए जुगपवरो।
—श्रुतस्तव गाथा २२-२७

नेमिचन्द्र भण्डारी विरचित

जिनवल्लभसूरि गुरुगुणवर्णन

पणमवि सामिय वीरजिण, गणहर गोयम सामि ।
सुधर्मसामिअन लगि सरणि जुगप्रधान सिवगामि ॥१॥
तित्थुवरणु सु मुणिरयण, जुगप्रधान क्रमि पत्तु ।
जिणवल्लहसूरि जुगपवरो, जसु निम्मलउं चरित्तु ॥२॥
तसु सुहगुरु गुणकित्तणइ सुरराउ वि असमत्थु ।
तो भत्तिब्भर तरलियउ, कहु हंउ कहि सकयत्थो ॥३॥
कहं भवसायर दुत्तर, कह पत्तउ मणुयत्तु ।
किह जिणवल्लहसूरिवयणु, जाणउ समय पवित्तु ॥४॥
कह सबोहि मणु उल्लसिउ, कहं सुद्धउ सम्मत्तु ।
जुगसमला नाणएण मइ, पत्तउ जिणविह–तत्तु ॥५॥
जिणवल्लभसूरि सुहगुरह, बलि कि जिसु गुरराय ।
जसु वयणेस विजाणियए, तुट्टइ कुमय—कसाय ॥६॥
मूढा मिल्हहु मूढ पहु, लग्गहु सुद्धइ धम्मि ।
जो जिणवल्लहसूरि कहिउ, गच्छउ जिम सिवरम्मि ॥७॥
अथिर माइ पिय बंधवइ, अथिर रिद्धि गिहवासु ।
जिणवल्लहसूरि पय नमउं, तोडउ भवदुहपासु ॥८॥
परमपएणइ न के वि गुरु, निम्मल धम्मह हुंति ।
सव्वि ति सुहगुरु भन्नियहिं, जे जिणवयण मिलंति ॥९॥
'गुरु गुरु' गायवि रंजियहिं, मूढउ लोउ अयाणु ।
न मुणइ जं जिण आण विणु, गुरु हुइ सत्तु समाणु ॥१०॥
जिम सरणाइय माणुसह, कोइ करइ सिरछेउ ।
न मुणइ ज जिण-भासियउ, तिम कुगुरह सजोउ ॥११॥
हुंड–विसप्पिणि भसम गहु, दूसम कालु कलिट्ठु ।
जिणवल्लहसूरि भट्ठु नमहु, जिणिउ सत्तु निसिट्ठु ॥१२॥
जा जहि कुलगुरु आवियउ, ते तहि भत्ति करंत ।
विरला जोइवि जिणवयणु, जहि गुण तहि रचंति ॥१३॥
हा हा दूसमकाल बलु, खल वंकत्तण जोइ ।
नामेणिय सुविहिय तणइ, मित्तु वि वयरीय होइ ॥१४॥

तहि चेडाहिव हउं नमउ, सुमरिय परमत्थाह।
हीयडइ जिणवर इक्कपर, अनु सुद्धउ गुरु जाह ॥१५॥
जिणि जिणवर पहु हीलियइ, जणु रंजियइ सहासु।
सो वि सुगुरु पणमंत यह, फूटि न हिया हयासु ॥१६॥
मिरियभवे जिउ वीर जिण, इक्क उसत्त लवेण।
कोडाकोडि सागर भमिउ, किं न भणह मोहेण ॥१७॥
तव संजम सुत्तेण सहु, सव्वु वि सहलउ होइ।
सो वि उसुत्तलवेण सह, भवदुह-लक्खइ देइ ॥१८॥
माया मोह चएह जण, दुलहउ जिण-विहवम्म।
जो जिणवल्लहसूरि कहिउ, सिग्घ देह सिव सम्मु ॥१९॥
संसउ कोइ म करहु मुणि, संसइ होइ मिच्छत्तु।
जिणवल्लहसूरि जुगपवर, नमहु सु तिजग पवित्तु ॥२०॥
जइ जिणवल्लहसूरि गुरु, नहु दिट्ठउ नयणेहिं।
जुगपहाण तउ जाणीयइ, निच्छइ गुण-चरिएहिं ॥२१॥
ते धन्ना सुकयत्थ नर, ते संसारु तरंति।
जे जिणवल्लहसूरि तणीए, आण सिरेण धरंति ॥२२॥
तह न रोग दोहग्गु नह, तह मंगल कल्लाण।
जे जिणवल्लह गुरु नमइ, तिन्नि संझ सुविहाण ॥२३॥
सुविहिय-मुणि-चूडारयण, जिणवल्लह वहुराउ।
इक्क जीह किम संथुणउ, भोलउ भत्ति सहाउ ॥२४॥
संनइ ते मन्नावि गुरु, उम्माइ उम्माइ सूरि।
जो जिणवल्लह पहु कहइ, गमइ उमग्गु सुदूरि ॥२५॥
इकि जिणवल्लह जाणीयइ, सव्वु मुणियइ धम्मु।
अनु सुहगुरु सवि मनियउ, तित्थु जि घरहिं सुहम्मु ॥२६॥
इय जिणवल्लह थुइ भणिय, सुणियइ करइ कल्लाणु।
देउ बोहि चउवीस जिण, सासइ सुखनिहाणु ॥२७॥
जिणवल्लह कमि जाणियउ, हिव मइ तासु सुसीसु।
जिणदत्तसूरि जुगपवरो, उद्धरियउ गुरुवंसो ॥२८॥
तिणि निय पइ पुण ठावियउ, बालउ सीहकिसोरु।
परमइ-मइगल-वलदलणु, जिणचंदसूरि मुणि सारु ॥२९॥
तसु सुपट्टि हिव गुरु जयउ, जिणपत्तिसूरि मुणिराउ।
जिणमय-विहि-उज्जोयकरु, दिणवर जिम विक्खाउ ॥३०॥
पारतंतु विहि विसयसुहु, वीरजिणेसर वयणु।
जिणवइसूरि गुरु हिव कहइ, निच्छइ अन्नु न कवणु ॥३१॥
धन्न ति पुरवर पट्टणइ, धन्न ति देस विचित्त।
जिहि विहरइ जिणवइ सुगुरु, देसण करइ पवित्त ॥३२॥

कवणु सु होमइ दिवसडउ, कवणु सु तिहि सुमुहुत्तु ।
जिहि वंदिसु जिणवइ सुगुरु, निसुणिसु धम्मह तत्तु ॥३३॥
सल्लुद्धारु करेसु हउं, पालिसु दिढु सम्मत्तु ।
नेमिचंदु इम वीनवइ, सुहगुरु-गुणगण-रत्तु ॥३४॥
नंदउ विहि-जिणमंदिरइं, नंदउ विहिसमु-दाउ ।
नंदउ जिणपत्तिसूरि गुरु, विहि-जिणधम्म पसाउ ॥३५॥

जिनवल्लभसूरि-स्तुत्यात्मक-पद्याः

१. मुनिचन्द्रसूरि [सं० ११७०]

कालोचियसमयपरसमयगयगम्मेण जिणवल्लहगणिणा ।

सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धारप्रकरण चूर्णि अवतरणिका

२. धनेश्वरसूरि [सं० ११७१]

सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिष्कपणकपपट्टकसन्निभप्रतिम श्रीजिनवल्लभाख्य' सूरि. ।

सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धारप्रकरण-टीका अवतरणिका

३. कवि पल्ह [सं० ११७१ लगभग]

देवसूरि पहु नेमिचदु बहुगुणिहिं पसिद्धउ,
उज्जोयणु तह बद्धमाणु खरतरवर लद्धउ ।
सुगुरु जिणेसरसूरि नियमि जिणचदु सुमजमि,
अभयदेउ सव्वगुनाणी जिणवल्लहु आगमि ॥

जिनदत्तसूरि-स्तुति पद्य ४.

४. हरिभद्रसूरि [सं० ११७२]

जिनवल्लभगणिनामा सूत्रकार ।

—षडशीति-टीका अवतरणिका

५. श्रीचन्द्रसूरि [११७८]

सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिष्कपणपट्टकसन्निभप्रतिभजिनवल्लभाभिधानाचार्य ।

पिण्डविशुद्धि-टीका

६. यशोभद्रसूरि [१२वीं शती का अन्तिम चरण]

क्वासौ श्रीजिनवल्लभस्य रचना सूक्ष्मार्थचर्चाञ्चिता,
क्वेय मे मतिरप्रिमाप्रणयिनी मुग्धत्व पृथ्वीभुज ।
पङ्गोम्तुङ्गनगाधिरोहणसुहृद्यत्नोयमार्यास्ततो-
ऽसद्ध्यानव्यसनार्णवे निपतत स्वान्तस्य पोतोऽपित ॥

षडशीति-टीका-मगलाचरण प० २

इति विविधविलसदर्थसुविशुद्धाहारमहितसाधुजनम् ।
श्रीजिनवल्लभरचित प्रकरणमेतन्न कस्य मुदे ? ॥
मादृश इह प्रकरणे महार्थपक्तौ विवेश बालोऽपि ।
यद्वृत्यङ्गुलिलग्नस्त श्रयत गुरु यशोदेवम् ॥

पिण्डविशुद्धि-दीपिका-प्रशस्ति:

७. अज्ञात—[जेसलमेर भाण्डागारीय ताडपत्रीय प्रति से, समय लगभग १३वीं शती]

दूसमदमनीरहरु दुसहमममग्गहमयहरु
हुडवसप्पिणिसप्पगरुड संजमसिरिकुलहरु।
निव्ववाइमयमत्तदंतिदारणपचाणणु,
गुरु-सावय-समणेस समण-आमेवण कारणु।
जुगपवरसूरि जिणवल्लहइ ह जो आणाकरु गणहरु।
सो सरहु म गुरु ससउ करहु जो भवियह भवभूग्गिहरु ॥१२॥
जसु सन्नाणु अमाणु मणह विप्फुरइ फुरतउ,
पर कवित्त सुकईत्तवय विरयइ जु तुरतउ।
जो निम्मलचारित्तरयणसचयरयणायरु,
मिच्छतिमिरतमहरणु तत्तपयडणदिवायरु।
भावारिमहीरुहमत्तकरि करणचरण संजम महिउ।
तहु वीरपद पय अणुसरहु समुण गणिहिं जे अविरहिउ ॥१३॥

— जिनदत्तसूरि स्तुति छप्पय १२–१३

८. कवि पद्मानन्द [१२वीं शती का अन्तिम चरण]

सिक्त श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरो शान्तोपदेशामृतै,
श्रीमन्नागपुरे चकार सदन श्रीनेमिनाथस्य य.।

— वैराग्यशतक

९. श्री मलयगिरि [१३वीं शती]

न चायमाचार्यो न श्लिष्ट ।

— षडशीति-टीका अवतरणिका

१०. जिनपतिसूरि [१३वीं शती का पूर्वार्द्ध]

क्वेमा श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरो सूक्ष्मार्थसारा गिर,
क्वाह तद्विवृतौ क्षम वलमजुषा दुर्मेधसामग्रणी।
छिद्वत्तद्विपदन्तभञ्जनभुजस्तम्भैजयश्री क्व नु,
प्राप्या सङ्करमूर्धनि व्यवसित क्लीव क्व तल्लिप्सया ॥२॥

— सङ्घपट्टक-टीका-मंगलाचरण

सूरि श्रीजिनवल्लभोऽजनि बुधश्चान्द्रे कुले तेजसा,
सम्पूर्णोऽभयदेवसूरिचरणाम्भोजालिलीलायित ।
चित्र राजसभानु यस्य कृतिना कर्णे सुधादुर्दिन,
तन्वाना विबुधेषु रोरपि कवे कैर्न स्तुता. सूक्तय ? ॥१॥
हित्वा वाङ्मयपारदृश्वतिलक य दीप्रलोकम्पृण,
प्रज्ञानामपि रञ्जयन्ति गुणिना चित्राणि चेतास्यहो।
सुण्टाक्यश्च्युततन्द्रचन्द्रमहसामघात्यविद्यामुप,
कैस्यानल्प मनोरमा. सकलदिक्कूलङ्कपा. कीर्तय ? ॥२॥

माधुर्यशार्करितशर्करया स्याद् य,
पीयूषवर्षमिव तर्कगिरा किरन्तम् ।
विद्यानुरक्तवनिताजनितास्यलास्य,
हित्वा परत्र न मनो विदुषामरस्त ॥३॥

सङ्घपट्टक-टीका-प्रशस्ति

तदनु समभूच्छिष्यस्तस्य प्रभुर्जिनवल्लभो,
जगति कवितागुम्फा यस्य द्रवद्रसमन्थरा ।
अनितरकविच्छायापत्या चमत्कृतिचुञ्चवो,
न हृदि मधुरा लग्ना कस्य स्मरस्य यथेषव ? ॥८॥

पञ्चलिङ्गीप्रकरण-टीका-प्रशस्ति

११. जिनपालोपाध्याय [१३वीं शती]

चित्र चित्र वितन्वन्नवरसरुचिर काव्यमन्यच्च भूय,
मर्व निर्दोषमह्नो-मुखमिव सगुणत्वेन पट्टाशुकश्रि ।
कान्तावत्कान्तवर्णं भरतनृपतिवच्चार्वलङ्कारसार,
चक्रे माघादिसूक्तेष्वनभिमुखमहो धीमता मानस य. ॥१०॥

सनत्कुमारचक्रि-चरितमहाकाव्य प्रशस्ति:

ततोऽजनि श्रीजिनवल्लभाख्य', सूरि सुविद्यावनिताप्रियोऽसौ ।
अद्यापि सुस्था रमते नितान्त, यत्कीर्त्तिहसी गुणिमानसेषु ॥५॥

—धर्मशिक्षा-टीका-प्रशस्ति:

शिष्योऽय स श्रीजिनवल्लभाख्यश्चैत्यासिन सूरिजिनेश्वरस्य ।
प्राप्य प्रसन्नोऽभयदेवसूरि, ततोऽग्रहीज्ज्ञानचरित्रचर्याम् ॥७॥

शुभगुरुपदसेवाऽऽप्तसिद्धान्तसारा
जगतिगलितचैत्यावासमिथ्यात्वभाव ।
गृहिगृहवसतिं स स्वीचकारातिशुद्धया
सुविहितपदवीवद्गाढसवेगरङ्ग ॥८॥

तथाऽस्य सविग्नशिरोमणेर्बुन्मन. प्रसन्न सकलेषु जन्तुषु ।
जिनानुकृत्या भुवन विबोधयत्, यथा न शश्राम महामना स्वयम् ॥९॥
धर्मोपदेशकुलकाङ्कितसारलेखै, श्राद्धेन चच्चुरधिया गणदेवनामा ।
प्राबोधयत्सकलवाग्जडदेशलोक, सूर्योऽरुणेन कमल किरणैरिव स्वै ॥१०॥

तानि द्वादशविस्तृतानि कुलकान्यम्भोधिवद् दुर्गमा–
न्यत्यन्त च गभीरभूरिसुपदान्युन्निद्रितार्थाणि च ।
व्याख्यातु य उपक्रम कृशधियाऽप्याधीयते मादृशे,
नारोढु तदमर्त्यशैलशिखर प्रागल्भ्यत पङ्गुना ॥११॥

एव श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरोश्चारित्रचूडामणे
र्भव्यप्राणिविबोधने रसिकता वीक्ष्याद्भुता शाश्वतीम् ।

आदेशाद् गुणविनयवाङ्कविवृतिप्रस्तावकस्यादरात्,
प्रादात् सूरिपदं मुदन्वितवपु श्रीदेवभद्रप्रभु ॥१२॥
द्वादशकुलक-टीका-मंगलाचरणम्

जयन्ति सन्देहलतासिधारा, श्रोत्रप्रमोदामृतवारिधारा. ।
सूरेर्गिर श्रीजिनवल्लभस्य, प्रहीणपुण्याङ्गिसुदुर्लभस्य ॥१॥
आसन्नत्र मुनीश्वरा. सुबहवश्चारित्रलक्ष्म्यास्पद,
स्तोका श्रीजिनवल्लभेन सदृशा निर्मीकवाग्विस्तरा. ।
संग्रामे गहनेऽपि भूरिसुभटश्रेण्या वरे भारते,
तुल्या श्रीजितवाजिना विजयिनो वीरा कियन्तोऽभवन् ॥२॥
द्वादशकुलक-टीका-प्रशस्तिः

१२. नेमिचन्द्र भण्डारी [१३वीं उत्तरार्ध]

अज्ज वि गुरुणो मुणिणो सुद्धा दीसंति तउयडा केइ ।
पर जिणवल्लह सरिसो, पुणो वि जिणवल्लहो चेव ॥१०७॥
वयणे वि सुगुरु जिणवल्लहस्स केसि न उल्लसइ सम्म ।
अह कह दिणमणितेय उलूयाण हरइ अवत्तं ॥१०८॥
दिट्ठा वि के वि गुरुणो हियए न रमति मुणिय तत्ताण ।
के वि पुण अदिट्ठ च्चिय, रमति जिणवल्लहो जेम ॥१२६॥
षष्टिशतक प्रकरण

१३. अभयदेव सूरि [सं० १२७८]

तच्छिष्यो जिनवल्लभ प्रभुरभूद् विश्वम्भरामामिनी
भास्वद्भालललामकोमलयश स्तोम शमारामभू. ।
यस्य श्रीनरवर्मभूपतिशिर कोटीररत्नाङ्कुर
ज्योतिर्जालजलैरपुष्यत सदा पादारविन्दद्वयी ।
काश्मीरानपहाय सन्ततहिमव्यासङ्गवैराग्यत,
प्रोन्मीलद् गुणसम्पदा परिचिते यस्यास्यपङ्केरुहे ।
सान्द्रामोदतरङ्गिता भगवती वाग्देवता तस्थुषी,
धारालामलभव्यकाव्यरचनाव्याजादनृत्यच्चिरम् ॥
—जयन्तविजय-काव्य प्रशस्तिः

१४. पूर्णभद्रगणि (सं० १२८५)

प्राग्भ्राजिनयदेवसूरिसुगुरो सिद्धान्ततत्त्वामृतं,
येनाज्ञायि न सङ्गतो जिनगृहे वासो यतीनामिति ।
स त्यक्त्वा गृहमेधिगेहिवसतिर्निर्दम्भपणा श्रिश्रिये,
सूरि श्रीजिनवल्लभोऽभवदसौ विख्यातकीर्त्तिस्तत ।
- धन्यशालिभद्रचरित्र-प्रशस्तिः

१५. उदयसिंहसूरि [सं० १२९५]

सुविहितहितमूत्रधार जयति जिनवल्लभो गणिर्येन ।
येन पिण्डविशुद्धिप्रकरणमकारि चारित्रभवनम् ।।

पिण्डविशुद्धिदीपिका-मगलाचरण प० २.

१६. चित्रकूट वास्तव्य सा. सल्हाक लिखित प्रति (सं. १२९५)

"चारित्रचूडामणिश्रीजिनवल्लभसूरि ....."।

१७. पूर्णकलशगणि (सं.१३०७)

तस्मिन् सोऽभयदेवसूरिरभवत् क्लृप्ताङ्गवृत्तिस्ततः,
सविग्नो जिनवल्लभो युगवरो विद्यालिताराऽम्बरम् ।

प्राकृतद्व्याश्रय-टीका प्रशस्ति प २

१८. अभयतिलकोपाध्याय (सं. १३१२)

तच्छिष्यो जिनवल्लभो गुरुरभोच्चारित्रपाविश्रुत,
सारोद्धारसमुच्चयो नु निखिलश्रीतीर्थसार्थस्य य ।
सिद्धाकर्पणमन्त्रकोन्वखिलसद्विद्याभिरालिङ्गनात्,
कीर्त्या सर्वगया प्रसाधितनमोयानाद्रयविद्यो ध्रुवम् ।

सस्कृत-द्व्याश्रय टीका प्रशस्ति प ४

जज्ञे तदीयपदवीनलिनीमराल, स्वेभ्यश्चरित्ररमया जिनवल्लभाख्य ।

—न्यायालकार-टीका प्रशस्ति

१९. चन्द्रतिलकोपाध्याय (सं. १३१२)

श्रीजिनवल्लभसूरिस्तत्पट्टेऽभूद् विमुक्तबहुभूरि ।
भव्यजनबोधकारी कल्मपहारी सदोद्यतविहारी ।।
तर्क-ज्योतिरलङ्कृतीर्निजपरानेकागमाल्लक्षण,
यो वेत्ति स्म सुनिश्चित सुविहितश्चारित्रिचूडामणि ।।
नानावाग्जडमुख्यकान् जनपदान् श्रीचित्रकूटस्थिता,
चामुण्डामपि देवता गुणनिधिर्यो बोधयामासि वा ।।

—अभयकुमार-चरित्र-प्रशस्ति प १०-११

२०. लक्ष्मीतिलकोपाध्याय (सं. १३१७)

विद्वत्ताऽतिशयर्द्धि सयमरमात्रैमातुर सर्वतो,
वक्त्रो यस्य यश कुमार उदित श्रीतारकाधीश्वरम् ।
चित्र न्यक्कृतवास्त्रिलोकमपि च प्रासाघयल्लीलया,
तीर्थं श्रीजिनवल्लभो गणपति शास्ति स्म सोऽय तत ।।

श्रावकधर्म-टीका प्रशस्ति प ४

२१. प्रबोधचन्द्रगणि (सं. १३२०)

विद्या मा भवताकुला जननि ! वाग्देवि ! त्वमाश्वासयं
ता धातस्त्वमिमा प्रबोधय गिर ब्रह्मन् ! स्वय मा मुह. ।
आसीनोऽभयदेवसूरिमुनिराट्-पट्टे जगद्वल्लभ.,
सूरि: श्रीजिनवल्लभ स्तेवरसतं सिद्ध तवैवेप्सितम् ॥

—संदेहदोलावलि-टीका प्रशस्ति प० ५

२२. धर्मतिलकगणि (सं. १३२२)

वर्णनातिक्रान्तानुपममागधेया सुगृहीतनामधेया. सकललोकसश्लाघ्यमहार्घ्य-विमलगुण-मणिश्रेणय: संविग्नमुनिजनव्रातचूडामणय स्वप्रज्ञातिशयविशेषविनिर्जितामरसूरय. श्रीजिनवल्लभसूरय. ।

लघुअजितशान्तिस्तव-टीका-अवतरणिका

२३. सद्धपुर जिनालयशिलालेख (सं १३२६)

अपमलगुणग्रामोऽमुष्मादबीतजिनागमः,
प्रवचनधुराधौरेयोऽभूद् गुर्जिनवल्लभः ।
सकलविलसद्विद्यावल्लीफलावलिविभ्रम,
प्रकरणगणो यस्यास्येन्दो सुधा विसृतेतराम् ॥१०१॥
सम्यक्त्वबोधचरणैस्त्रिजगज्जनौघ-चेतोहरैर्वरगुणैः परिरब्धगात्रम् ।
य वीक्ष्य निस्पृहशिखामणिनार्यलोक. सस्मार सप्रमदमार्यमहागिरीणाम् ॥१०२॥

— बीजापुर-वृत्तान्त पृ ४

२४. जिनप्रबोधसूरि. (सं. १३२८)

चान्द्रे कुलेऽजनि गुर्जिनवल्लभाख्यो ।
ऽर्हच्छासनप्रथयिताऽद्भुतकृच्चरित्र ।

कातन्त्रदुर्गपदप्रबोध

२५. जगड्डु कवि (सं. १२७८-१३३१)

धन्नु सु जिणवल्लहु वक्खाणि, नाण-रयणकेरी छइ खाणि ।
बईतालीस सुद्ध पिण्ड विहरेइ, त्रिविधु मदिरु जगि प्रगटु करेइ ॥

सम्यक्त्वमाई चउपई गा ४३

२६. प्रभानन्दाचार्य (सं.१३३५)

तस्मान्मुनीन्दुर्जिनवल्लभोऽस्य, तथा प्रथाभाप निजैर्गुणौघै. ।
विपश्चिता संयमिता गणे च, धुरीणता तस्य यथाऽधुनापि ॥

ऋषभपंचाशिका टीका

२७. ठक्कुर फेरू [सं० १३४७]

नदि-न्हवणु-बलि-रहु-सुपइट्ठु, तालारासु पुवइ मुणिसिट्ठु ।
निसि जिणहरि जिणि वारिय पविहि, सुणहु सु जिणवल्लहसूरि सुविहि ॥१७॥

युगप्रधान चतुष्पदिका

२८. जिनप्रभसूरि [सं० १३५६]

वंशे श्रीजिनवल्लभव्रतिपतेः शुभ्रैर्यशोभिर्दिशः ।

द्व्याश्रय-काव्य-प्रशस्ति प० २

२९. सोमतिलकसूरि [सं० १३९२]

संविग्नचूडामणयो न केषां, स्युर्वल्लभा श्रीजिनवल्लभास्ते ।
मूर्त्तोऽपि यद्गीर्भिर्विनाममूर्त्त-मात्मानमुत्तुङ्गगुणे ससज्ज ॥३॥

—शीलतरङ्गिणी-प्रशस्तिः

३०. तरुणप्रभसूरि [सं० १४११]

तदीयपादद्वयपद्मसेवा-मधुव्रतं श्रीजिनवल्लभोऽभूत् ।
यदङ्गरङ्गे व्रतनर्तकेन, किं नृत्यता कीर्तिधनं न लेभे ॥३॥

—षडावश्यक-बालावबोध-प्रशस्ति

३१. भुवनहिताचार्य [सं० १४१२]

...... जिनवल्लभ ... ... आज्ञावल्लभो ... प्रिय ।

यदीयगुणगौरवं श्रुतिपुटेन सुधोपमं निपीय ।
शिरसोऽधुनापि कुरुते न कस्ताण्डवम् ? ॥२०॥

—राजगृह प्रशस्ति, नाहर जैन लेख सग्रह प्रथम भाग

३२. सङ्घतिलकसूरि [सं० १४२२]

तत्पट्टपूर्वाचलचूलिकायां, भास्वानिव श्रीजिनवल्लभाख्य ।
सच्चक्रसम्बोधनसावधान-बुद्धि प्रसिद्धो गुरुमुख्य आसीत् ॥३॥

—सम्यक्त्वसप्तति-टीका प्रशस्ति.

३३. देवेन्द्रसूरि [सं० १४२९]

तदनु जिनवल्लभाख्य प्रख्यात समयकनककषपट्ट ।
यत्प्रतिबोधनपटहोऽधुनापि दन्ध्वन्यते जगति ॥५॥

—प्रश्नोत्तररत्नमाला टीका-प्रशस्ति

३४. वर्द्धमानसूरि [सं० १४६८]

श्राद्धप्रबोधप्रवणस्तत्पट्टे जिनवल्लभ ।
सूरिर्वल्लभतां भेजे त्रिदशानां नृणामपि ॥१४॥

— आचारदिनकर-प्रशस्ति

३५. जेसलमेर सम्भवजिनालय-प्रशस्ति-शिलालेख—[सं०१४९७]

तत क्रमेण श्रीजिनचन्द्रसूरि-नवाङ्गीवृत्तिकार-श्रीस्तम्भन-पार्श्वनाथ-प्रकटीकार-श्रीअभयदेवसूरि-श्रीपिण्डविशुद्ध्यादिप्रकरणकार-श्रीजिनवल्लभसूरि ... ...।

३६. गुणरत्नोपाध्याय [सं०१५०१]

य स्फुर्जत्कलिकालकुण्डलिकरालाऽऽस्यस्थिते दुःस्थिते,
लोकेऽस्मिन्नवधूयकुग्रहविषं सिद्धान्तमन्त्राक्षरैः ।
चक्रे तन्मुखमुद्रया वसुकृते सज्जं स्वमेत्यावर,
स श्रीमान् जिनवल्लभोऽजनि गुरुस्तस्मान्महामन्त्रवित् ॥६॥

—षष्टिशतक-टीका-प्रशस्ति

३७. जयसागरोपाध्याय [सं० १५०३]

श्रीवीरशासनाम्भोविसमुल्लासनशीतगो ।
सूरेरभयदेवस्य नवाङ्गीवृत्तिवेघस ॥
पट्टालङ्कारसारश्री सूरि श्रीजिनवल्लभ ॥

पृथ्वीचन्द्रचरित्र-प्रशस्ति प० २-३

३८. महेश्वर कवि [सं० १५०४]

एतत्कुले श्रीजिनवल्लभाख्यो गुरु

—काव्यमनोहर सर्ग ७, प० ३५

३९. लक्ष्मीसेन [सं० १५१३]

क्व जिनवल्लभसूरि सरस्वती, क्व च शिशोर्मम वाग्विभवोदय. ।

—सङ्घपट्टक टीका मंगलाचरण प० १

४०. साधुसोमोपाध्याय [सं० १५१९]

जिनवल्लभसूरीन्द्रसूक्तिमौक्तिकपङ्क्तय ।
दर्शितार्थ सुदृष्टीना सुखग्राह्या भवन्त्विति ॥६॥

चरित्र-पञ्चकवृत्ति-प्रशस्ति

४१. कमलसंयमोपाध्याय [सं० १५४४]

विचारवद्वाड्मयवारधाता, गुर्णारीयान् जिनवल्लभोऽभूत् ।
सूत्रोक्तमार्गाचरणोपदेश-प्रावीण्यपात्र न हि यादृशोऽन्य ॥४॥

—उत्तराध्ययन सूत्र 'सर्वार्थसिद्धि' टीका-प्रशस्ति.

४२. पद्ममन्दिर गणि [सं० १५५३]

प्राप्तोपसम्पद्विभवस्तदन्ते, द्विधाऽपि सूरिर्जिनवल्लभोऽभूत् ।
जग्रन्थ यो ग्रन्थमनर्थसार्थ-प्रमाथिन तीव्रक्रियाकठोर ॥७॥

—ऋषिमण्डल-वृत्ति-प्रशस्ति.

४३. युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि [सं० १६१७]

तत्पट्टपद्मवनवोधनराजहंसा ,
विश्वातिशायिचरणामलशीलहसा ।
चारित्रचारुमनसो विहितोपकारा.,
सप्रातिहार्य-जिनवल्लभनामधारा ॥६॥
चामुण्डाप्रतिवोधका निजगुणै श्रीचित्रकूटे स्फुट,
मूलोन्मूलितकुग्रहोग्रफलिना सत्साधुमार्गादरा ।
मिथ्यात्वान्धतमोनिरासरवय: प्रख्यातसत्कीर्तय'
पूज्यश्रीजिनवल्लभाख्यगुरवस्ते सङ्घभद्रङ्करा. ॥७॥

पौषधविधिप्रकरण-टीका-प्रशस्ति'

४४. महोपाध्याय पुण्यसागर [सं० १६४०]

स जयताज्जगति जनवल्लभ:, परहितैकपरो जिनवल्लभ ।
चतुरचेतसि यस्य चमत्कृति, रचयतीह चिर रुचिर वच ॥२॥

—प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्य-टीका-मंगलाचरण

४५. अज्ञात [लेखन सं. १६४०]

विमलप्रज्ञाशालिवुधजनितानवद्यविद्याधरीसङ्गमोन्मुखप्रवृत्तेन तेनैव श्रुतमकरन्द-स्वादलुब्ध यद् पदैनैवानवरतासेव्यमानचरणारविन्द आसीज्जिनवल्लभाभिधान: सूरि ।

प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्यावचूरि-अवतरणिका

४६. समयसुन्दरोपाध्याय [सं. १६४६]

कृत्वा समीपेऽभयदेवसूरिं, येनोपसम्पद्ग्रहण प्रमोदात् ।
पपौ रहस्यामृतमागमाना, सूरिस्तत श्रीजिनवल्लभोऽभूत् ॥११॥

अष्टलक्षार्थी प्रशस्ति

४७. जयसोमोपाध्याय [सं. १६५०]

श्रीजिनवल्लभसूरिस्ततोऽभवद् व्रतधुरैकधौरेय ।
चण्डाऽपि हि चामुण्डा यत्सान्निध्यादचण्डाभूत् ॥५०८॥

कर्मचन्द्रवंशोत्कीर्तन-काव्य

४८. गुणविनयोपाध्याय [सं. १६५१]

सोऽभूदभयदेवाख्य: सूरि श्रीजिनवल्लभ ।
ज्ञानदर्शनचारित्रपात्र भेजे ततो भृशम् ॥७॥
येन चण्डापि चामुण्डा दर्शन प्रापिता गुणे ।
कर्ता पिण्डविशुद्ध्यादि-शास्त्राणा तत्वशालिनाम् ॥८॥

— सम्बोधसप्तति-टीका-प्रशस्ति

४९. ज्ञानविमलोपाध्याय [सं. १६५४]

तत्पट्टे च विरेजु: कर्मग्रन्थादिशास्त्रकर्तार ।
वैराग्यैकनिधाना श्रीमज्जिनवल्लभाचार्या ॥३॥

शब्दभेदप्रकाश-टीका-प्रशस्ति:

५०. श्रीवल्लभोपाध्याय [सं० १६५४]

तत्पट्टे जिनवल्लभसूरिवरा सर्वशास्त्रपारीणा ॥२॥

— हैमनाममालाशिलोञ्छ टीका-प्रशस्ति.

५१. सुमतिवर्द्धनोपाध्याय–[सं० १८७४]

सत्प्रज्ञा हि जिनादिवल्लभगणाधीशा जगद्विश्रुता-
श्चामुण्डाभिधदेवताऽर्चितपदा आशुर्जिताक्षव्रजा ॥५॥

—समरादित्यकेवलीचरित्र-प्रशस्ति:

सहायक ग्रन्थों की तालिका :

क्रमांक	नाम	लेखक
१	अजितशान्तिस्तवे टीका	वाचनाचार्य धर्मतिलक
२	अपभ्रंश काव्यत्रयी	सं लालचंद्र भ० गांधी
३	अभयकुमार चरित	चन्द्रतिलकोपाध्याय
४	अरजिन स्तव	सं० म० विनयसागर
५	अष्टलक्षार्थी	उपाध्याय समयसुंदर
६	अष्टसप्ततिका	जिनवल्लभसूरि
७	आगमिक वस्तुविचारसार प्र० टीका	मलयगिरि
८	" "	यशोभद्रसूरि
९	" "	हरिभद्रसूरि
१०	आचार दिनकर	वर्धमानसूरि
११	आचारांग सूत्र	
१२	आचारांग सूत्र टीका	शीलांकाचार्य
१३	आचारांग सूत्र बालावबोध	पार्श्वचन्द्रसूरि
१४	आवश्यक सूत्र बृहद् वृत्ति	हरिभद्रसूरि
१५	इतिहास प्रवेश	जयचन्द्र विद्यालंकार
१६	उत्तराध्ययन सूत्र टीका	कमलसंयमोपाध्याय
१७	उपदेश सप्ततिका	
१८	ऋषभ पंचाशिका टीका	प्रभाचन्द्राचार्य
१९	ऋषिमंडल टीका	पद्ममंदिरगणि
२०	कथाकोष	सं आचार्य जिनविजय
२१	कर्मग्रन्थ शतक स्वोपज्ञ टीका	देवेन्द्रसूरि
२२	कल्पसूत्र	आचार्य भद्रबाहु
२३	कल्पसूत्र टीका	उदयसागर
२४	" "	माणिक्यऋषि
२५	" "	
२६	कल्पावचूरिका	कुलमंडनसूरि
२७	कल्पकिरणावली	उ धर्मसागर
२८	कल्पटिप्पन	पृथ्वीचन्द्रसूरि
२९	कल्पदीपिका	जयविजय
३०	कल्पनिरुक्त	विनयचन्द्रसूरि
३१	कल्पसूत्र बालावबोध	गणपति
३२	कल्पान्तर्वाच्य	सोमसुंदरसूरि

३३	कल्पान्तर्वाच्य	हेमहंससूरि
३४	,,	जयचन्द्रसूरि
३५	,, स्तवक	शान्ति विजय
३६	कातन्त्र-दुर्गपद-प्रबोध	जिनप्रबोधसूरि
३७	काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट
३८	काव्य-मनोहर	महेश्वर कवि
३९	काव्य-मीमांसा	राजशेखर
४०	कुमार-संभव-टीका	चारित्रवर्धन
४१	खरतरगच्छालंकार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली	जिनपालोपाध्याय
४२	गणधर सार्द्ध शतक	जिनदत्तसूरि
४३	,, बृहद्वृत्ति	सुमतिगणि
४४	गुरुतत्त्वप्रदीप	यशोविजय
४५	गुरुपारतन्त्र्य स्तोत्र	जिनदत्तसूरि
४६	चर्चरी	,,
४७	,, टीका	जिनपालोपाध्याय
४८	चरित्रपंचक टीका	उ० साधुसोम
४९	जइतपदवेली	कनकसोम
५०	जयदामन्	प्रो. एच डी वेल्हणकर
५१	जयन्त विजय काव्य	रुद्र अभयदेव सूरि
५२	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र	
५३	,, टीका	शान्तिचन्द्रगणि
५४	जिनचन्द्रसूरि आदेशपत्र	
५५	जिनरत्नकोश	प्रो एच. डी. वेल्हणकर
५६	जीवाभिगम सूत्र टीका	मलयगिरि
५७	जैन ग्रन्थावली	
५८	जैन लेखसंग्रह	पूरणचन्द्र नाहर
५९	जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास	मोहनलाल द देशाई
६०	त्रिदशतरंगिणी गुर्वावली	मुनिसुंदरसूरि
६१	त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र	हेमचन्द्राचार्य
६२	द्वादश कुलक टीका	जिनपालोपाध्याय
६३	द्व्याश्रय काव्य	जिनप्रभसूरि
६४	,, टीका (प्राकृत)	पूर्णकलश
६५	द्व्याश्रय काव्य टीका (संस्कृत)	अभयतिलकोपाध्याय
६६	धन्य-शालिभद्र चरित्र	पूर्णभद्र गणि
६७	नागरीप्रचारिणी पत्रिका	
६८	नैषधकाव्य टीका	चारित्रवर्धन

६९	पट्टावली	कवि पल्ह
७०	पंचाशक	हरिभद्रसूरि
७१	,, टीका	अभयदेवसूरि
७२	पंचलिंगी प्रकरण टीका	जिनपतिसूरि
७३	प्रज्ञापना सूत्र टीका	मलयगिरि
७४	प्रतिष्ठा लेख संग्रह	उपाध्याय विनयसागर
७५	प्रबन्ध-चिन्तामणि	स. आचार्य जिनविजय
७६	प्रभावक चरित	,, ,,
७७	प्रवचन परीक्षा	उपाध्याय धर्मसागर
७८	प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत	जिनवल्लभसूरि
७९	,, अवचूरि	सोमसुन्दरसूरि शिष्य
८०	,, टीका	महोपाध्याय पुण्यसागर
८१	प्रश्नोत्तर-रत्नमाला टीका	देवेन्द्रसूरि
८२	पिण्डविशुद्धि टीका	उदयसिंहसूरि
८३	,, ,,	श्रीचन्द्रसूरि
८४	,, प्रस्तावना	मानविजय
८५	पुरातत्व-प्रबन्ध-संग्रह	स. आचार्य जिनविजय
८६	पृथ्वीचन्द्र चरित्र	उपाध्याय जयसागर
८७	पृथ्वीराज विजय काव्य	
८८	पौषधविधिप्रकरण टीका	युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि
८९	बीजापुर वृत्तान्त	
९०	बृहत्संग्रहणी	
९१	भगवतीसूत्र टीका	अभयदेवाचार्य
९२	भारत का इतिहास	डा० ईश्वरीप्रसाद
९३	भारत के प्राचीन राजवंश	महामहोपाध्याय विश्वेश्वरनाथ रेउ
९४	भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास	लूनिया
९५	भारत की संस्कृति का इतिहास	डा० मथुरालाल शर्मा
९६	भावारिवारणपादपूर्त्यादि स्तोत्र संग्रह	स० मुनि विनयसागर
९७	युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि	अगरचन्द्र-भंवरलाल नाहटा
९८	युगप्रधान जिनदत्तसूरि	अगरचन्द्र-भंवरलाल नाहटा
९९	युगप्रधान चतुष्पदिका	ठ फेरु
१००	रघुवंश टीका	चारित्रवर्द्धन
१०१	राजपूताने का इतिहास	गौरीशंकर ही ओझा
१०२	राजगृह प्रशस्ति	भुवनहितोपाध्याय
१०३	वर्धमान विद्याकल्प	मेरुतुंगसूरि
१०४	विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह	स. आचार्य जिनविजय

१०५	विविध तीर्थकल्प	सं. आचार्य जिनविजय
१०६	वैराग्य शतक	कवि पद्मानंद
१०७	शब्दप्रभेद टीका	उपाध्याय ज्ञानविमल
१०८	शिशुपालवध टीका	चारित्रवर्धन
१०९	शिलोञ्छनाममाला टीका	उपाध्याय श्रीवल्लभ
११०	शीलतरंगिणी	सोमतिलकसूरि
१११	श्रावकव्रत कुलक	जिनवल्लभसूरि
११२	श्रावकधर्मप्रकरण टीका	उपाध्याय लक्ष्मीतिलक
११३	षष्टिशतक टीका	सोमसुन्दरसूरि
११४	,, ,,	उपाध्याय गुणरत्न
११५	षष्टिशतक प्रकरण त्रय	स डा भोगीलाल ज साडेसरा
११६	षट् कल्याणक निर्णय	जिनमणिसागरसूरि
११७	षडावश्यक बालावबोध	तरुणप्रभाचार्य
११८	स्थानांग सूत्र टीका	अभयदेवाचार्य
११९	सनत्कुमार चरित महाकाव्य	जिनपालोपाध्याय
१२०	समरादित्य केवली चरित्र	उपाध्याय सुमतिवर्धन
१२१	समवायांग सूत्र टीका	अभयदेवसूरि
१२२	सरस्वती कंठाभरण	महाराजा भोज
१२३	सिंदूर प्रकरणटीका	चारित्रवर्धन
१२४	संघपट्टक टीका	जिनपतिसूरि
१२५	,, ,,	लक्ष्मीसेन
१२६	संदेहदोलावली टीका	प्रबोधचन्द्र गणि
१२७	संबोध प्रकरण	हरिभद्रसूरि
१२८	संबोध सप्तति टीका	उपाध्याय गुणविनय
१२९	संवेगरंगशाला	जिनचंद्रसूरि
१३०	साधुकीर्ति स्वर्गगमनगीत	जयनिधान
१३१	सुलसा चरित्र	जयतिलकसूरि
१३२	सूक्ष्मार्थविचार सारोद्धार चूर्णि	मुनिचन्द्राचार्य
१३३	,, टीका	धनेश्वराचार्य
१३४	,, प्रस्तावना	विजयप्रेमसूरि
१३५	सेनप्रश्न	सोमविजय
१३६	सोलंकियों का प्राचीन इतिहास	
१३७	स्वप्नसप्तति	जिनवल्लभसूरि

महोपाध्याय विनयसागर

द्वारा लिखित एवं सम्पादित अन्य पुस्तकें

१. सनत्कुमारचक्रिचरित्र महाकाव्य
२ वृत्तमौक्तिक
३. संघपति रूप जी वंश-प्रशस्ति
४. अरजिन स्तव
५. नेमिदूत
६ प्रतिष्ठा लेख संग्रह प्रथम भाग
७. खरतर गच्छ का इतिहास
८. महोपाध्याय समयसुन्दर
९. हैमनाममालाशिलोञ्छ सटीक
१०. चतुर्विंशति जिन स्तुतय.
११. चतुर्विंशति-जिन स्तवनानि
१२. भावारिवारण पादपूर्त्यादि स्तोत्र संग्रह
१३. महावीर षट् कल्याणक पूजा
१४. खण्ड प्रशस्ति टीका द्वय सह
१५. शासनप्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य
१६. खरतरगच्छ साहित्य-सूची